कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

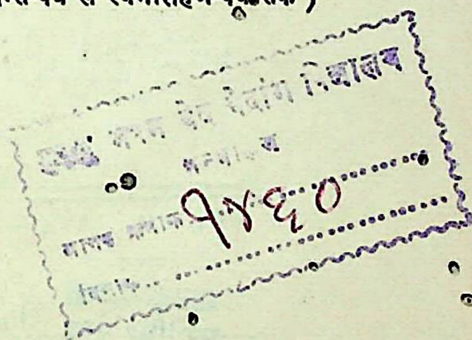
सत्साहित्य-प्रकाशन

भारत सावित्री

—महाभारत का एक नवीन एवं सारगर्भित अध्ययन—

खण्ड ३

(शान्ति-पर्व से स्वर्गारोहण-पर्व तक)



वासुदेवशरण अग्रवाल

१९६८

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९६८
मूल्य
छः रुपये
संशोधित मूल्य 12

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
वाराणसी

प्रकाशकीय

'भारत सावित्री' का यह तीसरा और अन्तिम खण्ड प्रकाशित करते हुए जहां हमें हर्ष होता है, वहां दुख भी। हर्ष इसलिए कि यह पुस्तक-माला पूर्ण हो रही है और अब इन पुस्तकों द्वारा पाठक सम्पूर्ण महाभारत के अध्ययन की आधार-भूत सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। दुख इसलिए कि इस पुस्तक-माला के विद्वान् लेखक अब इस संसार में नहीं हैं। तीसरे खण्ड की पाण्डुलिपि उन्होंने अपनी रुग्णावस्था में तैयार करके हमारे पास भेज दी थी, लेकिन उसके तत्काल बाद ही उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गई। आज जब यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है, हमें बार-बार उनका स्मरण हो रहा है। हम उनकी स्मृति को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

महाभारत ज्ञान का भण्डार है। उसमें विचार-रत्नों की खान है। उसका सारगर्भित अध्ययन पाठकों को 'भारत सावित्री' के इन तीनों खण्डों में मिल जाता है। पहले खण्ड में महाभारत के आदि-पर्व से विराट-पर्व तक का सार आ गया है, दूसरे में उद्योग-पर्व से स्त्री-पर्व तक का और इस अंतिम खण्ड में शांति-पर्व से स्वर्गारोहण-पर्व तक का।

हिन्दी में यह अपने ढंग का पहला प्रकाशन है। इसकी सामग्री न केवल रोचक है, अपितु अधिकारी व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत की जाने के कारण प्रामाणिक भी। यह पाठकों को महाभारत के सूक्ष्म अध्ययन के लिए नई प्रेरणा देती है।

हमें विश्वास है कि इस ग्रंथ का अध्ययन पाठकों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा।

—मंत्री

भूमिका

'भारत सावित्री' नाम से महाभारत की एक सांस्कृतिक व्याख्या लिखने का संकल्प मैंने लगभग दस वर्ष पूर्व किया था। इस अध्ययन को तीन खंडों में समाप्त करने की मेरी योजना थी। तदनुसार पहला खंड आदि, सभा, आरण्यक और विराट पर्व की व्याख्या के रूप में सन् १९५७ में प्रकाशित हुआ। फिर दूसरा खंड उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक तथा स्त्रीपर्व की व्याख्या के रूप में सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ। [illegible] दो वर्ष बाद ज्येष्ठ पूर्णिमा को इसका तीसरा खंड समाप्त कर सका। अब इस तीसरे खण्ड में शेष सात पर्वों की व्याख्या पूरी होगी। उनके नाम, अध्यायों और श्लोकों की संख्या इस प्रकार है :

क्र० सं०	अध्याय	श्लोक
१२. शान्ति पर्व	३३९ अ	१४५२५
१३. अनुशासन पर्व	१४६	६७००
१४. आश्वमेधिक पर्व	१३३	३३२०
१५. आश्रमवासिक पर्व	४२	१५०६
१६. मौसल पर्व	८	३००
१७. महाप्रस्थानिक पर्व	३	१२०
१८. स्वर्गारोहण पर्व	५	२००
योग	६७६	२६६७१

ऊपर की संख्याएँ पूना के संशोधित संस्करण के अनुसार हैं। इस प्रकार महाभारत के लगभग एक-तिहाई अंश का व्याख्यासार यहाँ रहेगा।

इन वर्षों में मैंने अपने स्वास्थ्य के कारण बहुत कष्ट पाया। कभी तो मनस्तत्त्व ने शरीर का साथ निभाने से मुझे शंकाशील बना दिया। पर सौभाग्य

से मेरा चिंतन और लेखन-कार्य रुका नहीं। लगता है, मेरे पूर्व जन्म की ब्रह्मशक्ति मुझे इस मार्ग पर आगे बढ़ाती रही और पंचभूत अहंकार एवं महत् तत्व का यह शकट आगे बढ़ने की प्रेरणा पाता रहा। मेरे डाक्टर मित्र ने मुझसे कहा—"तुम अपना धंधा मत छोड़ो। तुम्हें इसी मार्ग से बराबर स्वास्थ्य की तरंगें मिलती रहेंगी।" इसे वह ऑकूपेशनल थिरैपी अर्थात् धंधा करते हुए स्वास्थ्य साधन की प्रक्रिया कहते हैं। यह नाम बड़ा सुंदर है और मैंने जबसे इसे सुना है, यह मेरे मन में घर कर गया है। इसमें बहुत अधिक सत्यांश है। इसका मैं स्वयं अनुभवी हूँ। आज मुझे संतोष है कि 'भारत सावित्री' का यह तीसरा खंड मैं समाप्त कर पाया।

जिन पाठकों ने इस ग्रंथ को देखा है, उन्होंने महाभारत में भरे हुए गंभीर दार्शनिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक अर्थों के प्रति अपनी प्रसन्नता प्रकट की है। मुझे स्वयं भी पहले अनुमान न था कि अर्थों के ऐसे स्वच्छ मानसरोवर इस संहिता में भरे हुए हैं। मुझसे जो बन पड़ा, उतना अर्थोद्धार मैंने लिखवाया है। अधिक मैं नहीं कर सका, इसके लिए पाठकों से सांजलि क्षमा याचना करता हूँ। किसी समय सासानी धर्म के संबंध में मैंने जो सामग्री एकत्र की थी और ग्रंथों में निशान लगाकर रख दी थी, उसका पूरा उपयोग करने से अब मैं वंचित रह गया। इस पर पूरा प्रकाश डालने के लिए सासानी धर्म की पहलवी भाषा में अच्छी जानकारी होनी चाहिए। वे पुस्तकें तो मेरे पास थीं, किन्तु अपनी नेत्र-शक्ति कम होने के कारण मैं उनसे लाभ न उठा सका। अब मेरी नम्र प्रार्थना है कि पहलवी भाषा और संस्कृत भाषा के कोई सुलझे विद्वान्, नारायणीय पर्व के तुलनात्मक अध्ययन को और आगे ले चलें। यह प्रकरण कुछ छोटा नहीं है। इसमें लगभग एक सहस्र श्लोक हैं और एक बात को कई बार कहा गया है। नारदजी ने श्वेतद्वीप में क्या सीखा और वहाँ अहुरमज्द या देव हरिमेधस धर्म के विषय में उन्हें क्या बताया गया, इसका लंबा वर्णन कई बार संस्कृत के श्लोकों में आया है, पर मैं उसके पार न पा सका। देव हरि-मेधस, सप्त चित्र शिखंडिन् मुनि या अमेसस्पन्द, ऋता या वसुस्वती या

असबहिश्त मर्यादा, २१ यजत, चन्द्रवर्चस पुरुष, फेनपान करने वाले फेनपाचार्य, सूक्त, सुमत और सुकर्म के ईरानी सिद्धांत एवं कई अन्य परिभाषाएं स्पष्टता से मेरे सामने आई हैं और मैंने उनकी व्याख्या का प्रयत्न किया। किन्तु मेरा अमुमान है कि और भी अनेक परिभाषाएं नारायणीय पर्व में छिपी हैं। सासानी और भागवत धर्म का यह समन्वयात्मक प्रयत्न किस समय हुआ होगा, इस विषय में कुछ संभव अनुमान लगाया जा सकता है। हमें भारतीय इतिहास से पक्का पता है कि कनिष्क के राज्यकाल में बहुत से ईरानी देवताओं के नाम सिक्कों पर आ गए। यह घटना कुछ छोटी न थी, किन्तु धार्मिक जगत में कुछ सोचकर ही इस प्रकार का निर्णय लिया गया होगा। निश्चय है कि कनिष्क जैसे महान मस्तिष्क ने इस प्रकार का लोकप्रिय निश्चय लिया, जिसका प्रचार घर-घर में हो गया। राजाओं के महलों और रंकों की झोपड़ी में, गांवों और नगरों में, राजकीय सिक्कों का प्रचार देखा जाता है। प्रथम शती ई० सन् ७८ से लेकर १७८ के वीच में हम इस प्रकार के धार्मिक आंदोलन की कल्पना कर सकते हैं, जब कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव नामक कुषाण सम्राटों ने राज्य किया। वासुदेव विशेषत: भागवत धर्म के अनुरागी थे। उनके राज्य के अंत में महान् कुषाण सम्राज्य का अन्त हो गया। उसके बाद हमें एक ऐसे राजा के सिक्के मिलते हैं, जिन पर एक ओर राजा की मूर्ति के साथ वसु नाम अंकित है। ऐतिहासिक कहते हैं कि यह कोई ऐसा राजा था, जिसने पंजाव से लेकर गंधार या काबुल नदी के क्षेत्र में शासन किया। इन्हीं सिक्कों में से कुछ पर वसु नाम के साथ होर्मज्द सासानी राजा का नाम भी आया है। वहुत संभव है कि इस अनुकूल परिस्थिति में नारायणीय पर्व की यह सामग्री लिपिवद्ध की गई हो। इसकी भूमिका तो पहले से वन रही थी, किन्तु उसका पर्यवसान ईसवी तीसरी शती के आरंभ में हुआ हो। संयोग से वसु राजा का नाम नारायणीय पर्व में बड़े जोर से लिया गया है और यह कहा गया है कि उसने अहिंसक यज्ञों की वात चलाई। यह इतिहास का धुंधला विषय है और संभव है कि सिक्कों की साक्षी

और महाभारत की साक्षी के पीछे कोई ऐतिहासिक तथ्य रहा हो। यह तो निश्चय है कि भागवतों के नारायणीय धर्म और देव हरिमेघस के धर्म को बहुत निकट से जाननेवाले किसी प्रतिभाशाली लेखक ने इस सामग्री को श्लोकबद्ध किया। हो सकता है कि जो अर्थ आज मैं नहीं देख सका हूं, उसे कल का कोई अन्वेषणशील विद्वान् अधिक स्पष्टता से देख सके।

शांति-पर्व के राजधर्म-पर्व और आपद्धर्म-पर्व की सामग्री में छान-बीन की अपेक्षा है। इसमें प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का सूक्ष्म विवेचन है और उसके अर्थानुसंधान के लिए बहुत धैर्य की आवश्यकता है। विशेषतः चाणक्य-कृत अर्थशास्त्र और मानव-धर्मशास्त्र इन दो ग्रंथों की सामग्री को शांति-पर्व के साथ मिलाकर देखना होगा। मोक्षधर्म-पर्व के लगभग डेढ़ सौ अध्याय भारतीय धार्मिक साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान रखते हैं। प्राचीन धार्मिक मतों का जैसा संग्रह यहां है वैसा उपनिषद् युग और बौद्ध साहित्य में भी नहीं है। जैन और बौद्ध साहित्य में लगभग ढाई सौ दिट्ठियों का उल्लेख आता है और मेरा अनुमान है कि उनकी सूक्ष्म सूची मोक्षधर्म पर्व से प्राप्त की जा सकती है। मोक्ष प्राप्ति के जो उपाय हैं, उन्हें मोक्षधर्म कहते थे। उस समय एक-एक आचार्य कई-कई धर्मों या मतों का प्रतिपादन करता था। किसने कहाँ से कितना लिया, इसका पूरा लेखा-जोखा कठिन कार्य है। इसके लिए बौद्ध साहित्य की गहरी छान-बीन आवश्यक है, क्योंकि बुद्ध ने भी अपने समसामयिक आचार्यों के मतों से कुछ कम सामग्री नहीं ली; वह स्वयं उस समय के गणी आचार्य और इस प्रकार की सामग्री लेने में अपने को स्वतंत्र मानते थे। कौन किस-किस मत का अनुयायी है, यह उसकी प्रज्ञा पर निर्भर था। श्वेताश्वतर उपनिषद् के आरंभ में स्पष्ट लिखा है कि उस समय के जो मत थे उनमें से एक दो या अनेक के शब्दों का संयोग किया जाता था। वस्तुतः धर्ममोक्ष-पर्व इसका प्रमाण है। हमारी इच्छा है कि कोई दार्शनिक विद्वान् इस अध्ययन को वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित करे।

ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा, सं० २०२३

ता० ३-६-६६

—वासुदेवशरण अग्रवाल

विषय-सूची

आपद्धर्म

नारायणीय पर्व

१३. अनुशासन पर्व

१४. आश्वमेधिक पर्व

१५. आश्रमवासिक पर्व

१६. मौसल पर्व

१७. महाप्रस्थानिक पव

१८. स्वर्गारोहणपर्व

परिशिष्ट

भारत-सावित्री

खण्ड ३

भारत-सावित्री

तृतीय खण्ड

: ६८ :

बारहवाँ शान्ति पर्व

महाभारत के १८ पर्वों में शान्ति पर्व का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। वह विस्तार में भी सबसे बड़ा है। इसमें तीन अवान्तर पर्व हैं। राजधर्म १ से १२८ अध्याय, आपद्धर्म पर्व १२९ अध्याय से १६७ अध्याय तक और मोक्षधर्म १६८ से ३५३ अध्याय तक है। इनमें भी मोक्षधर्म पर्व के लगभग दो सौ अध्याय प्राचीन भारतीय दर्शन और धर्म की बहुविध सामग्री की निधि हैं। अकेला नारायणी पर्व ही एक सहस्र श्लोकों में है, जिसमें पञ्चरात्र भागवत धर्म का सविस्तर वर्णन है। उससे पूर्व के कितने ही अध्यायों में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद आदि कितने ही मतों का जैसा वर्णन है वैसा अन्यत्र बौद्ध साहित्य में भी प्राप्त नहीं होता। जैसा हम कहेंगे, इन अध्यायों में प्राचीन भारत के धार्मिक इतिहास की तीन तहें सुरक्षित हैं। पहली तह में विभिन्न तत्त्व-चिन्तकों के पृथक्-पृथक् मत, उसके अनन्तर दूसरी तह में सांख्य आदि दर्शनों की सामग्री और तीसरी तह में शैव एवं पञ्चरात्र भागवत धर्मों की सामग्री है। शान्तिपर्व की शैली और शब्दावली महाभारत के अन्य पर्वों से विशिष्ट है। उस पर विशेष ध्यान देना होगा। तभी शान्ति पर्व में एवं विशेषतया मोक्षधर्म में निगूढ अर्थों का विकास किया जा सकेगा।

राजधर्म पर्व

कर्णाभिज्ञान

(अ० १—६)

भारत-युद्ध में जो सगे-सम्बन्धी मारे गये थे उन्हें युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने हस्तिनापुर से वाहर गंगा के किनारे जलाञ्जलि दी। एक मास वाद युधिष्ठिर ने नगर में प्रवेश किया तव बहुत से वैदिक विद्वान् और ऋषि-मुनि उनसे मिलने आये। उनमें नारद ने युधिष्ठिर से पूछा, "आपकी युद्ध में जीत हुई। अब आप प्रसन्न हैं?" इस सीधे सरल प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा, "मेरे लिए यह जीत हार के समान हो गई है। मैं इससे बहुत दुःखी हूँ। पांच पुत्रों को खोकर द्रौपदी मुझसे क्या कहेगी? अभिमन्यु को खोकर मैं सुभद्रा को क्या मुख दिखलाऊँगा? मेरे मन को कचोटनेवाली दूसरी वात यह है कि मां कुन्ती ने भी मुझसे यह वात छिपाई और पहले नहीं वताया कि कर्ण उसी का ज्येष्ठ पुत्र था, जो सूर्य से उत्पन्न हुआ था। उसके राधापुत्र होने की वात कहानी मात्र थी। यदि मैं पहले जानता कि कर्ण मेरा वड़ा भाई है, तो मैं कभी रण में उसका वध न होने देता। इसका मेरे चित्त में बहुत दुःख है। सुनता हूँ, माता कुन्ती ने कर्ण को वहुत समझाया था कि हमारे विरुद्ध युद्ध न करे, पर उस सत्यवादी वीर ने दुर्योधन का साथ छोड़ना स्वीकार नहीं किया। केवल यही कहा कि मैं पाँच पाण्डवों में से एक को छोड़कर शेष चार को न मारूँगा। ये सव बातें मुझे पहले ज्ञात न थीं। हाँ, अव मुझे याद आता है कि जब मैंने कर्ण को द्यूत-सभा में देखा था तो मुझे उसके पैर कुन्ती के पैरों से वहुत मिलते हुए जान पड़े थे। कर्ण को देखकर मेरे मन का क्रोध शान्त हो जाया करता था। रणभूमि में उसके रथ के पहिये को पृथिवी ग्रस लेती थी। कर्ण को यह शाप कैसे मिला? यह मैं जानना चाहता हूँ।"

नारद ने उत्तर दिया, "कर्ण का जन्म कुन्ती की कन्यावस्था में ही हुआ था। वह वल में भीम और अर्जुन के तुल्य, बुद्धि में आपके समान और विनय में नकुल-सहदेव जैसा था। वालपन में ही उसकी दुर्योधन से मित्रता हो गई थी। शस्त्रों का अभ्यास करते समय उसने द्रोण से ब्रह्मास्त्र सिखाने की प्रार्थना की थी, पर द्रोण ने यह कहकर टाल दिया कि ब्रह्मास्त्र केवल ब्राह्मण ही सीख सकता है। इस पर कर्ण महेन्द्र पर्वत पर रहने वाले परशुरामजी के पास गया। पूछने पर उसने अपने को भार्गव ब्राह्मण वतलाया। परशुराम ने गोत्रादि के विषय में पक्की पूछ-ताछ करके उसे शिष्य वना लिया। वहाँ एक दिन समुद्र-तट पर घूमते हुए कर्ण ने किसी ब्राह्मण की गौ को अनजान में वाण से मार दिया। उसने अनुनय-विनय से ब्राह्मण को प्रसन्न करना चाहा, किन्तु किसी प्रकार भी उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ और उसने शाप दे दिया कि जव तुम युद्ध में उतरोगे तो तुम्हारे रथ का पहिया जमीन में धँस जायगा। शाप से भयभीत कर्ण परशुराम के पास आया और उसने शस्त्र-विद्या का पूरा अभ्यास कर लिया। एक दिन उपवास रहने से कृश भार्गव राम कर्ण की गोद में सिर रख कर सोए हुए थे। तभी किसी दारुण कीड़े ने नीचे से कर्ण की जांघ में छेद कर दिया। पर कर्ण टस-से-मस न हुआ। रक्त के वहने से गुरु की निद्रा खुल गई। उन्होंने सव हाल देखा और कर्ण से क्रुद्ध होकर पूछा कि किसी ब्राह्मण में इतना धैर्य नहीं हो सकता, सच वताओ तुम कौन हो? कर्ण ने शाप के डर से वात खोलते हुए कहा, "मैंने शस्त्र सीखने के लोभ से अपने को ब्राह्मण वतलाया था, किन्तु मैं ब्रह्म-छत्र-वंशी सूत का पुत्र हूँ।" यह सुनकर परशुराम वोले, "अच्छा, तूने ब्रह्मास्त्र सीख लिया, किन्तु युद्ध-भूमि में जव वध का समय आयेगा तव तेरा ब्रह्मास्त्र सफल न होगा। और, अव तू चला जा, इधर लौट कर कभी पैर न रखना।" लाचार कर्ण सीधा दुर्योधन के पास आया। कुछ दिन वाद दुर्योधन ने सुना कि कलिंग के राजा चित्राङ्गद की कन्या का स्वयंवर है। दुर्योधन कर्ण को साथ लेकर

वहाँ गया। स्वयंवर में कर्ण ने सब राजाओं को जीतकर कन्या प्राप्त कर ली और दुर्योधन के साथ हस्तिनापुर लौट आया।

"मगध के राजा जरासंध ने कलिङ्ग के स्वयंवर में अपनी आँखों से कर्ण का पराक्रम देखा था। उसका माथा कुछ ठनका और उसने घर लौटकर कर्ण को युद्ध के लिए ललकारा। पर वाहु-युद्ध में कर्ण से पार न पाकर उसने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कर्ण को अङ्गदेश की मालिनी-पुरी का राज्य दे दिया। यह चम्पा का दूसरा नाम था। कर्ण वहाँ स्वतन्त्र राजा के रूप में राज्य करने लगा। पर कर्ण का दुर्भाग्य तो कई शापों के रूप में उसके पीछे लगा ही हुआ था, जैसे प्रतिकूल भाग्य पुरुषार्थवादी किसी महामानव के पीछे लगा हुआ हो। ब्राह्मण का शाप और गुरु का शाप तो था ही, उसपर देवराज इन्द्र ब्राह्मण के वेश में आकर उससे उसके सहज कुण्डल और कवच भी माँग ले गए। पर दानी और पराक्रमी कर्ण भाग्य से आँख मिलाकर अपने ही पैरों की दृढ़ भूमि पर खड़ा हो गया। उसके साथ आगे जो घटनाएँ घटीं, उन्हें हम देख ही चुके हैं।"

: ६९ :

युधिष्ठिर निर्वेद

युधिष्ठिर का मन दुःख और शोक से भरा हुआ था। उन्होंने अर्जुन को बुलाकर जी बहलाना चाहा, पर उल्टे वह क्षात्र धर्म को ही कोसने लगे और वन में रहने वाले मुनियों के क्षमा, दम, शौच, अविरोध, अमत्सर, अहिंसा, सत्यवचन आदि धर्मों की प्रशंसा करने लगे। उन्होंने कहा कि लोभ और मान के चक्कर में पड़कर वे राज्य का लवलेश चाहते

हुए इस आपत्ति में फँस गए। युधिष्ठिर की बड़ी विचित्र प्रकृति थी। वह अवसर पर चूक जाते और फिर पीछे पछताते थे। वह समय पर अपने कर्त्तव्य को ओझल करके दूसरे के कर्त्तव्य की चिन्ता में भटक जाते थे। उन्होंने मानों अर्जुन की ही गीता वाली भाषा में कहा, "त्रैलोक्य का राज्य भी हमें प्रसन्न नहीं कर सकता। पृथिवी के लिए हमने अपने बन्धु-बान्धवों के वध का पाप किया है। जैसे कुत्ते मांस के लिए झगड़ते हैं, वैसे ही हमने राज्य के लिए किया। हम ही इन लोगों के विनाश के कारण हुए। अपने इस पाप कर्म से हम नरक में जायँगे। हे अर्जुन, अब मैं तुम सबसे विदा लेकर वन में चला जाऊँगा। यह राज्य और भोग मुझे नहीं चाहिए।" अर्जुन ने युधिष्ठिर के इन वचनों को अपने लिए व्यंग्य और कटाक्ष समझा। उसने उत्तर में कहा, "वाह, कैसा दुःख है, कैसा कष्ट है जिसके कारण धर्म से प्राप्त पृथिवी को त्याग कर वन में चले जाने की बात सोची जाती है? नपुंसक और दीर्घसूत्री के लिए राज्य कैसा? क्यों क्रोध में भरकर राजाओं को मारा? यदि इसी प्रकार भिक्षा मांगकर जीने की इच्छा थी, और राजा के लिए निन्दित खप्पर हाथ में लेकर भोजन करने की कापाली वृत्ति को अपनाना था, तो युद्ध का मंडान क्यों किया? और लोग क्या कहेंगे? अपने स्वस्ति-भाव का नाश करके अकिञ्चन बनकर वन में जाने की क्या तुक है?

"धर्म और अर्थ का त्याग करके वन के लिए प्रस्थान मूढ़ता है। पहले राजा नहुष कह गये हैं कि जीवन में आकिञ्चन्य किसी भी प्रकार प्रशंसनीय आदर्श नहीं है। लोक में दरिद्रता बड़ा पाप है। आप कैसे उसकी बड़ाई करते हैं? सब क्रियाएँ धन से ही होती हैं। जैसे नदियाँ पर्वत की चोटी से बहती हैं, उसी प्रकार अर्थ के बिना लोक की प्राणयात्रा सिद्ध नहीं होती। धन को धन खींच लाता है, जैसे महागज गज को। धर्म, काम और स्वर्ग सब अर्थ से ही होते हैं। जो अश्वों से कृश, गौओं से कृश और अतिथियों से कृश है वही कृश है। शरीर से कृश कृश नहीं कहलाता—

यः कृशाश्वः कृशगवः कृशभृत्यः कृशातिथिः ।
स वै राजन्कृशो नाम न शरीरकृशः कृशः ॥

(१२।८।२४)

"धन को दूसरों के वश से अपने वश में लाये विना काम नहीं चलता। वेदों के जितने आदेश हैं वे विना धन के पूरे नहीं होते। अर्थात् दान, तप, स्वाध्याय धन से ही सधते हैं।

"आपके लिए अब द्रव्यमय यज्ञ करने का समय आया है। वह धन से ही संभव है।

"यह पृथिवी नृग, दिलीप, नहुष, अम्बरीप, मान्धाता के पास जैसे थी वैसे ही आपके पास आई है। इसके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कीजिये। मेरी समझ से धन से धर्मपूर्वक राज्य करना ही श्लाघ्य है। जो राजा अश्वमेध से यजन करता है वह उसके अवभृथ स्नान से अपने को पवित्र वनाता है।"

अर्जुन के सुनिश्चित वचन सुनकर भी युधिष्ठिर ने वनस्थ मुनियों के धनों का ही वखान किया, "वन में हम कन्दमूल-फल खायेंगे, स्वच्छन्द विचरने वाले हिरनों के समान पानी पियेंगे। वहाँ के वृक्ष और लताओं के फूलों की सुगन्धि हमें मिलेगी। वन में नाना भाँति के रमणीय वृक्ष हमें देखने को मिलेंगे। वानप्रस्थ कुलवासी जनों का दर्शन मिलेगा। ग्रामवासियों का कुछ भी अप्रिय मुझसे न होगा।"

अर्जुन ने युधिष्ठिर को समझाने के लिए प्राचीन अर्थशास्त्रियों का अर्थप्रधान दृष्टिकोण अपनाया था, पर युधिष्ठिर पर उसका कोई असर न हुआ। अर्थशास्त्र के इस दृष्टिकोण में गृहस्थ की अधिक महिमा थी। तराजू के पलड़े पर यदि एक ओर तीन आश्रमों को रक्खा जाय तो गृहस्थ आश्रम का पलड़ा भारी वैठेगा—

आश्रमांस्तुलया सर्वान्धृतानाहुर्मनीषिणः ।
एकतस्ते त्रयो राजन्गृहस्थाश्रम एकतः ॥

(१२।१२।११)

नकुल ने कहा, "गृहस्थ के मार्ग से ही त्रिवर्ग का फल प्राप्त होता है। गृहस्थ धर्म से ही यज्ञों का अनुष्ठान संभव है। गृहस्थ धर्म दुष्कर एवं दुर्लभ है। राज्य ग्रहण करके उसके प्रति जो उपेक्षा करता है, दस्यु उसकी प्रजा का उत्पीड़न करते हैं। इससे राजा को नरक मिलता है। भीतर और बाहर की जितनी वस्तुओं में मन आसक्त रहता है, उनसे उसको हटाकर ही मनुष्य सच्चा त्यागी बनता है। उन्हें छोड़कर वन को चल देने से त्याग नहीं होता। क्षात्र धर्म से और पराक्रम से पृथिवी को जीतकर राजा नाकपृष्ठ या स्वर्ग में आरूढ़ होता है। अतः हे युधिष्ठिर, तुम्हें शोक न करना चाहिए।"

नकुल के बाद सहदेव ने युधिष्ठिर के सामने अपना दृष्टिकोण रक्खा। उसने भी स्थूल वस्तुओं के त्याग की अपेक्षा मन के सूक्ष्म परिवर्तन को ही अच्छा समझा। 'न मम' इन तीन अक्षरों की भावना से शाश्वत ब्रह्म या नित्य ब्रह्म की प्राप्ति होती है। स्थूल वस्तुओं में और शरीर से चिपटे रहना ठीक नहीं। पृथिवी को प्राप्त करके जो उसका भोग नहीं प्राप्त करता उसका जीवन निष्फल है।

इसके बाद द्रौपदी ने युधिष्ठिर की मति फेरने का प्रयत्न किया। द्रौपदी को धर्मदर्शिनी तथा युधिष्ठिर के प्रति अभिमानवती कहा गया है। उसने कहा, "हे राजन्, क्लीब नहीं होना चाहिए। बिना दण्ड के कुछ नहीं होता। दान, स्वाध्याय, तप, स्वभूतों में मैत्री ये सब ब्राह्मणों के लिए हैं, राजाओं के लिए नहीं। यह पृथिवी तुम्हें दान में नहीं मिली, न तुमने इसे घूस देकर प्राप्त किया। तुमने बड़े-बड़े वीरों को पछाड़ कर इसे पाया है। नाना जनपदों से युक्त इस जम्बूद्वीप को तुमने दण्ड की शक्ति से मोड़ डाला है (१४।२१)। अब सुखपूर्वक प्रजाओं का पालन करो। मैं स्त्री हूँ, मुझे शत्रुओं ने सताया, अतः मेरी बात पर विशेष ध्यान दो।"

द्रौपदी जब अपनी बात कह चुकी तब अर्जुन ने दण्ड की महिमा कही, "दण्ड ही प्रजाओं की रक्षा करता है। सोनेवालों को दण्ड जगाता

हैं। अतः दण्ड को ही धर्म कहते हैं। दण्ड ही काम की रक्षा करता है। दण्ड ही त्रिवर्ग का दूसरा नाम है। दण्ड से अन्न और धन की रक्षा होती है। लोक का यही स्वभाव है। अतः यह जानकर दण्ड का आश्रय लीजिये। राजदण्ड के भय से पापी पाप नहीं करते।[1]

"इस प्रकार की संसिद्धिवाले लोक में सब कुछ दण्ड के अधीन है। दण्ड के भय से ही लोग एक दूसरे को खा नहीं जाते। यदि दण्ड पालन न करे तो सब कुछ घोर अन्धकार में डूब जाय। जो दबे नहीं हैं दण्ड उनका दमन करता है और जो गुंडे हैं उन्हें डाँड़ता है। इन्हीं दो दृष्टियों से दण्ड दण्ड है। ब्राह्मणों का दण्ड वाणी है, क्षत्रियों का दण्ड बाहुबल है। वैश्य दान देते रहें, यही उनका दण्ड है। जिसके पास कोई दण्ड नहीं, वही शूद्र है। लोक में व्यवहार की मेड़ (मर्यादा) को ही दण्ड कहते हैं। जहाँ काला भुजंग, लाल-लाल आँखों वाला दण्ड घूमता है, वहाँ प्रजाएँ धोखा नहीं खातीं बशर्ते न्याय करने वाले की निगाह ठीक हो। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और भिक्षुक ये दण्ड के भय से ही अपने-अपने मार्ग में स्थित रहते हैं। बिना भय के न कोई यज्ञ करता है, न दान देना चाहता है। बिना भय के कोई शर्तें बन्धेज और समझौते को पूरा नहीं करना चाहता। बिना दण्ड के न कीर्ति होती है, न धन और न ही प्रजा। इन्द्र वृत्र का वध करके ही महेन्द्र बना। जो देवता दण्ड देते हैं उन्हें लोक बहुत पूजता है। रुद्र, स्कन्द, चक्र, अग्नि, यम, काल, वायु, वैश्रवण, सूर्य और वसु ऐसे ही देवता हैं जिनका अनादर करो तो वे हनन कर देते हैं। लोक में अहिंसा से रहते मैं

---

१. दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा, दण्ड सर्वाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥ अ० १५
धर्मं संरक्षते दण्डस्थैवार्थं नराधिप।
कामं संरक्षते दण्डस्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते ॥ ३ ॥
दण्डेन रक्ष्यते धान्यं धनं दण्डेन रक्ष्यते।
एतद्विद्वन्नुपादत्स्व स्वभावं पश्य लौकिकम् ॥ ४ ॥

किसी को जीवित नहीं देखता। वलवान् निर्वलों को खा जाते हैं। नेवला चूहों को और विलाव नेवलों को खा जाता है। बिलाव को कुत्ता और कुत्ते को वाघ खा डालता है। मनुष्य सबको खा जाता है, यही वात चली आई है। सब कुछ चराचर वस्तुएँ प्राण का भोजन हैं। यही देव का बनाया हुआ विधान है। विद्वान् को इससे मोह नहीं होता। हे राजन्, आपको ब्रह्मा ने जैसा वनाया है वैसा ही होने का यत्न कीजिये। शुद्ध अहिंसा है ही कहाँ? पलक मारने से भी सूक्ष्म कीटाणु मर जाते हैं। जल और फलों में भी कीटाणु होते हैं। पेड़-पौधों में क्या जीव नहीं? इसलिए कोरमकोर अहिंसावादी की वात हम नहीं मान सकते। हमें संसार को साथ लेकर चलना है। दण्डनीति के चलने से ही सब प्राणी चलते हैं, इसमें हमें संदेह नहीं। लोक में दण्ड न हो तो ये प्रजाएँ नष्ट हो जायँ। प्रजापति ने आरम्भ में ही ठीक कहा था कि साधु-प्रयुक्त दण्ड ही प्रजाओं की रक्षा करता है। अग्नि भी दण्ड के भय से जलती है। साधु असाधु को अलग रखने वाला दण्ड न हो तो सब कुछ घोर अन्धकार में डूब जाय। जो नास्तिक और वेदनिन्दक हैं, वे दण्ड से ही वश में रहते हैं। सब लोग दण्ड के वश हैं। अपने आप शुद्ध रहने वाला व्यक्ति दुर्लभ है। धर्म और अर्थ की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने दण्ड बनाया है। यदि दण्ड का भय न हो तो पक्षी और कुत्ते ही पशु और मनुष्यों को खा डालें। न तो ब्रह्मचारी पढ़ सके और न कल्याणी गाय दुही जा सके और न कन्या का व्याह ही हो सके, यदि दण्ड सबका पालन करने वाला न हो। विश्व का लोप होने लगे, सब सेतु या मर्यादाएँ टूट जायँ, किसी वस्तु में अपनापन न रह जाय, यदि दण्ड पालन न करे। वर्ष भर के यज्ञ निर्भय भाव से न चल सकें, उनमें विधिवत् दक्षिणा न दी जा सके, यदि दण्ड रक्षक न हो। आश्रमों में विद्याध्ययन के नियम न चल सकें, यदि दण्ड पालक न हो। ऊँट, गधे, घोड़े, बैल यानों में जोते जा कर उन्हें न ले जा सकें, यदि दण्ड न हो। भृत्य आज्ञा का पालन न करें और पुत्र पिता के धर्म में न रहें, यदि दण्ड पालक न हो। सब लोग

दण्ड की नींव पर खड़े हैं। भय का नाम ही दण्ड है। दण्ड ही लोक का स्वर्ग है। वहाँ छल-कपट नहीं दिखाई पड़ता, जहाँ सुविहित रूप में दण्ड का पालन किया जाय। यदि हाथ में ऊंचा डण्डा न हो, तो कुत्ता यज्ञ की हवि को खा जाय। कौआ पुरोडाश को उठा ले जाय, यदि दण्ड न हो। धन के अधीन जीवन है और धन दण्ड के अधीन है। यह दण्ड का बड़ा गौरव है। लोकयात्रा के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है। साधु मार्ग की हिंसा भी अहिंसा है। इस रूप में धर्म का आश्रय ही श्रेयस्कर है। न कोई सर्वथा गुणवान् है, न कोई सर्वथा निर्गुण। कारण पाकर सभी साधु या असाधु हो जाते हैं।

"हम देखते है कि लोक में पशुओं को वधिया करके उनकी नाक छेद देते हैं और उनसे बोझा ढुलाते हैं। उन्हें बांधते और उनका दमन करते हैं। इस प्रकार लोक में बहुत-सी धींगाधींगी है। उन्हीं से पुराना धर्म या दस्तूरुल अमल बना है। हे राजन्, यज्ञ करो, दान दो, प्रजा की रक्षा करो, धर्म का पालन करो, शत्रुओं का नाश करो, मित्रों का पालन करो। शत्रुओं का नाश करते हुए मन में क्रोध मत आने दो, तब तुम्हें कोई पाप न लगेगा। जो कोई अपनी ओर आते हुए आततायी को मार देता है, उसे पाप नहीं लगता। वह तो मन्यु द्वारा मन्यु को काट डालने के समान है। सर्वसंमत सिद्धान्त है कि सबका अन्तरात्मा अवध्य है, पर कभी-कभी उसका बध अनिवार्य हो जाता है। जैसे पुरुष नये घर में प्रवेश करता है ऐसे ही मनुष्य नया शरीर ले लेता है। तत्त्वदर्शी मनुष्य मृत्यु की इसी प्रकार व्याख्या करते हैं। एक देह को छोड़कर दूसरी में जाना घर बदलने या वस्त्र बदलने के समान है।" इस प्रकार अर्जुन ने राजशास्त्र के भय और दण्ड-सम्बन्धी सिद्धान्तों की सहायता से युधिष्ठिर को समझाने का प्रयत्न किया। राजशास्त्र की युक्तियाँ अर्थशास्त्र की ही परिशिष्ट मानी जाती थीं।

अर्जुन के अनन्तर भीमसेन ने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर से कहा, "हे राजन्, आप स्वयं विदितधर्मा हैं। कुछ भी आपको अज्ञात नहीं है।

इसीलिए मैं सोचता हूँ कि आपको सिखावन दूं या नहीं। पर अति दुःखी होने के कारण मैं कहूँगा ही। कृपया आप सुनें। आपके इस मोह ने तो हमारा सब कुछ बना-बनाया काम बिगाड़ डाला। लोक की गति, आगति, तदात्व (वर्तमान दशा) और आयति (भावी दशा)—आप सब जानते हैं। मानस व्याधि से शारीर व्याधि और शारीर व्याधि से मानस व्याधि हुआ करती है। जो बीते हुए दुःख का शोच करता है, वह अपने लिए दुःख से दुःख प्राप्त कर लेता है। शीत, उष्ण और वायु इनका साम्य भाव स्वास्थ्य का लक्षण है। उनमें से कोई घट-बढ़ जाय तो उसका प्रतीकार किया जाता है। सत्त्व, रज, तम ये मन के तीन गुण हैं। आपने अनेक युद्धों के बाद विजय प्राप्त की। यदि उसका लाभ अब छोड़ देंगे तो फिर जन्म लेकर उसी मार्ग पर चलना होगा। इसलिए लोकगति को देखते हुए भाग्य ने आपको जो विजय दी है, उसका लाभ उठाइये।" भीम का यह वचन कुछ-कुछ नियतिवाद का दृष्टिकोण लिए था और वे यह जानते भी थे कि युधिष्ठिर का कुछ झुकाव नियतिवाद की ओर था।

उत्तर में युधिष्ठिर ने फिर वही यतियों के जीवन-आचार की रट लगाई, मानों राजधर्म से उन्हें कोई चिढ़ हो। उनकी दृष्टि में कर्मपाश से छूटकर ही मृत्युभय से ऊपर उठना संभव था और राजधर्म अपनाने से वह संभव नहीं था। इस विषय में जनक का नाम लेकर उन्होंने एक गाथा सुनाई—

अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन॥

(१७।१८)

मेरे पास अनन्त धन है, फिर भी जैसे कुछ नहीं है। सारी मिथिला भस्म हो जाय तो भी मेरा बाल बाँका नहीं होता। जो व्यक्ति प्रज्ञा के महल पर पहुँच गया है, उसे संसार के दुःखों में तपते हुए मनुष्यों का शोक नहीं होता।

यह गाथा धम्मपद में भी पाई जाती है, जो उस युग के प्रज्ञादर्शन का अंग थी[1]। युधिष्ठिर ने प्रज्ञादर्शन के तर्कों का आश्रय लेते हुए बुद्धि की भी प्रशंसा की, जिससे उनका अभिप्राय तटस्थ और उदासीन मनोवृत्ति से ही था।

इसके वाद अर्जुन ने फिर वात शुरू करते हुए जनक का एक चरित सुनाया। उसमें अकिंचन-व्रत लेकर और सिर मुड़ाकर वन में साधुओं के मार्ग का खण्डन था।

जान पड़ता है कि प्राचीन दर्शनों में आकिंचन्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। उसके अनुयायी सिर मुड़ाकर मुट्ठीभर धान्य से अपने को संतुष्ट समझते थे और कपाल में ही भिक्षावृत्ति को महत्त्व देते थे। जनक का यह कौतुक देखकर उसकी मनस्विनी भार्या ने उन्हें वहुत फटकारा—"राज्य के सव संभारों को त्यागकर अकिंचन-व्रत धारण करने में क्या तुक है? अकिंचन यति के लिए देवता, पितर, अतिथि सव व्यर्थ हैं। आज तक तुम सवको देते रहे और अव क्या औरों से भीख माँगोगे? तुम्हीं सोचो, देनेवाले और माँगनेवाले तुम्हारे रूपों में वढ़कर कौन सा है?" इसी प्रसंग में रानी ने अन्न की महिमा का वर्णन किया जो आकिंचन्य दर्शन की काट करनेवालों के तरकश का चोखा वाण था—"लोक में अन्न से ही गृहस्थ वनते हैं। उन्हीं की भीख से भिक्षुक पलते हैं। अन्न से ही प्राण उत्पन्न होता है। जो अन्न का देनेवाला है वह प्राणदान देता है।[2] घर-गृहस्थी छोड़नेवाले फिर गृहस्थों का ही मुँह जोहते हैं। साधु जहाँ से निकले उसी की निन्दा करते हैं। गृहस्थी छोड़ने से, मूड़ मुड़ा लेने से, भीख माँगने से कोई साधु नहीं होता। जो ऋजुभाव से धन का त्याग कर अपने को सुखी मानता है वही भिक्षु है। त्रयी विद्या और वार्ता शास्त्र

१. प्रज्ञाप्रासादमारुह्य न शोच्याञ्शोचतो जनान्।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थो मन्दबुद्धीनवेक्षते ॥ १७।१९

२. अन्नाद्गृहस्था लोकेऽस्मिन्भिक्षवस्तत एव च।
अन्नात्प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत् ॥ १८।२७

को स्वीकार करके राजधर्म का पालन, यही राजा का कर्तव्य है। जो मूड़ मुड़ाये, गेरुआ पहने हुए धर्मध्वजी भिक्षु हैं, उन्होंने दान वटोरने के लिए सव चौपट कर डाला है, ऐसा मेरा विचार है। तुम चाहो तो कषाय-वेशधारी, नंगे, मुंडित और जटाधारी साधुओं को भिक्षा दे दो, पर तुम स्वयं वैसे न वनो।"

महाभारत के ये कुछ श्लोक वौद्ध-जैन साधुओं पर भागवतों का प्रहार है और अर्जुन के चलाये हुए मूल प्रसंग में यह पीछे से जोड़ा गया अंश है।

उत्तर में युधिष्ठिर ने अर्जुन के साथ वड़ी निष्ठुर चुटकी ली, "मैं वेद शास्त्रों को जानता हूँ। तुम अस्त्रधारी उन्हें क्या जानो? शास्त्र के सूक्ष्म अर्थ को जो जानता है, वह मुझसे इस प्रकार नहीं कहेगा। फिर भी भाई के हित में तुमने जो कहा उससे मैं प्रसन्न हूँ। हे अर्जुन, तुम मेरी वुद्धि पर शंका न करो।"

इसके अनन्तर देवस्थान नामक तपस्वी ऋषि ने अर्जुन के ही वाक्य का समर्थन किया। यह कोई वैखानस साधु जान पड़ता है जिसने धन के विषय में अपना दृष्टिकोण रखते हुए कहा कि धन-विषयक इच्छा से (ईहते धन हेतोः) इच्छा का न होना ही अच्छा है। फिर उसने यज्ञों की ही प्रशंसा की। जीवन की चौपदी सीढ़ी (चतुष्पदी निःश्रेणी) कर्म मार्ग से सिद्ध होती है। इन चारों को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष भी कहा जा सकता है। अथवा स्वाध्याय यज्ञ, कर्मकाण्डात्मक यज्ञ, तपोयज्ञ और ज्ञान-यज्ञ ये चार इसी सीढी के चढते हुए डण्डे हैं। वैखानस मतानुयायी वैदिक यज्ञों के माननेवाले थे और उनके आश्रमों में वैतान या श्रौत अग्नियों का कर्मकाण्ड भी होता था।

इसके वाद देवस्थान ने दस विभिन्न मतों का उल्लेख किया, जिनके विषय में विभिन्न आचार्यों का आग्रह था। कोई शम, कोई व्यायाम या संघर्ष, कोई शान्ति और संघर्ष दोनों को, कोई यज्ञ, कोई संन्यास, कोई

-दान, कोई दान लेना, कोई सब कुछ छोड़कर तूष्णीं ध्यान, कोई राज्य और प्रजाओं का परिपालन, कोई एकान्तवास की प्रशंसा करते हैं। इन मतभेदों को देखकर पण्डितों ने ऐसा मत रक्खा है कि अद्रोह, सत्य, संविभाग (दान), धृति, क्षमा, अपनी स्त्रियों के साथ प्रजनन-कार्य, मृदुता (ह्री), अचपलता, धर्म के साथ धनोपार्जन यही पण्डितों के साथ स्वयम्भू मनु का भी उपदेश है। देवस्थान के इस कथन में मानव-धर्म या मनु के धर्मशास्त्र का उल्लेख है। इससे यति धर्म का स्वयं खण्डन हो जाता है। अन्ततः देवस्थान ने युधिष्ठिर के लिए क्षत्रियोचित राज्य-परिपालन और यज्ञ का ही समर्थन किया। क्षत्रिय यज्ञ से बचा हुआ अन्न खाता है और राज्यशास्त्र के तत्त्व को जाननेवाला होता है। देवस्थान ने गृहस्थ-आश्रम और वानप्रस्थाश्रम दोनों के लिए ही अपना मत दिया। उसने कहा कि निर्वाण के मार्ग में बहुत विघ्न हैं, उसका पूरा होना बहुत कठिन है। संभव है, देवस्थान का वचन प्रक्षिप्त हो, क्योंकि इसमें निर्वाण और श्रमण मार्ग का स्पष्ट खण्डन है। पर इससे कथा प्रवाह में कोई त्रुटि नहीं आती। २२ वें अध्याय में अर्जुन के द्वारा राजधर्म-पोषण का प्रसंग जारी रहता है।

अर्जुन की न्यी उक्ति में ब्राह्मण धर्म और क्षात्र धर्म को बताकर बराबर क्षात्रधर्म-पालन और युद्ध का आग्रह किया गया है। अवश्य ही प्राचीन राज्य-शास्त्र के अन्तर्गत क्षात्र धर्म का बहुत सम्मान रहा होगा। "ब्राह्मणों के लिए तप और त्याग है। क्षत्रियों के लिए संग्राम ही धर्म है। क्षत्रिय दूसरे के धन से जीवन निर्वाह नहीं करता। इसलिए तुम कर्म के लिए कमर कसो। क्षत्रिय का हृदय वज्र के समान कठोर होता है। वह विजय के द्वारा अकंटक राज्य करता है। इन्द्र ब्रह्मा के पुत्र थे, परन्तु कर्म से क्षत्रिय हो गये। उन्होंने अपने ही बन्धु-बान्धव ९९ असुरों का वध कर दिया, क्योंकि वे पापी थे (ज्ञातीनां पापवृत्तीनां जघान नवतीर्नव)। उसका यह कर्म प्रशंसनीय समझा गया और उसे इन्द्र-पद मिला। जैसे इन्द्र ने किया वैसे ही तुम भी यज्ञ करो। जो होना था सब

हो चुका अब बैठकर शोक मत करो। जो भाग्य ने लिख दिया उसे बदला नहीं जा सकता।"

अर्जुन की यह उक्ति सुनकर युधिष्ठिर के मुख पर ताला पड़ गया। तब व्यासजी ने उन्हें समझाया। व्यास के कथन में कई बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। पहले तो उन्होंने गृहस्थ धर्म की प्रशंसा की और बताया कि गार्हस्थ-जीवन ही शास्त्र का मार्ग है, उसी पर चलना चाहिए। गृहस्थ आश्रम सब आश्रमों में बड़ा है (ज्येष्ठाश्रमी गृही)। "इसीलिए मैं कहता हूँ कि पिता-पितामह के राज्य का बोझा तुम्हें ढोना उचित है।" इसके बाद व्यासजी ने दूध का दूध और पानी का पानी अलग करते हुए ब्राह्मण धर्म और क्षत्रिय धर्म का भेद समझाया—"तप, यज्ञ, विद्या, भैक्ष्य, इन्द्रिय-निग्रह, ध्यान, एकान्तवास, सन्तोष, शक्ति के अनुसार दान ये चेष्टाएँ ब्राह्मणों को संसिद्धि देती हैं। यद्यपि आपको विदित है, फिर भी क्षत्रियों के धर्म मैं कहूँगा। यज्ञ, विद्या, समुत्थान, अपने धन के विषय में असन्तोष, अत्यन्त उग्र दण्डधारण, प्रजाओं का पालन, वेदज्ञान तथा सुचरित तप, बहुत धनोपार्जन और पात्रों को उसका दान, ये राजाओं के कर्म हैं जिनसे ही वे इस लोक और उस लोक को साधते हैं। इनमें दण्डधारण सबसे बड़ा है। क्षत्रिय के पास बल होता है और बल से ही दण्डधारण किया जाता है (बलं हि क्षत्रिये नित्यं बले दण्ड समाहितः)। सुनते हैं कि राजा सुद्युम्न को दण्डधारण से सिद्धि मिली। जैसे साँप बिल में रहनेवाले मेढक-चूहों को खा जाता है, वैसे ही यह धरती युद्धविहीन राजा को और घर-घुसे ब्राह्मण को खा लेती है।"

युधिष्ठिर के पूछने पर व्यासजी ने सुद्युम्न की कथा सुनाई। यह अध्याय यहाँ प्रक्षिप्त ज्ञात होता है। इसमें बुद्ध के अदत्तादान-धर्म का एक सटीक उदाहरण दिया गया है और यह शब्द भी यहाँ प्रयुक्त हुआ है (अदत्तादानमेवेदं २४।१०)।

शंख और लिखित की कथा

शंख और लिखित दो भाई थे। शंख बड़ा और लिखित छोटा था।

एक दिन लिखित शंख के आश्रम में गया। वहाँ उस समय शंख न था। लिखित ने कुछ पके फल तोड़कर खा लिये। जब शंख आया तो उसने कहा कि यह तुमने अच्छा नहीं किया। तुम राजा सुद्युम्न के यहाँ जाकर इसका दण्ड भरो। लिखित राजा के पास गया। पहले तो राजा ने टालना चाहा, पर उसके आग्रह करने पर उसके दोनों हाथ कटवा दिये। उस समय अदत्तादान का यही दण्ड था। इस प्रकार राजा से धृतदण्ड होकर लिखित भाई के पास लौट आया। दण्ड ही क्षत्रिय का धर्म है, मूड़ मुड़ाना क्षत्रिय का धर्म नहीं (दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम्)।

व्यासजी ने अपना कथन जारी रखते हुए अब दो युक्तियाँ ऐसी रक्खीं, जिनसे युधिष्ठिर का डावाँडोल मन भी ठहर गया। उन्होंने कहा कि तुम बार-बार कहते हो कि युद्ध करके और बन्धु-बान्धवों को मारकर बहुत पाप किया, पर राजा के लिए ऐसे पाप का प्रायश्चित अश्वमेध-यज्ञ करने से होता है। अश्वमेध-यज्ञ हँसी-खेल नहीं था, उसके लिए भारी तैयारी करनी पड़ती थी, उसमें समय और द्रव्य भी बहुत लगता था। व्यासजी ने सोचा होगा कि इससे युधिष्ठिर का मन बहल जायगा और संचित कोष की गर्मी भी कम हो जायगी। दूसरी सलाह जो युधिष्ठिर जैसे कुल-वृद्ध को पसन्द आनेवाली थी, व्यासजी ने यह दी कि अब तो देश के सब रजवाड़े तुम्हारी मुट्ठी में आ गये हैं, उनकी रिक्त गद्दियों पर अपने कुटुम्ब के कुमारों का अभिषेक कर दो। यदि कुमार न हों तो कन्याओं को ही अभिषिक्त कर दो। व्यासजी का यह तीर भी ठीक निशाने पर बैठा होगा। जब एक बार व्यासजी ने अश्वमेध-यज्ञ की बात उठाई तो सबने ही बारी-बारी से उसका समर्थन किया और युधिष्ठिर को भी पिण्ड छुड़ाना भारी हो गया। अन्त में उन्होंने उस सलाह को भीतरी जी से स्वीकार किया।

इसी प्रसंग में व्यासजी ने प्राचीन राज्यशास्त्र के कई अंग-प्रत्यंगों का बड़ी कुशलता से प्रतिपादन किया। एक तो यह कि जब राजा

प्रजाओं से कर वसूल करता है, तो उसका कर्तव्य है कि चोर-डकैतों से राज्य को बचावे। राष्ट्र को मोल-भाव की वस्तु न बनाना चाहिए। तस्करों से प्रजा की पीड़ा राजा के लिए पाप है। पुरुषार्थ करने से दुष्ट वश में आते हैं और राजा को पाप नहीं लगता। व्यास जी ने कहा कि राजा हयग्रीव ने अपने यहाँ के दस्युओं का दमन करने के लिए लड़ाई में अपने प्राण गवाँ दिए। उस पुण्य से वे आज भी स्वर्गलोक में सुख से रह रहे हैं। यहाँ आठ श्लोकों में हयग्रीव सम्बन्धी गीत प्रस्तुत किया गया है जो संभवतः बन्दी लोग राजाओं को सुनाया करते थे। जैसा हयग्रीव नाम से स्पष्ट है इसे उदात्त शैली और शब्दावली में गुप्त-युग में यहाँ जोड़ा गया।[1]

राजा का धनुष यज्ञ का यूप है, प्रत्यञ्चा रशना है। बाण स्रुक् है, खड्ग स्रुव है। रुधिर घृत है। रथ वेदी है, युद्ध अग्नि हैं, चार घोड़े चार होता हैं। उस यज्ञाग्नि में शत्रुओं का हवन करके बली राजसिंह पाप से छूट जाता है। उस हयग्रीव राजा ने रणभूमि में अपने प्राण त्यागकर मानों यज्ञ का अवभृथ स्नान किया। उस पुण्य से इस लोक में यशस्वी होकर वह देवलोक में सुख का भोग कर रहा है।

बुद्धिपूर्वक नीति से राष्ट्र की रक्षा करता हुआ, आत्मार्पण द्वारा यज्ञ-शील और महात्मा सब लोकों को यश से व्याप्त करके वह मनस्वी हयग्रीव इस लोक में यश और परलोक में सुख का भोग कर रहा है। दैवी सिद्धि और मानुषी दण्डनीति के योग और न्याय के द्वारा पृथिवी का पालन करके धर्मशील और महात्मा हयग्रीव स्वर्गलोक में सुख का उपभोग कर रही

१. धनुर्यूपो रशना ज्या शरः स्रुक्स्रुवः खड्गो रुधिरं यत्र चाज्यम्।
रथो वेदी कामगो युद्धमग्निश्चातुर्होत्रं चतुरो वाजिमुख्याः ॥२६॥
हुत्वा तस्मिन्यज्ञवह्नावथारीन्पापान्मुक्तो राजसिंहस्तरस्वी ॥२७॥
राष्ट्रं रक्षन्बुद्धिपूर्वं नयेन, संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा।
सर्वांल्लोकान्व्याप्य कीर्त्या मनस्वी वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥२८॥

है। वह विद्वान्, त्यागी, श्रद्धालु कृतज्ञ राजा कर्म करके मनुष्य लोक छोड़कर मेधावी विद्वानों के लोक में स्वर्ग-सुख का भोग कर रहा है। वह महात्मा वेदों की सम्यक् प्राप्ति, शास्त्रों का अध्ययन और राष्ट्र का सम्यक् पालन करके, चार वर्णों को अपने स्वधर्म में स्थापित करके देवलोक में सुख भोग रहा है। वह संग्रामों में विजयी होकर प्रजाओं का पालन करके, यज्ञों में सोमपान करके और ब्राह्मणों को तृप्त करके, युक्तिपूर्वक प्रजाओं में दण्ड-धारण करके, युद्ध में अपनी आहुति देकर देवलोक में सुख से रह रहा है। जिसके श्लाघनीय चरित की सन्त और पूज्य विद्वान् प्रशंसा करते हैं, ऐसा वह पुण्यश्लोक महात्मा राजा स्वर्ग लोक को वश में करके वीर लोक को प्राप्त हुआ।[1]

व्यास जी द्वारा युधिष्ठिर को उपदेश

युधिष्ठिर को फिर भी दुःखी देखकर व्यासजी ने एक दार्शनिक दृष्टिकोण रखते हुए उन्हें फिर समझाया। इसे पर्याय-योग कहते थे और यह कालवाद का ही एक अंग था। व्यासजी का दर्शन महाभारत में कई-एक जगह कालवाद के रूप में आया है। पर्याय-योग का सारांश यह था कि कालचक्र रथ के पहिए की तरह घूमता है और उसमें सुख व दुःख वारी-वारी से आते-जाते हैं। न कर्म से और न शोच करने से कुछ होता है। विधाता ने काल का नियम ऐसा वनाया है कि पर्याय-योग अर्थात् अपनी वारी से सुख और दुःख, भाव और अभाव होते रहते हैं (कालेन सर्वं लभते मनुष्यः २६।५)। मन्त्र और औषधियाँ भी काल की अनुकूलता से ही फल देती हैं। न बुद्धि से कुछ होता है, न पढ़ने-लिखने से। काल से मूर्ख भी मालामाल हो जाता है (काले मूर्खोऽपि प्राप्नोति कदाचिदर्थान् २६।६)। शिल्प और मन्त्र का कुछ भी फल अभाग्य के समय नहीं होता। भाग्य के सीधे होने पर वे सब फल देते हैं। काल से ही आँधी चलती है और काल से वृष्टि होती है। काल से वन में वृक्ष

---

१. दैवीं सिद्धिं मानुषीं दण्डनीतिं, योगन्यायैः पालयित्वा महीं च।
तस्माद्राजा धर्मशीलो महात्मा, हयग्रीवो मोदते स्वर्गलोके॥२९॥

फलते हैं। काल से ही कृष्ण पक्ष की रात्रियां आती हैं और काल से ही चन्द्रमा पूरा खिल जाता है। विना काल के वृक्षों में फूल-फल नहीं आते। विना काल के नदियों में जल नहीं बहता। काल के विना स्त्रियां गर्भ धारण नहीं करतीं। शिशिर, गर्मी और वर्षा ये ऋतुएं विना काल के नहीं होतीं। विना काल के न कोई मरता है और न जन्म लेता है। विना काल के बच्चा बोलता भी नहीं। विना काल के यौवन नहीं आता। विना काल के बीज नहीं उगता। विना काल के सूर्य नहीं आता। विना काल के वह अस्त भी नहीं होता। विना काल के चन्द्रमा घटता-बढ़ता नहीं। विना काल के समुद्र में लहरें नहीं उठतीं (२६।१२)। काल से पके हुए सब मानव मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। काल के इस चक्र से कोई नहीं छूटता। लोक में ऐसा मानते हैं कि एक ने दूसरे को मारा और किसी और ने और किसी को मारा। यह तो "लौकिकी संज्ञा" या कहने की बात है। न कोई किसी को मारता है, न कोई मरता है। नियति या होनहार के वश में स्वाभाविक रूप से यह सब हो रहा है (२६।१६)।

इसके बाद व्यासजी ने शोक के विषय में कुछ वाक्य कहे। संसार में चारों ओर शोक-ही-शोक है। शोक और हर्ष के हजारों कारण प्रतिदिन मूर्ख के सामने आते हैं। पण्डित को वे नहीं छूते। प्रिय और अप्रिय वस्तुएं सुख और दुःख लाती रहती हैं। तृष्णा से दुःख होता है और दुःख के बाद सुख आता है। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आता है। किसी को सदा दुःख और किसी को सदा सुख नहीं रहता। सुख हो या दुःख, प्रिय हो या अप्रिय, जो कुछ आवे उसे हृदय की हार के विना सहना चाहिए। जो एकदम मूढ़ हैं या जो बुद्धि के पार निकल गये हैं, वे लोक में सुखी हैं। बीच के व्यक्ति तो क्लेश पाते हैं। इस प्रकार पहले के किसी सेनजित् राजा ने सुख-दुःख सम्बन्धी गाथाएं गाई थीं। उन्हें काल के पर्याय-योग में ग्रहण किया गया। सुख-दुःख, होना न होना, लाभ-हानि, जीवन-मरण

ये अपनी बारी से सब के पास आते हैं। इसलिए धीर पुरुष को चाहिए कि न हर्ष मनावे, न क्रोध करे।

यह सुनकर युधिष्ठिर का घाव जैसे फिर हरा हो गया और वह अपने सगे-सम्बन्धियों की मृत्यु के विषय में फिर कहने लगे। उन्होंने कहा, "राज्य के लिए मैंने अपने वंश का उच्छेद कर डाला। मैं गुरुघाती और पापी हूँ। मैंने राज्य के लोभ से भीष्म और द्रोण का वध करवाया ! यहाँ तक कि 'नरो वा कुंजरो वा' कह कर झूठ भी बोला। ऐसा दारुण कर्म कर मैं किस लोक में जाऊँगा ? जब मैंने अभिमन्यु को अकेले चक्रव्यूह में भेजकर मरवा डाला तब अर्जुन व कृष्ण को अपना मुंह दिखाने की हिम्मत मुझ में नहीं हुई।"

इसके बाद व्यासजी ने पर्यायवाद के ही एक दूसरे अंग की व्याख्या करते हुए कहा, "जितने संग्रह हैं, उन सबका क्षय अवश्यंभावी है। जितनी वस्तुएं ऊँचे चढ़ती हैं, वे अवश्य नीचे गिरती हैं। संयोग के बाद वियोग अवश्य आता है और जीवन के बाद मरण भी निश्चित है।" जब युधिष्ठिर बार-बार समझाने पर भी शान्त न हुए, तब व्यासजी ने उनका शोक दूर करने के लिए कुछ प्राचीन कथाएं सुनाईं। फिर कुछ उपदेश दिया। यह स्वभाववाद संज्ञक दार्शनिक मत था। इसीके अन्तर्गत सुख-दुःख और संयोग-वियोग का दृष्टिकोण आता था। स्वभाववाद के दार्शनिक मत का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् की सूची में आया है। विश्व का विधान स्वभाव से चल रहा है। वह किसी के लिए ठहरता या बदलता नहीं (२७।२०)। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि कालवाद और स्वभाववाद इन दोनों का परस्पर निकट का सम्बन्ध था। काल-पर्याय विचित्र है। इसमें आसन और शयन, ज्ञान और उत्थान, पान और भोजन सब भूतों के लिए काल के अनुसार निश्चित है। यहाँ वैद्य भी हैं, रोगी भी हैं। स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक भी हैं। कुल में जन्म, वीर्य, धैर्य्य, आरोग्य, सौभाग्य, उपभोग ये सब होनहार से ही मिलते हैं। दरिद्रों के न चाहने पर भी बहुत से पुत्र हो जाते हैं। धनिकों के

इच्छा करने पर भी नहीं होते। दरिद्र क्लेश पाता हुआ सौ वर्ष तक जीवित रह जाता है और धनी कुल में लोग पतिंगे की तरह चट-पट मर जाते हैं। लोक में हम देखते हैं कि धनिकों के पास भूख नहीं होती, जब कि निर्धन काष्ठ भी खाकर पचा डालते हैं। काल के प्रभाव से ही मनुष्यों में गुण-दोष आते हैं और सुख-दुःख भी प्रकट होते हैं। सब कुछ करने वाला काल है, पर मनुष्य अहंकार-वश अपने को कर्ता मान लेता है। न यह किसी का हुआ है और न कोई इसका है। सहस्त्रों माता-पिता पहले हुए और सहस्त्रों आगे होंगे। जैसे जल में तैरते हुए दो काष्ठ आकर मिलें और फिर अलग हो जायें ऐसे ही यहां प्राणियों का मिलन है।[1] जैसे रास्ता चलते लोग मिल जाते हैं वैसे ही स्त्री, पुत्र, मित्र आदि से मिलना है। परलोक को आज तक किसी ने अपनी आंख से नहीं देखा। जो आगमों में लिखा है, उसमें श्रद्धा करना ही मनुष्य के वश की बात है। इसलिए देवताओं के लिए यज्ञ और पितरों के लिए श्राद्ध करते रहना चाहिए।

मनुष्य अवश होकर काल के अधीन है। रात, दिन, पक्ष, अयन, वर्ष का फेरा लगा हुआ है। कोई काल से मुक्त नहीं है। आयुर्वेद पढ़ने वाले वैद्य और उनकी औषधियां हैं। साथ ही रोगी भी हैं, जो काषाय, और घी पीकर रहते हैं। काल से कोई नहीं छूटता। रसायन खाने वाले भी हैं, पर कोई बुढ़ापे से नहीं छूटा। ऐसे ही तप, स्वाध्याय, दान, और यज्ञ करने वाले भी हैं, पर जरा और मृत्यु से कोई नहीं बचा। काल और पर्याय के विषय में जनक और अस्मा ऋषि का सम्वाद सुनाकर व्यासजी ने विराम किया, पर युधिष्ठिर का भ्रम फिर भी न टूटा।

---

१. यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यतीतायां तद्वद्भूतसमागमः॥
(२८।३६)

कृष्ण द्वारा युधिष्ठिर को उपदेश

तब अर्जुन ने कृष्ण से स्थिति कही, "युधिष्ठिर ज्ञातिशोक में डूबे हुए हैं। आप ही उन्हें उबारने का कुछ यत्न कीजिये।" बालपन से ही युधिष्ठिर कृष्ण की बात नहीं टालते थे। कृष्ण ने युधिष्ठिर का शोक शान्त करने के लिए सृंजय और नारद की कहानी सुनाई। सृंजय का पुत्र मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसे पुत्र-शोक छोड़ता ही न था। नारद से उसकी भेंट हुई और नारद ने 'षोडषराजकोपाख्यान' या पहले मरे हुए सोलह राजाओं का चरित्र सुनाया। (२९।१६-१३५)

यह प्रकरण किसी अत्यन्त मेधावी कवि की रचना है। इसकी शैली और शब्दावली अत्यन्त उदात्त है। शान्तिपर्व में आई हुई यह सामग्री द्रोणपर्व में भी दोहराई गई है (अ० ५६-७१)। वहां वह प्रक्षिप्त सिद्ध हुई है। किन्तु सत्य तो यह है कि शान्तिपर्व में भी 'षोडषराजको-पाख्यान' गुप्तयुग मे जोड़ा गया था। वह उसके प्राचीन मूल संस्करण का अंग न था। नारद के मुख से इसका उपदेश सूचित करता है कि भागवत आचार्यों ने इस रचना को अपनाया। ज्ञात होता है संस्कृत युग के बन्दी या चारण ऊँचे स्वर से राजाओं के सामने उनका शोक दूर करने के लिए इसका पाठ करते थे। अवश्य ही इसे ऊँचे स्वर से पढ़ते हुए ऐसी तरंगें वातावरण में भर जाती हैं जिनसे दुःखी व्यक्ति के मनोभावों पर प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति की शोकवृत्ति में परिवर्तन लाने में वे छन्द उपयोगी थे। इस उत्तम काव्य का सार इस प्रकार है :—

१. हे सृंजय, हमने सुना है कि आविक्षित मरुत्त राजा भी मृत्यु को प्राप्त हो गया, जिसके विश्वसृज् यज्ञ में इन्द्र, वरुण, बृहस्पति आदि देवों ने भाग लिया था। उसने जब इन्द्र से स्पर्धा की तो बृहस्पति ने उसे यज्ञ कराना अस्वीकार कर दिया। तब संवर्त ऋषि ने उसके लिए यज्ञ कराया। उसके राज्य में पृथिवी बिना कृषि के अन्न उत्पन्न करती थी

और चारों ओर अनेक चैत्य स्तूप बने हुए थे (पृथिवी चैत्यमालिनी)। उसके यज्ञ में विश्वेदेव सभासद बने। श्राद्धगण परोसने लगे। मरुतों ने सोमपान किया। इतनी अधिक दक्षिणा दी गई कि देवता, गन्धर्व और मनुष्य उसे पूरी तरह न ले सके। हे शृंजय, तुम्हारे पुत्र से कहीं अधिक पुण्यवान् जब वह राजा मर गया तो तुम अपने पुत्र के लिए शोक मत करो।

२. राजा सुहोत्र वैतिथिन भी मर गया, जिसके राज्य में इन्द्र ने वर्ष भर सोना बरसाया था, जिससे पृथिवी का वसुमती नाम चरितार्थ हुआ। (स्वर्ग से स्वर्ण-वृष्टि का यह अभिप्राय रघुवंश, दिव्यावदान आदि गुप्त युग के ग्रन्थों में पाया जाता है।) कहते हैं, इन्द्र ने सोने के कछुए, मछली, मगरमच्छ, कर्कट और सूँस बनाकर नदियों को भर दिया था। तब राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा ने वह धन यज्ञ द्वारा ब्राह्मणों को दे दिया। हे शृंजय, तुम्हारे पुत्र से कहीं अधिक पुण्यवान् जब वह भी मर गया तो तुम अपने पुत्र के लिए शोक मत करो।

३. सुना जाता है कि अंग देश का राजा बृहद्रथ भी मर गया, जिसने सैकड़ों सहस्रों श्वेत अश्व और कन्याओं का संग्रह किया और यज्ञ करके पुकार-पुकारकर दक्षिणा दी। शत-सहस्र वृषभ और गौओं की दक्षिणा ब्राह्मणों को बुलाकर दी और विष्णुपद पर्वत पर यज्ञ किया। उसके यज्ञों में सोमपान करके इन्द्र को मद हो गया। वैसा दानी न पहले हुआ और न आगे होगा। यदि वह भी मर गया तो तुम अपने पुत्र के लिए शोक मत करो।

४. सुनते हैं कि उशीनर देश का राजा शिवि भी मर गया, जिसने इस समस्त भूमि को चमड़े की तह से लपेट दिया था और अपने रथ की झंकार से धरती गुंजा दी थी। उसके जयनशील रथ पर केवल एक छत्र विराजता था। उसने यज्ञों में अनेक-संख्यक गौएँ दक्षिणा में दीं। वह भी मर गया।

५. सुनते हैं दुःष्यन्त का पुत्र भरत भी मर गया, जिसने तीस अश्वमेध यज्ञ यमुना के किनारे, बीस सरस्वती के तटपर और चौदह गंगा के तटपर किये। भरत के महत कर्म का यश स्वर्ग तक छा गया। उसने वेदी में सहस्त्रों अश्व बांधकर कण्व ऋषि को दिये। जब वह भी मर गया तो तुम अपने पुत्र का शोक क्यों करते हो?

६. सुनते हैं कि दशरथ का पुत्र राजा राम भी मर गया जिसने सदा प्रजा का अपने औरस पुत्रों की भांति पालन किया। राजा राम के शासन में मेघ समय पर वृष्टि करते थे और सदा सुभिक्ष बना रहता था। न कोई पानी में डूबता था, न कोई आग में जलता था। सब लोग नीरोग और पूर्णकाम थे। स्त्रियों में भी विवाद नहीं था पुरुषों की तो बात ही क्या? प्रजाएँ नित्य धर्म का पालन करती थीं। गौएँ कलसे भरकर दूध देती थीं। राम ने चौदह वर्ष वन में बिताये और दस अश्वमेध यज्ञ किये। वह भी मर गया तो तुम अपने पुत्र के लिए क्यों शोक करते हो?

७. सुनते हैं राजा भगीरथ भी मर गया, जिसके यज्ञ में इन्द्र सोम-पान करके मदमत्त हो गये थे। उन्होंने सहस्रों असुरों पर विजय प्राप्त कर ली। उसने यज्ञ में सहस्त्रों कन्याएँ दक्षिणा में दीं। प्रत्येक कन्या रथवाहन पर बैठी थी। प्रत्येक रथ के पीछे अनेक हाथी-घोड़े थे। जब वे पर्वत की गुफा में तपकर रहे थे, गंगा भागीरथी बनकर उनकी गोद में आकर बैठी। त्रिलोकपावनी गंगा को उन्होंने अपनी दुहिता बनाया। जब वह भी मर गये तो तुम क्यों शोक करते हो?

८. सुनते हैं कि राजा ऐलविल दिलीप भी मर गया, जिसके यज्ञों का वर्णन ब्राह्मण आज भी करते हैं। उसने अपने महायज्ञों में सुवर्ण-मण्डित हाथियों का दान दिया। उसके यज्ञ में सोने का महायूप लगाया गया। उस यूप में सोने का चषाल या छल्ला था जिसपर इन्द्रादिदेव बैठे थे। उस यज्ञ में विश्वावसु गन्धर्व ने स्वयं नृत्य-गान और नाट्य-संगीत का आयोजन किया। सब लोग यही समझते थे कि वह संगीत उन्हीं के

लिए हो रहा था। कोई राजा दिलीप का अनुकरण नहीं कर सका। दिलीप के राज्य में पहनी-ओढ़ी स्त्रियाँ नशे में चूर होकर मार्ग पर सो जाती थीं, पर उन्हें कोई छेड़ता न था। ऐसे सत्यवादी और उग्रधन्वा दिलीप भी स्वर्ग को चले गये। दिलीप के आंगन में स्वाध्याय-घोष, प्रत्यञ्चा-घोष और 'दान-करो, दान-करो' ये तीन शब्द कभी कम न होते थे। यदि वह मर गया, तो तुम अपने पुत्र का शोक क्यों करते हो?

९. सुनते हैं कि युवनाश्व का पुत्र मांधाता भी मर गया जो पिता युवनाश्व के जठर में वृद्धि को प्राप्त हुआ था। मरुत देवों ने पिता के गर्भ के पार्श्व भाग से उसे निकाला था। वह अपने पिता द्वारा यज्ञ के पृषदाज्य खा लेने से उत्पन्न हुआ था। वह त्रिलोक-विजयी हुआ। उसे मृत पिता की गोद में लेटे हुए देखकर देवों ने आपस में कहा, "यह किसका दूध पियेगा?" तब इन्द्र ने कहा, "यह मेरा दूध पियेगा।" इसी से उसका 'मांधाता' नाम पड़ा। उस महात्मा यौवनाश्व की पुष्टि के लिए इन्द्र के हाथ से दूध की धार बहने लगी। तब वह प्रतिदिन उस धार का पान करने लगा और बारह दिन में ही ऐसा हो गया जैसे बारह वर्ष का हो। यह सारी पृथिवी एक दिन में ही उस धर्मनिष्ठ महात्मा के अधिकार में आ गई। वह युद्ध में इन्द्र के समान शूर-वीर था। उसने अंगार, मरुत्त, गय, बृहद्रथ, आदि राजाओं को युद्ध में जीत लिया। जब मांधाता ने अंगार से युद्ध किया तो उसके धनुष की टंकार से देवों ने समझा कि आकाश फट गया। सूर्योदय से सूर्यास्त तक का जितना विस्तार है सभी मांधाता के राज्य में था। सैकड़ों अश्वमेध और राजसूय यज्ञ करके उसने रोहू मछलियों के दान से मिथिला के ब्राह्मणों को तृप्त कर दिया। यहाँ तक कि एक योजन ऊँचा और दस योजन लम्बा सोने का ढेर अन्य लोगों ने द्विजाति से अतिरिक्त और लोगों को बांटा। हे सृंजय! जब वह मर गया, तो अपने पुत्र का शोक क्यों करते हो?

१०. सुनते हैं कि नहुष का पुत्र राजा ययाति भी मर गया, जिसने समुद्र के साथ इस पृथिवी को जीत कर एक-एक शम्यापात को दूरी

पर यज्ञ वेदियों का निर्माण कराया था, और, पवित्र यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए समस्त पृथिवी की परिक्रमा की थी। सहस्रों सोम, क्रतु और सैकड़ों अश्वमेव यज्ञ करके उसने तीन सुवर्ण पर्वतों से इन्द्र को प्रसन्न किया। देवासुर-संग्राम में असुरों को मार कर नहुषपुत्र ययाति ने समस्त पृथिवी को दान में दे दिया। अन्त में अपने ज्येष्ठ पुत्र यदु, द्रुह्यु, तुर्वसु, और अनु को अलग करके कनिष्ठ पुत्र पुरु का राज्याभिषेक किया। अरे सृंजय, जब वह भी मर गया तब तुम पुत्र-शोक क्यों कर रहे हो ?

११. सुनते हैं कि नाभाग का पुत्र अंवरीष भी मर गया। उसे प्रजा ने अपना गोप्ता चुना था। उसने सहस्र-सहस्र दक्षिणाओं से यज्ञ करके ब्राह्मणों को संतुष्ट किया। न तो पहले लोगों ने ऐसा किया और न आगे कोई करेगा। इस प्रकार नाभाग अम्बरीष द्वारा प्रदत्त दक्षिणाओं की कीर्ति है। सहस्रों, सैकड़ों अश्वमेध यज्ञों से यजन करने वाले राजा उसकी प्रदक्षिणा करते थे। हे सृंजय, वह भी मर गया, तब तुम पुत्र-शोक क्यों करते हो ?

१२. सुनते हैं कि चित्ररथ का पुत्र राजा शशविन्दु भी मर गया, जिसकी सहस्रों भार्या और शतसहस्र शाशबिन्दव नामक पुत्र थे। वे सब सोने का कवच पहनते और उत्तम धनुष धारण करते थे। एक-एक राज-पुत्र के पीछे सौ-सौ कन्याएं गमन करती थीं। एक-एक कन्या के पृष्ठभाग में सैकड़ों हाथी और उनके पीछे सैकड़ों रथ रहते थे। और, एक-एक रथ के पीछे सुवर्ण की माला पहने सौ-सौ अश्व रहते थे। एक-एक अश्व के पीछे सौ-सौ गाएं और एक-एक गौ के पीछे सौ-सौ वकरियाँ रहती थीं। इस प्रकार का अपरिमित धन 'महामख' नामक अश्वमेध यज्ञ में महाराजा शशविन्दु ने ब्राह्मणों को दिया। हे सृंजय, वह भी मर गया तव तुम पुत्र-शोक क्यों कर रहे हो ?

१३. सुनते हैं कि अमूर्तरय का पुत्र राजा गय भी मर गया जिसने सौ वर्ष तक यज्ञ का उच्छिष्ट भोजन किया था। अग्नि से उसने वर मांगा—'दान देते हुए मेरे यहां वस्तुएं अक्षय बनी रहें, धर्म में मेरी

श्रद्धा की वृद्धि हो। हे अग्नि देव! आपकी कृपा से मेरा मन सत्य में हमेशा रमता रहे।" दर्श, पौर्णमास और चातुर्मास्य के वारंवार अनुष्ठान से उस महातेजस्वी ने सहस्र वर्षों का आयुष्य प्राप्त किया। शत गौवें और शत-शत अश्वों का उसने प्रतिदिन सहस्र संवत्सर तक दान किया। उसने सोमपान से देवों को और धन से ब्राह्मणों को तृप्त किया। पितरों को स्वधाकार से और स्त्रियों को इच्छा-पूर्ति से संतुष्ट किया। उस राजा ने महीमख वाजिमेध में दस व्याम से वीस व्याम तक की पृथिवी को सोने से मढ़वाकर दान दिया। गंगा में बालू के जितने कण हैं उतनी गौएं राजा आमूर्तरयस गय ने दान में दीं। हे शृंजय! वह भी मर गया तव तुम पुत्र शोक क्यों करते रहो?

१४. सुनते हैं कि संकृति का पुत्र रन्तिदेव भी मर गया जिसने इन्द्र को भली प्रकार संतुष्ट करके यह वर प्राप्त किया था—"हमारे यहाँ अन्न की वहुतायत हो और अतिथि वरावर आते रहें। हमारे हृदय से श्रद्धा का कभी लोप न हो और हम किसी से याचना न करें।" ग्राम्य और आरण्य पशु स्वयं महात्मा रंन्तिदेव के यहां चले आते थे। उसके यज्ञों में जो चर्मराशि या चमड़े का ढेर इकट्ठा हुआ उससे चर्मण्यवती नामक नदी वह निकली। उसने यज्ञ का वितान होने पर प्रत्येक ब्राह्मण को एक-एक सुवर्णमय निष्क दिया। कभी-कभी वह एक-एक सहस्र निष्क भी देता था। 'अन्वाहार्य' पचन नामक अग्नि के उपकरणों के रूप में घट, थाली, कड़ाह, पात्री और पिठर ये सब बर्तन उसके यहाँ सोने के ही थे। सांकृत्य रन्तिदेव के यहां जो रात को रहता था, उसको सौ गायों की दक्षिणा दी जाती थी। उसके यहां एक दिन के आतिथ्य की दक्षिणा सौ गायें थीं। कानों में चमकते मणि-कुण्डल पहने हुए रसोइये इस बात को पुकार-पुकार कर कहते थे कि अब पहले जैसा मांस-पुलाव नहीं रहा। अब सूप के साथ भात का भोजन कीजिये। हे शृंजय, वह भी मर गया। अब तुम पुत्र का शोक क्यों करते हो?

१५. सुनते हैं कि इक्ष्वाकुवंशी महात्मा, राजा सगर भी मर गया। उसके पीछे साठ सहस्र पुत्र चलते थे। वह एकछत्र पृथिवी का शासक हो गया। उसने सहस्र अश्वमेधों से देवताओं को प्रसन्न किया। उसने काञ्चन स्तम्भ और सुवर्णमय प्रासाद का दान किया, जो अनेक स्त्रियों के शयनागारों से पूर्ण था। उसने अनेक ब्राह्मणों की इच्छाएं पूर्ण कीं। उसने क्रोध में भरकर पृथिवी को खुदवा डाला और वही समुद्र हो गया। उसी के नाम से समुद्र की संज्ञा 'सागर' है। हे सृंजय, जब वह भी मर गया तब तुम पुत्र-शोक क्यों करते हो ?

१६. सुनते हैं कि वेन का पुत्र राजा पृथु भी मर गया जिसका महर्षियों ने जंगल में एकत्र होकर यह सोचकर अभिषेक किया था कि यह लोकों का 'प्रथन' या विस्तार करेगा। इसी कारण उसका नाम पृथु पड़ा। यह हमें 'क्षत्' या संकटों से बचायेगा, इसीलिए वह क्षत्रिय कहलाया। वैन्य पृथु के दर्शन करके प्रजाओं ने कहा कि हम इससे प्रसन्न हैं। प्रजाओं के अनुराग के कारण ही उसकी उपाधि राजा हुई। उसके राज्य में पृथिवी बिना जोते-बोए अन्न उत्पन्न करती थी और जगह जगह छत्ते शहद से भरे हुए थे। वैन्य के राज्य मे गौवें कलसे भर कर दूध देती थीं या गौओं के दूध से कलसे भर जाते थे। सब मनुष्य नीरोग, पूर्णकाम और निर्भय थे। जब वह दिग्विजय के लिए प्रस्थान करता तो नदियां अपना प्रवाह रोककर उसे मार्ग देती थीं। उसके मार्ग में किसी अन्य राजा का ध्वज न टकराता था। उस राजा ने महायज्ञ अश्वमेध में सुवर्ण के तीन ढेर और इक्कीस पर्वत दान दिये। हे सृंजय वह भी मर गया तब तुम पुत्र-शोक क्यों करते हो ?

इतना सुनाकर नारद ने पूछा—"हे सृंजय, तुम चुप क्यों हो ? क्या यह सब मैंने व्यर्थ ही कहा ?" तब सृंजय ने उत्तर दिया, "हे महर्षि आपका यह शोक दूर करने वाला कथन सुनकर मुझे बहुत शान्ति मिली है। राजर्षियों के ये दृष्टान्त तो अमृत के घूंट हैं, जिन्हें पीकर मैं तृप्त हो गया।"

इसके बाद युधिष्ठिर ने कृष्ण से पुनः सृंजय के सुवर्णनिष्ठीवि पुत्र के विषय में पूछा कि वह कैसे सोना उगलने लगा था, किस कारण से मर गया और फिर कैसे जी उठा। यह कहानी अध्याय ३०-३१ में वर्णित है। इसका सार यह है कि बहुत इच्छाओं के बाद देवाराधन से राजा सृंजय को पुत्रलाभ हुआ। पांच वर्ष की आयु में ही उसे वन में बाघ ने खा लिया। तब सृंजय के बहुत विलाप करने पर नारद ने उसे जीवन-दान दिया। इस कहानी की पुष्टि स्वयं नारद ने युधिष्ठिर से की।

युधिष्ठिर को मौन देखकर फिर व्यासजी ने राजधर्म के अन्तर्गत कर्म के महत्त्व का ही वर्णन किया और साथ में यह भी कहा कि अच्छे-बुरे कर्मों का फल कर्म करने वाले को ही भोगना पड़ता है इसलिए उन्हें अपने कर्म का प्रायश्चित करना चाहिए। (३४।२४)

इस कथन में व्यासजी ने प्रायश्चित का संकेत तो किया, पर क्या प्रायश्चित करना चाहिए यह नहीं बताया। तब युधिष्ठिर ने अपने पाप का लम्बा-चौड़ा वर्णन किया। उसके उत्तर में व्यासजी ने अपने पुनः कालपर्याय दर्शन का वर्णन किया और जब उनकी सब युक्तियां समाप्त हो गईं तो अन्त में वह खुले और कहा, "तुम्हारे इस पाप का प्रायश्चित तो अश्वमेध यज्ञ ही है—अश्वमेधो महायज्ञः प्रायश्चित्तमुदाहृतम्। (३४।२६) उस अश्वमेध को करने से तुम पाप मुक्त हो जाओगे। इन्द्र ने भी असुरों को मारकर ऐसा ही किया था। तब अश्वमेध करके उसने शतक्रतु संज्ञा प्राप्त की थी।" व्यासजी ने वह दूसरी बात भी दुहराई कि अपने भाई, पुत्र और पौत्रों के साथ विविध नगरों और राष्ट्रों में जाकर तुम उनका वहाँ अभिषेक कर दो। गर्भस्थ बालकों को भी राज्य दो। सब प्रजाओं का रंजन करते हुए पृथिवी का पालन करो। कुमार न हों तो कन्याओं का ही अभिषेक करो। स्त्रियों की भी इच्छाएं होती हैं। इससे उनका शोक मिट जायगा। इस प्रकार सब राष्ट्रों का आश्वासन करके तब तुम्हें अश्वमेध यज्ञ करना चाहिए।

जब व्यासजी ने प्रायश्चित रूप में अश्वमेध की बात कही तो महा भारत के लेखक ने बहुत से दूसरे पापों के प्रायश्चित का प्रकरण यह लाकर रख दिया। युधिष्टिर को उसकी कोई आवश्यकता न थी। अवश ही अध्याय ३५,३६ और ३७, जो प्रायश्चित से सम्बन्ध रखते हैं, इ प्रकरण में नितांत प्रक्षिप्त हैं। लेखक ने प्रायश्चित-कथन के सा भक्षाभक्ष्य का पुछल्ला भी लगा दिया (प्रायश्चित्तकथा ह्येषा भक्ष्याभक्ष विवर्धिता)। व्यास के वचन सुनकर युधिष्ठिर का मन कुछ तो आश्वस हुआ, किंतु उनके मन में यह शंका तो बनी ही रही कि राजा के द्वार राजशास्त्र और धर्मचर्या इन दोनों का मेल कैसे बैठाया जा सकता है इस पर व्यासजी ने सलाह दी कि युधिष्ठिर को भीष्म के पास जाक राजशास्त्र सुनना चाहिए। उन्होंने कहा—"भीष्म ने इन्द्रादि देवों क साक्षात् दर्शन किया है। उन्होंने वृहस्पति आदि देवर्षियों के राजशास्त्र क अनेक वार अध्ययन किया है। उशना जिस राजशास्त्र को जानते उसको व्याख्या के सहित भीष्म ने पढ़ा है। भार्गव च्यवन से उन्हों अंगों-सहित वेदों का अध्ययन किया है। महाबुद्धि भीष्म ने व्रतों पारंगत वशिष्ठ से भी वेद-ज्ञान प्राप्त किया है। ब्रह्मा के पुत्र ऋषि सनक से भीष्म ने अध्यात्म विद्या सीखी। ऋषि मार्कण्डेय के मुख भीष्म ने यतिधर्म का ज्ञान प्राप्त किया। परशुराम और इन्द्र से उन्हों अस्त्रों की प्राप्ति की। यद्यपि वे मनुष्य-योनि में उत्पन्न हुए हैं, किन्तु मृत्यु उनकी इच्छा की वशी है। ब्रह्मर्षि नित्य उनके सभासद थे। ज्ञा और ज्ञेय में कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसे वे न जानते हों। वे भीष्म ध के सूक्ष्म तत्त्व के वेत्ता हैं। अब वे ही तुमसे धर्मों का वर्णन करेंगे इसके पहले कि वे वह अपने प्राण छोड़ें तुम उनके पास पहुँच जाओ।"

यह सुनकर युधिष्ठिर ने व्यासजी से कहा, "घोर मार-काट कर मैंने ज्ञातियों (सगे-सम्बन्धियों) का बध कराया और फिर छल से भीष्म को भी शर शैय्या पर लिटा दिया। अब मैं किस मुँह से उनके पा जाऊं?" (३८।१९)। इस पर कृष्ण ने राजा को समझाते हुए कहा, "यदि

तुम अपने लिए न भी जाना चाहो तो भी चारों वर्णों के हित की दृष्टि से तुम्हें भीष्म के पास जाना चाहिए, क्योंकि वे सबके लिए हितकारी धर्मों का उपदेश करेंगे। तुम्हारा मन शोक में डूबा हुआ है। इस विषय में हठ मत करो। व्यासजी ने जैसा कहा है तुम्हें वैसा करना उचित है। ब्राह्मण, प्रजाजन, कुटुम्बी, ज्ञाति, बान्धव, मित्र एवं सुहृद, सबका इससे हित होगा।" कृष्ण की बात सुनकर राजा ने नगर-प्रवेश की आज्ञा दी।

युधिष्ठिर का हस्तिनापुर में प्रवेश

प्रजाओं ने उनके स्वागत के लिए नगर को सजाया। धृतराष्ट्र और गान्धारी का रथ उनके आगे चला। युधिष्ठिर के रथ में सोलह बैल जोते गये। वह पाण्डु-कम्बल और व्याघ्राजिन से मढा था। भीम ने बागडोर संभाली, अर्जुन ने छत्र हाथ में लिया। नकुल-सहदेव ने व्यजन और चमर लिये। इस प्रकार पांचों भाई एक बड़े रथ में बैठकर नगर में प्रविष्ट हुए। नगर का द्वार खूब सजाया गया था। सात्यकि और कृष्ण का रथ उनके पीछे चला। द्रौपदी, कुन्ती एवं अन्य कुरुकुल की स्त्रियां विदुर के पीछे-पीछे रथों में चलीं। पृष्ठ भाग में अनेक रथ और हाथियों की सवारियां थीं। इससे वह जलूस लम्बा हो गया। अनेक वैतालिक, सूत और मागध राजा के लिए सुभाषित पढ़ने लगे। इस प्रकार प्रयाण करते हुए युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर में प्रवेश किया। इससे सब लोग प्रसन्न हो उठे। राजमार्ग पर पताकाएं फहराई गईं। वेदियां बनाई गईं एवं सुगन्धियों से युक्त धूप जलाई गई। अनेक गंध-पुष्प और मालाओं से राजवेश्म अलंकृत किया गया। नगर-द्वार में जलपूर्ण कुम्भ रक्खे गए एवं मांगलिक द्रव्य लिए कन्याएं खड़ी हुईं।

स्त्रियां विशेषकर द्रौपदी की प्रशंसा कर रही थीं जिसने अनेक कष्ट सहे थे। राजमार्ग के चतुष्पथ पर बना हुआ चत्वर या मञ्च सुशोभित हुआ। वहां से राजा ने राजकुल में प्रवेश किया। रथ से उतर कर वे पहले भीतर गये और फिर शीघ्र ही बाहर आकर उन्होंने ब्राह्मणों का सम्मान

किया। राजमार्ग स्त्री-पुरुषों की भीड़ से भर गया था। उन्हीं ब्राह्मणों में एक चार्वाक मतानुयायी भी था, जो अपने को दुर्योधन का मित्र मानता था। उसने आगे बढ़कर युधिष्ठिर को फटकारा, "तुम जातिवध करने वाले पापी हो, तुम राज्य के योग्य नहीं।" उसके कठोर वचन सुनकर युधिष्ठिर तिलमिला उठे और उन्होंने कहा "मैं स्वयं दुःखी हूँ। मेरे लिए आप ऐसे वचन मत कहिये।" ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर के विषय में इस प्रकार का मत रखने वाले भी उस समय कुछ लोग थे। यह तो स्पष्ट लिखा है कि युधिष्ठिर की भी अपने विषय में कुछ ऐसी ही भावना थी। ऐसे स्पष्टवादी ब्राह्मण को महाभारत के लेखक ने राक्षस विशेषण देते हुए लिखा है कि दूसरे ब्राह्मणों ने उसे वहीं नोंच डाला। इससे राजा प्रसन्न हुए। यहां कृष्ण को भी कुछ सफाई देनी पड़ी। उन्होंने कहा, "इस चार्वाक ने सतयुग में बदरीनाथ में बहुत तपस्या करके ब्रह्माजी से यह वर प्राप्त किया था कि वह देवता और मनुष्यों से अभय हो जाय। तब से वह सबको दुःख दे रहा था। अच्छा हुआ जो यह आज ब्रह्म-कोप से ठिकाने लग गया (स एष निहतः शेते ब्रह्मदण्डेन राक्षसः ३९।४७)। तुम क्षत्रियों के वध का शोक मत करो। वे तो क्षात्र धर्म के अनुसार मारे गए। तुम अपने मन की ग्लानि दूर करके प्रजापालन के कर्म में निरत हो।"

थोड़ा सा ही खुरचने से यह समझा जा सकता है कि चार्वाक की यह कहानी किसी भागवत लेखक ने भोंडे रूप में यहां जोड़ दी थी। स्वतन्त्र विचार रखने वालों का लोकायत दर्शन इस देश में अत्यन्त प्राचीन काल से था। कोई भी उनकी चुटकी या आलोचना से बच नहीं पाता था।

इसके बाद कृष्ण के कहने से पुरोहित धौम्य ने सबकी उपस्थिति में युधिष्ठिर का राज्याभिषेक किया और युधिष्ठिर ने अपना महान् राज्य विधिवत् प्राप्त किया। (अ० ४०)

यहां प्रजाओं की सान्त्वना के लिए युधिष्ठिर ने कुछ वाक्य कहे— "पाण्डव लोग धन्य हैं जिनका गुणगान ब्राह्मण कर रहे हैं। मैं तो धृतराष्ट्र

की सेवा के लिए जीवित हूं। आप भी उन्हें ही अपना स्वामी समझिये (एष नाथो ह जगतो भवतां च मया सह ४१।७)। इनके प्रति आप पहले जैसा भाव बनाये रखिये। समस्त पृथिवी और पाण्डव इन्हीं के हैं, मेरा यही कहना है। आप लोग इनका अनुगमन करके अपने-अपने स्थान को जायं।" इसके वाद युधिष्ठिर ने भीमसेन को युवराज पद दिया, मन्त्र-षाड्गुण्य विचार विदुर को, कृताकृतपरिज्ञान और आय-व्यय चिन्तन संजय को, सेना की संख्या और उसके लिए भक्त-वेतन का प्रवन्ध नकुल को, परचक्र का उपरोध और उपमर्दन अर्जुन को, ब्राह्मणों से सम्बन्धित वैदिक कार्य धौम्य को सौंपा। सहदेव को अंगरक्षक के रूप में अपने पास रहने का आदेश दिया। और जिसको जिस कर्म के योग्य समझा उसको वैसी आज्ञा दी।

इसके वाद युधिष्ठिर ने कर्ण, द्रोण आदि सवके लिए और्ध्वदेहिक श्राद्ध कर्म किए। (अ० ४२)

जव युधिष्ठिर ने अपना राज्य पुनः पा लिया तो उनके लिए यह आवश्यक था कि कृष्ण की प्रशंसा में कुछ शब्द वे कहें, "हे कृष्ण, आपके प्रसाद, नीति, वल, वुद्धि, विक्रम से मैंने अपना पितृ-पैतामह राज्य फिर पा लिया।" किन्तु ऐसे अनुकूल अवसर पर किसी भागवत लेखक ने कृष्ण का एक सार-गर्भित स्तोत्र जोड़ दिया है जिसमें विश्वकर्मा, पृश्नि-गर्भ, धृतार्चिः, हंस, शिपिविष्ट, उरुक्रम, वाजसनि, सिन्धुक्षित्, त्रिवृत्, कृष्णवर्त्मा, वृषाकपि, हिरण्यगर्भ, पतंग आदि वैदिक विशेषणों के साथ कृष्ण, अच्युत, सात्वत, केशव आदि लौकिक संस्कृत के शब्द भी हैं। इस प्रकार वेद और लोक दोनों का अध्ययन करके ऐसे स्तोत्र बनाये जाते थे। भागवत में भी वे कई जगह आये हैं। यह स्तोत्र गुप्त युग में विकसित संस्कृत भाषा की समृद्धि का उदाहरण है (अ० ४३)। यह ५१ नामों का स्तोत्र है।

तब युधिष्ठिर ने अर्जुन आदि अपने भाइयों से कहा—"आप

लोगों ने वन में और रण में बहुत कष्ट सहे हैं। अब विश्राम कीजिये।" युधिष्ठिर के कहने और धृतराष्ट्र की अनुमति से भीम ने दुर्योधन के भवन में प्रवेश किया। अर्जुन ने दुःशासन के भवन में, नकुल ने दुर्मर्षण के और सहदेव ने दुर्मुख के भवन में राजा की आज्ञा से प्रवेश किया। सात्यकि के साथ कृष्ण ने अर्जुन के भवन में जाकर भोजन किया और फिर युधिष्ठिर के पास आये।

: ७० :

युधिष्ठिर का भीष्म के पास जाना

अध्याय ४६ में वर्णन है कि युधिष्ठिर ने कृष्ण की प्रशंसा में कुछ वाक्य कहे, जिन्हें सुनकर कृष्ण ने कुछ उत्तर नहीं दिया वल्कि मन की समाधि में चले गए। इस पर आश्चर्य से युधिष्ठिर ने इसका कारण पूछा। कृष्ण ने उत्तर दिया—"भीष्म इस समय शरशय्या पर पड़े हुए बुझती हुई अग्नि की भांति शान्त हो रहे हैं और वे हृदय से मेरा स्मरण कर रहे हैं। अतः मेरा मन उन्हीं के पास चला गया है। तुम भी उन्हीं के पास चलो! चारों वेद, चारों ऋत्विज, चारों आश्रम और चारों वर्णों के धर्मों को उनसे पूछो। कौरवों में धुरन्धर उन भीष्म के अस्त हो जाने पर जितने ज्ञान हैं सब स्वल्प हो जायंगे। इसलिए मैं तुम्हें उनके पास चलने की प्रेरणा कर रहा हूँ (४६।२३)।" यह सुनकर युधिष्ठिर की आंखों में आंसू आ गये और उन्होंने कहा—"आपने भीष्म के लिए जो कहा सब ठीक है। वैसा ही ब्राह्मणों के मुख से हमने भी सुना है। मैं आपके साथ भीष्म के दर्शन करना चाहता हूँ। सूर्य के उत्तरायण होने पर फिर वह जीवित नहीं रहेंगे।"

तब कृष्ण ने सात्यकि से अपना रथ तैयार करवाने को कहा और सात्यकि से सूचना पाकर उनका सारथी दारुक रथ ले आया।

कृष्ण को साथ लेकर युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र में वहां गये जहां भीष्म शरशय्या पर पड़े हुए थे। उनके दल में चारों भाई और कृपाचार्य आदि गुरुजन भी थे। इस कथा-प्रवाह के बीच में एक विचित्र प्रकरण अध्याय ४७ में पाया जाता है, जो सर्वथा किसी भागवत भक्त द्वारा उपबृंहित गुप्त युग की रचना है। इसका नाम भीष्म स्तवराज है।

: ७१ :

भीष्म स्तवराज

ऊपर कहा जा चुका है कि कृष्ण का मन समाधि की अवस्था में आ गया था और वे भीष्म का चिन्तन कर रहे थे। उधर भीष्म भी जो कुरुक्षेत्र में थे, मन की समाधि दशा में आ गये और प्राञ्जलि मुद्रा में कृष्ण का ध्यान करने लगे (शरतल्पगतः कृष्णं प्रदध्यौ प्राञ्जलिः स्थितः)। ध्यान की उस दशा में उन्होंने कृष्ण के लिए एक अत्यन्त विलक्षण स्तोत्र पढ़ा। वह भीष्म स्तवराज (अ० ४७।१०-६०) के नाम से प्रसिद्ध है। इसे भगवद्गीता और विष्णुसहस्रनाम के समान समझा जाता है। इसमें संदेह नहीं कि अध्याय ४६ के अन्त और अध्याय ४८ के आरम्भ का सम्बन्ध शब्दशः मिला हुआ है। उनके बीच आया हुआ भीष्म स्तवराज उत्तरकालीन रचना है, यह उसकी शैली और शब्दावली से प्रकट है।

इस स्तोत्र के भावों की प्रशंसा शब्दों में करना कठिन है। स्तोत्र के आरम्भ के १२ श्लोकों में भगवान् के नामों की सूची (अ० ४७, श्लोक

११-२२) हैं, जैसे शुचि, शुचिषद्, हंस, परमेष्ठी, आत्मा, प्रजापति, भूतेश, विश्वकर्मा, सहस्रशीर्षा, सहस्रपाद्, सहस्रचक्षु, नारायण, सत्यकर्मा, सात्वतपति इत्यादि।

इसके बाद श्लोक २३ से ५४ तक की शैली भिन्न है। वह स्वतन्त्र 'नमःस्तोत्र' है। ३२ श्लोकों में ग्रथित होने के कारण उस युग में इसकी द्वात्रिंशिका के रूप में रचना की गयी थी। उसे 'नमःस्तव-द्वात्रिंशिका' कहा जा सकता है। प्रत्येक श्लोक के अन्तिम चरण में भगवान् के एक-एक रूप का वर्णन चतुर्थी विभक्ति के साथ जुड़े हुए नमः शब्द से है। जैसे सूर्यात्मने नमः, सोमात्मने नमः, वेदात्मने नमः, ज्ञानात्मने नमः, हंसात्मने नमः आदि।

यह तो एक द्वात्रिंशिका है। किन्तु गुप्त युग में ३२ द्वात्रिंशिकाओं की भी रचना की जाती थी। उनकी श्लोक संख्या ३२ × ३२ = १०२४ होती थी। सिद्धसेन दिवाकर ने विभिन्न विषयों को लेकर बत्तीस बत्तीसियाँ लिखी थीं। पुष्पदन्त गन्धर्व का शिवमहिम्न स्तव भी द्वात्रिंशिका स्तोत्र ही है। भीष्म स्तवराज की रचना चौथी शती में, और महिम्न स्तव की रचना पाँचवीं शती में हुई, ऐसा अनुमान समीचीन ज्ञात होता है।

भीष्म स्तवराज द्वात्रिंशिका का पाठ मन और प्राणों को शक्ति देने वाला है। विश्व की रचना में भगवान् की जो शक्तियां हैं, उनके स्वरूप का इसमें ध्यान करके उन्हें प्रणाम भाव अर्पित किया गया है। इस प्रकार हैं—

१. अदिति देवमाता ने जिस हिरण्यगर्भ को १ से १२ रूपों में द्वार और जो दैत्यों का संहार करनेवाला है, उस सूर्यात्मा को नमस्कार है।

२. जो शुक्लपक्ष में देवों को और कृष्णपक्ष में पितरों को अपने अमृत से तृप्त करता है एवं जो ब्राह्मणों का राजा है, उस सोमात्मा को नमस्कार है।

३. महान् अन्धकार रूपी तम के पार जो तेजस्वी पुरुष है, जिसे जानकर मृत्यु का अतिक्रमण किया जाता है उस ज्ञेयात्मा को नमस्कार है।

४-५. बृहत् उक्थ्यों के पाठ में जिस बृहन्त भगवान् की प्रशंसा की जाती है, महान् यज्ञों में अग्नि समिन्धन के द्वारा जिसका पूजन होता है, विप्र संघ सामगान द्वारा जिसका गान करते हैं, उस वेदात्मा भगवान् को नमस्कार है। ऋग्, यजु, साम जिसके नाम हैं, पञ्च आहुतियां जिसका रूप हैं, जिसको सात तन्तुओं द्वारा वितान करते हैं, उस यज्ञात्मा भगवान् को नमस्कार है।

६. यजुर्वेद जिसका नाम है, गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती छन्द जिसके शरीर हैं, त्रिवृत् यज्ञ जिसका मस्तक है, रथन्तर और बृहत् जिसके चक्षु हैं, ऐसे उस सुपर्ण भगवान् के स्तोत्रात्मक रूप को नमस्कार है।

७. जो विश्वसृज् देवों के सहस्र-सवन रूप दीर्घसत्र में सुनहले पक्षी के रूप में उत्पन्न हुआ था, उस हंसात्मा भगवान् को नमस्कार है।

८. पद जिसके अंग हैं, संधियां जिसके पर्व हैं, स्वर और व्यञ्जन जिसके लक्षण या रूप हैं, नित्य अक्षर जिसका नाम है, उस वागात्मा भगवान् को नमस्कार हैं।

९. अमृत से उत्पन्न ऋत तत्त्व के द्वारा जो सद् वस्तुओं के सेतु का निर्माण करता है, धर्म और अर्थ से जिसका व्यवहार रूपी शरीर बनता है, उस सत्यात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१०-११. पृथक् धर्मों का आचरण करने वाले, पृथक् धर्म-फल की इच्छा करने वाले, पृथक् धर्मों द्वारा जिसकी अर्चना करते हैं, उस धर्मात्मा भगवान् को नमस्कार है। महर्षि लोग जिस अव्यक्त ब्रह्म को व्यक्त शरीर में ढूंढ़ा करते हैं, जो सब क्षेत्रों में बैठा हुआ क्षेत्र है, उस क्षेत्रात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१२. सांख्य शास्त्र के जाननेवाले जिसे आत्मा के भीतर स्थित सोलह गुणों से युक्त चाक्षुषात्मा के रूप में सत्रहवां तत्त्व कहते हैं, उस सांख्यात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१३. योगी लोग नींद, श्वास तथा इन्द्रियों को वश में कर अपने मन की समाधि-शक्ति से ज्योति रूप में जिसका दर्शन करते हैं उ योगात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१४. अपुण्य और पुण्य से ऊपर उठकर और पुण्य एवं पुनर्जन्म निर्भय बने हुए शान्त संन्यासी जिसे प्राप्त करते हैं, उस मोक्षात्मा भगवा को नमस्कार है।

१५. जो युगसहस्र के अंत में अग्नि रूप में सब भूतों का भक्षण करत है, उस घोरात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१६. सब भूतों का भक्षण करके और एकार्णव में मग्न जो बालरू में अकेला शयन करता है, उस मायात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१७. उस सहस्रशीर्षा अमितात्मा पुरुष को जो चार समुद्रों भीतर योग-निद्रा में शयन करता है, उस योगनिद्रात्मा भगवान क नमस्कार है।

१८. जिस अजन्मा ईश्वर की नाभि में यह सारा कमलरूपी विश्व अर्पित है, उस पुष्करलोचन पद्मात्मा भगवान् को नमस्कार है।

१९. मेघ जिसके केश हैं, नदियां सर्वाङ्गों की नाड़ियां हैं, चा समुद्र जिसकी कुक्षि हैं, उस समुद्रात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२०. जो दिन, ऋतु, अयन और संवत्सर रूपी अपने अंशों से युग-यु में घूम रहा है, जो सृष्टि और प्रलय का करने वाला है, उस कालात्म भगवान् को नमस्कार है।

२१. ब्राह्मण जिसके मुख हैं, क्षत्रिय भुजाएँ हैं, वैश्य उदर हैं औ पैर शूद्र हैं उस वर्णात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२२. अग्नि जिसका मुख है, द्युलोक जिसका मस्तक है, आका जिसकी नाभि है, पृथिवी जिसके पैर हैं, सूर्य जिसका चक्षु है, दिशा जिसके श्रोत्र हैं ऐसे उस लोकात्मा भगवान् को प्रणाम है।

२३. विशेष या पञ्च तन्मात्रओं के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्

इन वैशेषिक गुणों से आकृष्ट होकर जो लोग विषयों में रम रहे हैं, उनसे उनकी रक्षा करने वाले गुप्तात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२४. अन्न और प्राण जिसका ईंधन है, रस और प्राण को जो बढ़ाता है, उस प्राणात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२५. जो काल और यश से परे है, सत् और असत् से परे हैं, जो अनादि देते हुए विश्व का आदि है, उस विश्वात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२६. जो इस सृष्टि की रक्षा के लिए जीवों को राग और स्नेह के बंधन रूपी मोह से युक्त रखता है, उस मोहात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२७. ज्ञानी लोग जिसे अपने भीतर ही पंचगुण, पंचविषय और पंच-इन्द्रिय आदि में अवस्थित देखते हैं, उस ज्ञानात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२८. जिसका शरीर अपरिमेय है, जिसकी दृष्टि अनन्त है, जिसका परिणाम अपरम्पार है, उस चिन्त्यात्मा भगवान् को नमस्कार है।

२९. जो जटा, दण्ड और कमण्डलु धारण करता है और लम्बोदर है, उस ब्रह्मात्मा भगवान् को नमस्कार है।

३०. जो शूलधारी देवों का राजा और त्र्यम्बक है, भस्म लगाने वाले उस रुद्रात्मा भगवान् को नमस्कार है।

३१. पञ्चभूत जिसकी आत्मा हैं, भूतों का नाश जिसकी आत्मा है, जो क्रोध, द्रोह, मोह से रहित है उस शान्तात्मा भगवान् को नमस्कार है।

३२. जिसमें सब है, जिससे सबका उद्गम होता है, जो स्वयं यह सब है और सबसे जिसका स्वरूप बनता है, जो सदा सर्वमय है उस सर्वात्मा भगवान् को नमस्कार है।

इस प्रकार यह नमःद्वात्रिंशिका स्तोत्र संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है। यह गुप्त युग के किसी महान् कवि की असाधारण कृति है। भीष्म की योग-निष्ठा और अध्यात्मिक भक्ति का इसमें प्रत्यक्ष दर्शन

होता है। वैसे तो ईश्वर सहस्रधात्मा है किन्तु उसके द्वात्रिंशिकात्मा स्वरूप की कल्पना से इस स्तोत्र का जन्म हुआ।

प्राचीन कल्पना के अनुसार स्तोत्र वाग्यज्ञ माना जाता था। उसका फल द्रव्य-यज्ञ से भी अधिक था और उसका करना सबके लिए सुगम था। इसी भावना से स्तोत्र कण्ठ करके घर पर या मन्दिर में देवता के सामने पढ़ा जाता था कि उसके द्वारा वाग्यज्ञ का विधान हो रहा है (वाग्यज्ञेनार्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्दनः)। भीष्म के योग और भक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें कृष्ण ने त्रैकालिक सर्वज्ञता का वरदान दिया।

अध्याय ४७ में योग और समाधि की झांकी थी। उसमें कोई कहीं गया आया नहीं। कथा का जो सिलसिला चल रहा था उसके अनुसार युधिष्ठिर, कृष्ण, सात्यकि, चारों भाई, कृपाचार्य, युयुत्सु, सूत और संजय, अपने-अपने रथों में बैठकर कुरुक्षेत्र में भीष्म के पास जा पहुँचे। कुरुक्षेत्र के प्रसंग में भार्गव परशुराम का चरित्र दे दिया गया है। (अ० ४९)

: ७२ :

राजधर्म का सार

(अ० ५०—५८)

भीष्म द्वारा राज्यधर्म का सारकथन

तब सबने ओघवती नदी के किनारे भीष्म को शरशय्या पर पड़े हुए देखा। कृष्ण उन्हें इस अवस्था में देखकर खिन्न हुए और उन्होंने कहा, "हे शांतनु पुत्र, आपका शरीर और मन कैसा है? एक कांटे

के चुभने से शरीर को व्यथा होती है, फिर आप तो बाणों की शैया पर पड़े हैं, किन्तु अपने तप और ब्रह्मचर्य की शक्ति से आप यह घोर कष्ट भी सहने में समर्थ हैं। ये युधिष्ठिर आपके पास आए हैं। इनका मन शोक से दुःखी है। आप चार वर्ण, चार आश्रम, चार वेद, चातुर्होत्र, सांख्य, योग, इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र इन सब विषयों के जानने वाले हैं। कृपया युधिष्ठिर को उपदेश दीजिए। (अध्याय ५०)

कृष्ण ने यह भी बताया "हे भीष्म, आपके जीवित रहने के ५६ दिन शेष हैं, क्योंकि सूर्य जैसे ही उत्तरायण होंगे आप यह शरीर छोड़ देंगें। अतः धर्म और अर्थयुक्त अपनी सारवान् वाणी से युधिष्ठिर को उपदेश दीजिये। (अ० ५१)

इसके उत्तर में भीष्म ने एकदम सच बात कही, "हे कृष्ण, शल्यपीड़ा से मेरा मन और शरीर दोनों दुःखी है। मुझे बड़ी वेदना हो रही है और मुझ में तो कोई प्रतिभा भी नहीं है। न मेरी बुद्धि ही इस समय प्रसाद गुण से युक्त है। विषाग्नि के समान इन शल्यों की पीड़ा से मेरा बल, मेधा, और प्राण जल रहे हैं। मर्मस्थल परितप्त हो रहे हैं और चित्त घूम रहा है। मेरी वाणी दुर्बलता से बैठी जा रही है। मैं कैसे बोल सकूंगा ? आप ही मुझ पर कृपा कीजिये। अतः यदि मैं कुछ न कह पाऊं तो क्षमा कीजियेगा और फिर आपके सामने तो बृहस्पति भी कुछ बोल नहीं पाते। मुझे आकाश, दिशाएं और धरती कुछ नहीं सूझता। केवल आपके ही बल से किसी तरह मेरा शरीर ठहरा है। इसलिए जो युधिष्ठिर के लिए हितकारी हो उसे आप ही कहिये। आप सब आगमों के आगम हैं—

स्वयमेव प्रभो तस्माद्धर्मराजस्य यद्धितम्।
तद्ब्रवीह्याशु सर्वेषामागमानां त्वमागमः ॥ (५२।१२)

आपके होते हुए मेरा कुछ कहना ऐसे है जैसे गुरु के सामने शिष्य का।" भीष्म के ऐसे विनीत और सत्य वचन पढ़कर आंखों में आंसू आ

जाते हैं। क्या इसकी कल्पना नहीं होती कि उनकी जन्म भर की साधना कैसी थी? भारतीय राजशास्त्र धर्म, और दर्शन का पूरा ज्ञान रखते हुए भी उनका विनय-भाव कितना बढ़ा चढ़ा था? कृष्ण ने उत्तर में कहा "कौरवों में धुरन्धर, आपका ऐसा कहना ठीक ही है। हे भीष्म, मेरे प्रसाद से आपको न ग्लानि रहेगी, न मूर्छा और न दाह रहेगी, न पीड़ा। भूख और प्यास भी आपको कष्ट न देगी। और सब ज्ञान आपको प्रतिभासित हो जायंगे।" इस वार्तालाप में संध्या हो गई और सब लोग यह कह कर वहाँ से चले आये कि हम लोग कल आपके दर्शन करेंगे। (५२-५३)

प्रातः काल नित्य कर्मों से निवृत्त होकर सब लोग पुनः भीष्म की सेवा में पहुंचे। वहां नारद ने प्रश्न पूछने के लिए कहा, किन्तु किसी का साहस प्रश्न करने का न हुआ और सब कृष्ण से ही प्रश्न पूछने का आग्रह करने लगे। कृष्ण ने बात आरम्भ करते हुए कहा, "हे भीष्म, आप पूर्व और उत्तर काल के धर्मों के कुशल ज्ञाता हैं। आप अनुधर्मों को भी जानते हैं। जैसे पिता अपने पुत्र से कहता है ऐसे ही आप भी सब राजाओं को राजधर्म का उपदेश दीजिये। इनके पुत्र और पौत्र भी जो पूछें, उनका समाधान भी आप कीजिये।" (अ० ५४)

तब भीष्म ने कहा, "अच्छा, मैं अब राजधर्म का प्रवचन करूंगा। मेरी वाणी और मन समाहित हैं। युधिष्ठिर मुझसे इच्छानुसार प्रश्न करें। इससे मुझे प्रसन्नता होगी।" कृष्ण ने कहा, "युधिष्ठिर आपके सामने झिझकते हैं। इन्हें शाप का भी डर है, क्योंकि ये लोक के सर्वनाश के कारण बने। ये आपके सामने आना नहीं चाहते।" भीष्म ने युधिष्ठिर की झेंप मिटाने के लिए कहा कि जैसे ब्राह्मण के लिए दान, अध्ययन, तप धर्म हैं वैसे ही युद्ध क्षत्रिय का स्वाभाविक धर्म है। यह सुनकर युधिष्ठिर विनीत भाव से भीष्म के सामने आये और उन्होंने उनके पैर पकड़ लिये। भीष्म ने भी उनका स्वागत किया और कहा, "हे तात, मत डरो। विश्वास के साथ मुझ से प्रश्न करो। (अ० ५५)

युधिष्ठिर ने कहा, "जो धर्म को जानने वाले हैं, वे राजधर्म को सर्वश्रेष्ठ

बताते हैं ? आप कृपया उस राजधर्म का कथन कीजिये। समस्त प्राणियों की परम गति राजधर्म है (सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्माः परायणम्)। धर्म, अर्थ, काम यह त्रिवर्ग राजधर्म के साथ जुड़ा हुआ है। मोक्ष धर्म भी राजधर्म पर निर्भर है। जैसे अश्व के लिए वागडोर और हाथी के लिए अंकुश होता है, वैसे ही लोक को वश में लाने के लिए राजधर्म है। यदि राजर्षियों का चलाया हुआ धर्म पुष्ट नहीं रहता है तो लोक संस्था विचलित हो जाती है। जैसे सूर्य अपने उदय से आसुरी अन्धकार को नष्ट करता है वैसे ही राजधर्म से लोक की अशुभ गति को हटाया जाता है। इसलिए हे पितामह, आप सर्व प्रथम राजधर्म का कथन कीजिये।"

भीष्म ने कहा, "महान् धर्म को प्रणाम है (नमो धर्माय महते)। मैं राजधर्म का वर्णन करूंगा। हे युधिष्ठिर, तुम राजधर्मों का सार सुनो। पहली बात यह है कि राजाओं को प्रजारञ्जन की कामना से शासन में प्रवृत्त होना चाहिए। ऐसा करके राजा लोक से उऋण होता है और सम्मान पाता है। राजा को अकर्मण्य और उदासीन न रहकर सदा उत्थान का सेवन करना चाहिए। उत्थान के बिना भाग्य कुछ नहीं कर सकता। दैव और उत्थान दोनों में उत्थान ही प्रधान है। समारम्भ को निर्बल देखकर विषाद मत करो, किन्तु समारम्भ को अपनाओ। सत्य के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से राजा को सिद्धि नहीं मिलती। सत्य में लगा हुआ राजा इस लोक में और परलोक में सुखी होता है। सत्य ही ऋषियों का परम धन है। राजा यदि मृदु होता है तो लोग उसे दबाना चाहते हैं, यदि वह तीक्ष्ण होता है तो लोग उससे भयभीत होते हैं। अतः उसे चाहिए कि मृदु और तीक्ष्ण दोनों उपायों का अवलम्बन करे।

"ब्राह्मणवृत्ति वाले लोग अदण्डय होते हैं। मनु का कथन है कि ब्राह्मण-वृत्ति से क्षत्रिय वृत्ति का जन्म उसी प्रकार होता है, जैसे पत्थर से लोहे का। जो लोकतन्त्र को विगाड़ते हैं उनका निग्रह करना राजा का आवश्यक कर्त्तव्य है। उशना के राज्य-शास्त्र में कहा है कि वेदान्त ज्ञानी भी

युद्धभूमि में शस्त्र लेकर आवे तो उसका अवश्य निग्रह करना चाहिए। यदि बड़े धर्म का लोप हो रहा हो तो अवश्य उसकी रक्षा करनी चाहिए। इससे तो एक व्यक्ति का पुण्य दूसरे के पाप को काटता है। राजा को चाहिए की प्रज्ञाशील, गुणी व्यक्तियों का संचय करे, वही नरदुर्ग है। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र में कहा है कि क्षमाशील राजा का नीच लोग परिभव करने लगते हैं। इसलिए राजा को मृदु या बहुत तीक्ष्ण भी न होना चाहिए। वसन्त में जैसे सूर्य न बहुत शीत होता है और न बहुत उष्ण, ऐसी वृत्ति राजा की होनी चाहिए। राजा को व्यसनों से बचना चाहिए। अपने और पराये की भली प्रकार जांच करनी चाहिए। जैसे गर्भिणी अपने मन की बात छोड़कर गर्भ के हित में बरतती है ऐसे ही राजा को भी होना चाहिए। यदि लोक हित की मांग हो तो अपने मन की प्रिय बात को टाल देनी चाहिए। धैर्य का त्याग करना उचित नहीं। राज्य धर्म में धैर्य का आश्रय मुख्य है। अपने भृत्यों से परिहास नहीं करना करना चाहिए इससे बुराई उठ खड़ी होती है। सेवक लोग मर्यादा छोड़ देते हैं, और राजा की बात की अवहेलना करते हैं। राजसेवक न मांगने योग्य वस्तु मांगने लगते हैं। भूमि पर अधिकार जमाने लगते हैं। रिश्वत और वञ्चना से लोगों को ठगने लगते हैं और सारे राज्य को जालसाजी से जर्जर कर देते हैं। राजा के स्त्री अंगरक्षकों से मिल जाते हैं और उन के तुल्य वेष बदल लेते हैं। निर्लज्ज होकर बात करते हैं। राजा की सवारी को उपयोग में लाने लगते हैं। राजा को अपने भृत्यों के साथ हंसोड़पन की आदत छोड़नी चाहिए। अनुजीवी कहने लगते हैं कि राजा हमारी मुट्ठी में है।" (अ० ५१-५६)

भीष्म ने पुनः कहा, "राजा को उद्यम का मार्ग अपनाना चाहिए। उद्यम का अर्थ उत्थान और युद्ध है। जो राजा युद्ध नहीं करता, वह पृथिवी में विलीन हो जाता है। उसे क्षत्रिय वैसे ही ग्रस लेते हैं जैसे सर्प बिल में बैठे हुए चूहों और मेढकों को। जो संधि के योग्य हैं उनसे मेल करो और जो विरोध के योग्य हैं उनसे युद्ध करो। तुम्हारे सप्ताङ्ग

राज्य से जो विपरीत रहता हो वह गुरु या मित्र भी हो तो वध के योग्य है। वृहस्पति के मतानुसार राजा मरुत्त ने पहले ही ऐसा कहा था। कार्य-अकार्य को न जानने वाले और अपथ या कुमार्ग में प्रवृत्त गुरु का भी त्याग करना आवश्यक है। राजा सगर ने पुरवासियों के हित के लिए अपने पुत्र असमञ्जस को छोड़ दिया। उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को इसलिए छोड़ दिया कि वह ब्राह्मणों से अच्छा व्यवहार न करता था।

"राजा का सनातन धर्म है कि लोक का रंजन करे और सत्य का पालन करे और व्यवहार में ऋजुता वरते। दूसरे का धन न ले। जो दूसरों को देना है, उसे दिलवाये। राजा को चाहिए कि अपना मन्त्र गुप्त रक्खे, क्रोध को वश में करे और शास्त्रों के अर्थ का निश्चय करे। सदा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-संवंधी कार्यों में लगा रहे। राजा को चारों वर्णों की रक्षा करनी चाहिए। धर्म-संकर से लोगों को वचाना सनातन राजधर्म है। राजा को न अधिक विश्वास और न अधिक अविश्वास ही करना चाहिए। राजा को उचित है कि षाड्गुण्य और उनकी त्रुटियों पर नित्य विचार करे। शत्रुओं के छिद्र या निर्वलताओं की जानकारी लेता रहे। धर्म, अर्थ, काम के विषय में जानता रहे। गुप्तचर और शत्रु के साथ छल-छिद्र प्रयोग में भी सावधान रहे। कोश के उपार्जन में कुबेर के समान लगा रहे। राजा को चाहिए कि मंत्री, राष्ट्र, खजाना, दुर्ग और दण्ड इन पांच बातों का अपने पक्ष में और शत्रु के पक्ष में भी ज्ञान रक्खे। इनके जानने से अपनी वृद्धि और न जानने से क्षय होता है।

"राजा को उचित है कि सदा अपने लिए सहायक या मन्त्रियों की नियुक्ति करता रहे और उन्हें अपने समान भोगों का अधिकारी बनाये। उनके लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष वृत्ति का प्रवन्ध करे। सव वर्णों के लिए सुलभ वना रहे। नीति और दुर्नीति का जानने वाला हो। वह काम निवटाने में क्षिप्रकारी या शीघ्रता बरते। उसका मुख प्रफुल्लित और मन उदार हो।"

अन्त में भीष्म ने गुणों की दृष्टि से अच्छे राजा के कुछ लक्षण बतलाये

और कहा कि जो राजा रक्षा नहीं कर सकता, उसका त्याग ही अच्छा है। जो नाई होकर जंगल में घूमे और ग्वाला होकर गाँव में घुसा रहे, वे दोनों निकम्मे हैं। वही राजा अच्छा है जो अपने आरम्भ किये हुए कार्यों को ही प्रकट होने देता है। अच्छा राजा प्रजाओं के प्रति ऐसा वर्ताव करता है जैसे घर में पिता पुत्रों के साथ। जिसके राज्य में प्रजाजन निर्भय होकर विचरते हैं, वही राजा उत्तम है। जिसके पुरवासी अपने वैभव को छिपाते नहीं तथा नीति और अनीति को जानते हैं, वही राजा राजसत्तम है। जिसके राज्य के निवासी अपने कर्मों में निरत रहते हैं, किसी का हनन नहीं करते और यथाविधि रक्षित होकर दान्त बने रहते हैं, ऐसा राजा उत्तम है। वही सच्चा राजा है जिसके राज्यवासी वशी, सुमार्गगामी, विनीत, संघर्ष से दूर रहने वाले, दानी होते हैं। जिस राजा के राज्य में कूट-कपट, माया और द्वेश नहीं होता वहीं सनातन धर्म देखे जाते हैं। जो ज्ञानियों का सत्कार करता है, बुद्धिमानों की सलाह मानता है और पुरवासियों का हित करता है, जो सज्जनों के धर्म का अनुरागी है और जो दानशील है, वही राज्य के योग्य है। जिसके गुप्तचरों और गुप्त मन्त्रों को दूसरे नहीं जान पाते वही राज्य के योग्य है। भार्गव ऋषि ने राम से पूर्वकाल में यह बात कही थी कि सबसे पहले अच्छे राजा का संग्रह करना चाहिए, उसके बाद स्त्री और धन का स्थान आता है। हे राजन्, राजा का इसके अतिरिक्त कुछ भी धर्म नहीं है कि लोक की रक्षा करे। रक्षा को नीति से ही लोकों का धारण किया जा सकता है। प्राचेतस मनु ने राजधर्म के अन्तर्गत बताया था कि इन छह व्यक्तियों का त्याग कर देना चाहिए—प्रवचन न करने वाले आचार्य को, अध्ययन न करने वाले ऋत्विज को, रक्षा न करनेवाले राजा को, अप्रियवादिनी स्त्री को, गाँव के इच्छुक ग्वाले को और बन के इच्छुक नाई को (अध्याय ५७।४५)। इस अध्याय में भीष्म ने राजधर्म-सम्बन्धी बहुत-सी फुटकर बातों का उल्लेख किया है जो इस शास्त्र की भूमिका के रूप में हैं। इसमें मुख्य तत्त्व दो हैं। पहला यह कि राजा को प्रजा-रंजन करना चाहिए। दूसरा, प्रजापालन करना उसका कर्त्तव्य है। (अ० ५७)

यहां महाभारत में राजधर्म के रचयिता प्राचीन आचार्यों (राजशास्त्र-प्रणेतार:) के नाम गिनाए हैं और राजधर्म के विषयों की सूची भी दी है, जिसे राजधर्मों का नवनीत कहा गया है। प्राचीन आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—१. बृहस्पति, २. विशालाक्ष, ३. शुक्र, ४. सहस्राक्ष, ५. महेन्द्र, ६. प्राचेतस मनु, ७. भरद्वाज, ८. गौरशिरस् मुनि। ये सब लोग एकमत से रक्षा या प्रजापालन को ही राजधर्म का सार बतलाते हैं। उस रक्षा में निम्नलिखित अंग सहायक हैं—गुप्तचर, राजदूत (प्रणिधि), दान, सज्जन और योग्य व्यक्तियों का संग्रह, शौर्य, दाक्ष्य, सत्य, प्रजाहित, ऋजु और कुटिल दोनों प्रकार से शत्रु पक्ष का भेदन, साधुओं का अपरित्याग, कुलीनों का धारण, संग्राह्य वस्तुओं का संग्रह, बुद्धिशील व्यक्तियों का सेवन, बल या सेना को सदा हर्षित रखना, प्रजाओं का अन्वेक्षण या देखभाल, कार्य करने में थकान का न होना, कोश का विवर्धन, पुरवासियों के प्रति अविश्वास और उनके विरुद्ध संगठन का भेदन, पुराने केतन या दुर्ग आदि स्थानों की देखभाल, और उनमें से जो नष्ट हो रहे हैं, उनकी अवेक्षा और फिर से मरम्मत, समय पर भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्ड का प्रयोग, शत्रु, मध्यस्थ और मित्र इनका यथावत् अन्वेषण, अपने और शत्रु के भृत्यों का उपजाप या विद्रोही भाव, अपने पक्ष के विषय में शंकाएं और शत्रु के विषय में आश्वासन की नीति, नीति धर्म का अनुसरण, सदा उत्थान का आश्रय, शत्रुओं की अवज्ञा न करना, अनार्यों का वर्जन या परित्याग।

बृहस्पति के अनुसार उत्थान राजधर्म का मूल है। उत्थान से ही अमृत प्राप्त हुआ और उत्थान से ही असुरों का संहार हुआ। उत्थान से महेन्द्र इन्द्र ने स्वर्ग का राज्य पाया। उत्थानधीर पुरुष जिह्वा से कहने वालों को अपने अधीन कर लेता है। जो केवल वाग्धीर है, उसे उत्थानधीर की खुशामद करनी पड़ती है। उत्थानहीन राजा को शत्रु ऐसे दबा लेते हैं जैसे विषरहित सांप को मनुष्य।

भीष्म ने यह कहकर युधिष्ठिर से और भी प्रश्न करने को कहा।

किन्तु उस दिन संध्या हो चुकी थी, अतः वे सब दृषद्वती में स्नान करके हस्तिनापुर लौट आये। अगले दिन फिर एकत्र हुए। (अ० ५८)

राजसंस्था की उत्पत्ति

युधिष्ठिर ने प्रणामपूर्वक प्रश्न किया, "हे पितामह, यह जो राजा शब्द सुना जाता है, इसका जन्म कैसे हुआ ? हाथ, सिर, ग्रीवा, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, दुःख-सुख का अनुभव, पीठ, भुजाएं, उदर, शुक्र, अस्थि, मज्जा, मांस, रक्त, निःश्वास, उच्छ्वास, प्राण, शरीर, जन्म, मरण, ये सब राजा लोगों में और दूसरों में समान होते हैं फिर भी राजा औरों पर शासन क्यों करता है ? सब लोग अकेले राजा की प्रसन्नता से प्रसन्न होते हैं और उसकी व्याकुलता से व्याकुल हो जाते हैं। इसका कोई बड़ा कारण होना चाहिए। यह मैं सुनना चाहता हूं।" भीष्म ने उत्तर दिया, "हे राजन्, तुम अवश्य यह सुनो कि सतयुग के आरम्भ में राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई (यथा राज्यं समुत्पन्नआदौ कृतयुगेऽभवत् (५९।१३)। आरम्भ में न राज्य था और राजा ! न दण्ड था, न दण्ड देने वाला कोई था। धर्म से ही प्रजाएं एक दूसरे की रक्षा करती थीं। मनुष्य धर्म से एक दूसरे का पालन करते थे। ऐसा करने में उन्हें खेद का अनुभव हुआ और वे मोह को प्राप्त हुए।

"वे मानव जब मोह को प्राप्त हुए तो उनमें न्याय-विषयक विवेक जाता रहा और धर्म का लोप हो गया। इसके फलस्वरूप लोग मोह और लोभ के फन्दे में फस गये। तब उनमें क्रोध और काम की उत्पत्ति हुई। उससे सबमें राग फैल गया। राग से कार्य और अकार्य का ज्ञान जाता रहा। वाच्य-अवाच्य, भक्ष्य-अभक्ष्य, दोष-अदोष के विषय में लोग मूढ़ हो गये। उससे वेदमार्ग का लोप हो गया। वेद के लोप से धर्म का नाश हो गया। धर्म के नाश से वे और देवता त्रस्त हो गये और डरकर ब्रह्मा के पास गये और कहा कि हे भगवन्, लोक में वेद और धर्म का नाश होने से सब कुछ उलट-पुलट गया है। उससे हम भी बहुत भयभीत हैं। अब

जिससे सबका कल्याण हो, वह वताइये। ब्रह्मा ने उसके उपाय के रूप में एक लाख अध्यायों का ऐसा शास्त्र वनाया जिसमें धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग का वर्णन था। उसका चौथा विषय मोक्ष था, जिसका पृथक् वर्णन किया गया था। मोक्ष से सम्बन्धित सत्त्व, रज, तम, रूपी त्रिवर्ग की व्याख्या की गई थी। राजदण्ड जिसका कारण है, ऐसे स्थान, वृद्धि, क्षय, रूप त्रिवर्ग का भी उसमें विस्तार था। आत्मी, देश, काल, उपाय, कृत्य, सहाय, कारण षाड्गुण्य (संधि, विग्रह, यान, आसन, संशय, द्वैधी भाव,) त्रयी, दण्डनीति, आन्वीक्षकी और वार्ता इन बड़ी बड़ी विद्याओं को विस्तार-पूर्वक वहां वताया गया था। अमात्यों की रक्षा, प्रणिधि या दूत, राजपुत्रों की शिक्षा और रक्षा, चर या गुप्तचर और उनके कार्यों के अनेक प्रकार, भिन्न-भिन्न प्रकार के राजदूत (अनिसृष्टार्थ शासनहर आदि), साम (या शान्ति), उपप्रदान या दान की नीति, भेद, दण्ड, उपेक्षा या कूटनीति, मन्त्र अर्थात् मन्त्रिपरिषद् में विचार, भेदार्थ (भेद-नीति का मत), मन्त्र का विभ्रंश या मन्त्रभेद, सिद्धि और असिद्धि का फल, विविध नामों वाली संधियां, हीन, मध्यम और उत्तम प्रकार की संधियां, भय, शत्रु के साथ व्यवहार में भय, सत्कार और मित्र का प्रयोग।

चार प्रकार का यात्राकाल या शत्रु पर चढ़ाई करने के चार अवसर (जो थे—१. अपने मित्रों की वृद्धि, २. अपने कोश का भरपूर संग्रह, ३. शत्रु के मित्रों का नाश, ४. शत्रु के कोश की हानि), त्रिवर्ग का विस्तार, धर्म विजय, अर्थ विजय, असुर विजय, पञ्चवर्ग (मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, सेना और कोष) का उत्तम, मध्यम और अधम भेद से वर्णन, प्रकाश दण्ड, अप्रकाश दण्ड, प्रकाश दण्ड के आठ भेद, अप्रकाश या परोक्ष दण्ड के अनेक प्रकार, रथ, हाथी घोड़े और पैदल-सेना, इन चार भेदों का विस्तृत वर्णन, विष्टि या वेगार, नौकारोही, गुप्तचर तथा कर्तव्य का उपदेश देनेवाले गुरु ये सेना के प्रकट अंग थे। सेना के परोक्ष उपाय भी कई प्रकार के वर्णित थे, जैसे जंगम (विचरण करनेवाले सर्पादि या साधु), अजंगम (वृक्ष, वन, पर्वत-आदि), विष आदि चूर्णयोग अर्थात्

विनाशकारक औषधियां जो भोजन में मिला दी जाती थीं या वस्त्रादि के साथ जिनका स्पर्श कराया जाता था। मित्र और उदासीन इन तीनों का भी उसमें वर्णन था। मार्ग या यात्रा-पथों के संपूर्ण गुण और विशेषताएं, भूमि के गुण, राजा की आत्मरक्षा, अपने जीवन के विषय में आश्वासन, रथ आदि के निर्माण का निरीक्षण, सेना के चार अंगों (मनुष्य, हाथी, रथ और घोड़ों) की विविध कल्पनाएं, भिन्न-भिन्न नामों की व्यूह रचना आदि का शास्त्र में वर्णन था। उत्पात, (सैनिकों का उछल कर युद्ध करना), निपात (लेटकर युद्ध करना), सुमुध (घमासान लड़ाई), पलायन (सेना का पीछे हटना), शस्त्रों पर धार रखना, सेना की वृद्धि (हर्षण), सेना का क्षय (व्यसन), शत्रुसेना का पीड़न या दवाना, शत्रु पर आस्कन्द या सहसा आक्रमण, भयकाल, खातविधान (गड्ढे खोदना), योग (युद्ध के लिए सैनिक तैयारी), संचार (सेना का प्रयाण), चोर और आटविक सेना से परराष्ट्र का पीड़न, आग लगानेवाले गुप्तचर, विष देनेवाले गुप्तचर, प्रतिरूपक (जालसाजी या कूट-कपट करनेवाले गुप्तचर), श्रेणिमुख्यों का उपजाप या फोड़ना, विरुध छेदन (जंगलों की कटाई), हाथियों का दूषण या विकार भाव, और उनमें भय उत्पन्न करना, भोजन आदि अन्न का आरोधन, मार्गों का उपार्जन (निर्माण), सप्ताङ्ग राज्य का ह्रास और वृद्धि के उपाय, दूतों की सामर्थ्य (अधिकार) और उनकी नियुक्ति, राष्ट्र का विवर्धन, शत्रु, मित्र और मध्यों का विस्तारपूर्वक विवेचन (प्रपञ्चन), बलवान् शत्रुओं का आकस्मिक आक्रमण, पीस डालना (अवमर्दन) और उनसे टक्कर लेना, सूक्ष्म न्याय, व्यवहार (दीवानी न्याय), कण्टक-शोधन या फौजदारी न्याय, शम या शान्ति (लभ्य प्रशमन) व्यायाम (हलचल), पदार्थों का जुटाना और संग्रह करना, अभृत्यों का भरण और भृत्यों का अवेक्षण, अर्थकाल या अर्थ देने के समय में उसका प्रदान जैसे सैनिक वेतन, भृत्य भरणीय आदि, मृगयाक्षद्यूतादि व्यसनों में अनासक्ति, राजगुण, सेनापति के गुण, कारण के गुण-दोष, कर्ता के गुण-दोष, दुष्टों की विविध चालें, अनुजीवियों की वृत्ति या जीविका,

सबके प्रति सशंक रहना, प्रमाद-वर्जन, अलब्ध लिप्सा और लब्ध का संवर्धन, विवृद्ध धन का पात्रों को विधिवत् प्रदान, अर्थ का धर्मार्थ विसर्ग, कामोपयोग के लिए अर्थ का विनियोग, व्यसन या संकट के निवारण के लिए धन का उपयोग (इस प्रकार चार मार्गों से वढ़े हुए धन का व्यय), इन सब का उस राजशास्त्र ग्रन्थ में वर्णन था। मृगया, मद्य, द्यूत और स्त्री-प्रसंग इन चार कामज व्यसनों का उसमें वर्णन था। क्रोध से उत्पन्न छह व्यसन जिनका आचार्यों ने इस प्रकार वर्णन किया है— वाणी की कटुता, उग्रता, दण्ड की कठोरता, शरीर को कैद कर लेना, किसी को सदा के लिए त्याग देना और आर्थिक हानि पहुँचाना, इनका भी उस राजशास्त्र में वर्णन था। विविध प्रकार के यन्त्र और उन यन्त्रों की क्रियाएँ, शत्रु राष्ट्र को कुचल देना (अवमर्दन), शत्रुसेना पर प्रतीघात या आक्रमण, शत्रु के निवास स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करना (केतनानां च भञ्जनम्), शत्रु की राजधानी के चैत्यवृक्षों का विध्वंस करा देना, पुर या राजधानी का रोध (घेरा), कर्मान्त या वास्तुशिल्प की इमारतों को नष्ट-भ्रष्ट करना, अपस्कर या रथाङ्गों का निर्माण, वाहनों से प्रयाण, उपास्या (सैनिक पड़ाव), पणव (तन्त्रीवद्ध वाद्य), पटह (ढोल या नगाड़ा), भेरी (दुन्दुभि) और शंख नामक रणवाद्यों का वर्णन, मणि, पशु, पृथ्वी, वस्त्र, दास-दासी तथा सुवर्ण इन छह प्रकार के द्रव्यों का अपने लिए उपार्जन, तथा शत्रु के छह मर्मों का वर्णन भी उस राजशास्त्र में था। लब्ध या प्राप्त हुए राष्ट्र का प्रशमन, सज्जनों का पूजन, विद्वानों से ऐक्यभाव या मेलजोल, प्रातः होमविधि या प्रातःकाल की आह्निक क्रिया में माङ्गलिक द्रव्यों का स्पर्श, शरीर की प्रतिक्रिया या वस्त्राभूषणों से सजाना, आहार-योजन या भोजन कर्म, आस्तिक्य या देवपूजन, एक होते हुए उत्थान का विचार, सत्य, मधुर वाणी, मह नामक उत्सवों और समाजों का करना, इन्द्रध्वज क्रिया, सब अधिकरणों या सरकारी दफ्तरों में प्रत्यक्ष और परोक्ष वृत्ति अर्थात् गुप्त और प्रकट व्यवहारों का नित्य अवेक्षण भी उस राजशास्त्र का विषय था। ब्राह्मणों का अदण्ड्यत्व, युक्तदण्डता, अनुजीवी और स्वजाति या बन्धु-

बान्धवों में गुणों की रक्षा या आधान, पुरवासियों का रक्षण, स्वराष्ट्र का विवर्धन, बारह प्रकार के राजाओं से मण्डल की चिन्ता, स्वयम्भू मनु द्वारा कथित ७२ प्रकार के विषयों का चिन्तन भी उस राजशास्त्र का विषय था। देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म का उसमें वर्णन था। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चारों पुरुषार्थ भी उसके विषय थे। उपाय (चार प्रकार के पुरुषार्थों की संप्राप्ति), अर्थ-लिप्सा, बहुत प्रकार की दक्षिणाएं, कोशवृद्धि, कृषि एवं वाणिज्य आदि (मूलकर्म) की वृद्धि के उपाय, माया-योग या कूट-कपट के प्रयोग, बहते पानी की जलधाराओं का दूषण, ठहरे हुए कूपसरोवरादि के जलों का दूषण, लोक को आर्य पथ से हटाने की तरकीबें, इनका उस नीतिशास्त्र में वर्णन था।

इस प्रकार ब्रह्माजी ने आदि में वह राजशास्त्र बनाया था जिसमें उपर्युक्त विषयों का समावेश था। यह विषय-सूची बृहस्पति आदि राज-शास्त्रों के ग्रन्थों की जान पड़ती है। यह सूची कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दी गई प्रारम्भिक विषय-सूची से लगभग पचास प्रतिशत मिलती है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इन दस आचार्यों के नामों का उल्लेख है—१. मनु २. बृहस्पति, ३. उशनस् ४. भारद्वाज, ५. विशालाक्ष, ६. पराशर, ७. पिशुन, ८. कौणपदन्त, ९. वातव्याधि, १०. बहुदन्ती पुत्र। वहां इनके मतों का उपन्यास भी किया गया है। इससे सूचित होता है कि चौथी शती ई० पू० में विष्णुगुप्त कौटिल्य के समक्ष इन आचार्यों के राजधर्म सम्बन्धी ग्रन्थ विद्यमान थे। लोकों के उपकार के लिए और त्रिवर्ग की स्थापना के लिए ब्रह्मा ने सरस्वती द्वारा ऊपर लिखा हुआ राजधर्म नामक नवनीत ग्रन्थ बद्ध किया। यह दण्डनीति लोक-रक्षण के लिए थी। लोकों का निग्रह और अनुग्रह इसका उद्देश्य था। यह राजशास्त्र दण्ड से व्यवस्थित किया जाता था और इस नीति से दण्ड की भी व्यवस्था होती थी। अतः इसकी संज्ञा दण्डनीति थी। षाड्गुण्य विषय इसका सार था। यह भविष्य में भी महात्मा राजाओं में टिकाऊ रहने वाली थी। दण्ड प्रजाओं के लिए महत्त्वपूर्ण विषय है। उससे सम्बन्धित दण्डनीति के

लक्षण स्पष्ट हैं। नीति और चार अर्थात् दण्डनीति और गुप्तचर ये अत्यन्त विपुल या विस्तृत हैं, जो लोक में व्याप्त हैं। उसी पैतामह शास्त्र की एक संक्षिप्त विषय सूची दूसरी बार भी दी गई है। उसे दुहराई हुई जानना चाहिए। सहावस्थिति (जक्स्टापोजीशन) के अनुसार दोनों को आगे-पीछे रख दिया गया है, जैसा महाभारत की शैली में और भी कई स्थानों पर पाया जाता है।

अनुश्रुति है कि ब्रह्मा की उस राजनीति को सबसे पहले भगवान् शंकर ने ग्रहण किया। बहुरूप, विशालाक्ष उमापति उन्हीं के नाम थे। शिवजी ने ब्रह्मा के उस महान् शास्त्र को संक्षिप्त किया, जिसकी संज्ञा वैशालाक्ष थी। फिर वह शास्त्र इन्द्र को मिला। इन्द्र ने दशसहस्र अध्यायों में उसका संक्षेप तैयार किया। बाहुदन्तक आचार्य ने उसे पांच सहस्र अध्यायों में संक्षिप्त किया। बृहस्पति ने तीन सहस्र अध्यायों में उसे संक्षिप्त रूप प्रदान किया। उसे ही बार्हस्पत्य राजशास्त्र कहा जाता है। शुक्राचार्य ने उसे एक सहस्र अध्यायों में संक्षिप्त रूप दिया। मर्त्य मनुष्यों की आयु का ह्रास देखकर ऋषि-महर्षियों ने इस शास्त्र को क्रमशः संक्षिप्त बनाया।

अन्त में यह कहानी दी गई है कि सुनीथा का पुत्र वेन दुष्टाचारी था। उसके राज्य में निषादों के अत्याचार बढ़ गए। वैन्य का हनन करके ऋषियों ने राज्य पृथु को दिया। वे ही आदिराज कहलाये। यह संपूर्ण दण्डनीति पृथु को प्राप्त हुई (तं दण्डनीतिः सकला श्रिता राजन्नरोत्तमम्, १०६)। पृथु ने ऋषियों से पूछा, "राजधर्म-विषयक इस प्रश्न को पाकर मैं क्या करूं ?" ऋषियों ने कहा, "तुम्हें जो धर्म दिखाई पड़े निडर होकर उसका आचरण करो। प्रिय और अप्रिय का परित्याग करके सब प्राणियों में समान व्यवहार करो। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान आदि के कारण जो धर्म का उल्लंघन करे उसे दण्ड दो। चौथी बात यह है कि मन, कर्म, वचन से तुम प्रतिज्ञा करके राजासन पर बैठो।

वह प्रतिज्ञा यह है कि मैं भूमि पर ब्रह्म के स्वरूप इन प्रजाओं का पालन करूंगा—

पालयिष्यास्म्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥११२॥

जितनी बार हो सके इस प्रतिज्ञा या शपथ को दुहराओ। जो धर्म है, उसी का दण्डनीति के अनुसार मैं निडर होकर पालन करूंगा।" पृथु के धर्म राज्य में जरा, दुर्भिक्ष, आधि, व्याधि, एवं चोर-डाकुओं का भय नहीं था। उस महात्मा ने इस लोक को धर्मप्रधान बना दिया। उसने सब प्रजाओं का रंजन किया इस कारण वह राजा कहलाया—रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते (१२७)। भगवान् विष्णु ने स्वयं पृथिवी-पालक राजा के शरीर में प्रवेश किया। भगवान् विष्णु के मस्तक से एक सोने का कमल उत्पन्न हुआ उससे देवी श्री लक्ष्मी का जन्म हुआ जो धर्म की पत्नी है। उस धर्मयुक्त श्री से राष्ट्र में अर्थ-संपत्ति का प्रादुर्भाव होता है। (अ० ५९)

: ७३ :

वर्णों और आश्रमों के धर्म

प्राचीन राजशास्त्रों की विषयानुक्रमणी सुन लेने के बाद युधिष्ठिर ने वर्ण और आश्रम धर्म संबंधी जिज्ञासा की। चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था के मूल थे और राजधर्म के अनुसार उनका पालन राजा का मुख्य कर्तव्य था। उसे प्रजा-रूप में जो समाज प्राप्त होता था, उसमें चार वर्ण और चार आश्रम का संगठन सर्वोपरि था। अतः उनके विषय में राजा की जानकारी आवश्यक थी। भीष्म ने जो उत्तर दिया, उसकी बहुत-सी सामग्री 'मनुस्मृति' से मिलती-जुलती

है। भीष्म ने उत्तर दिया, "महान् धर्म को प्रणाम है। भगवान् कृष्ण को प्रणाम है, ब्राह्मणों को प्रणाम है। मैं अब शाश्वत धर्मों का वर्णन करता हूं। अक्रोध, सत्य, दान, क्षमा, निज स्त्रियों में सन्तानोत्पत्ति, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, अद्रोह, आर्जव, भृत्य-भरण ये 'नव सार्ववर्णिका, क्रिया सब वर्णों के धर्म हैं।

"केवल ब्राह्मण के धर्म हैं दम, स्वाध्याय, अध्यापन, दान, यज्ञ, अपत्य-सन्तान। राजा क्षत्रिय को चाहिए कि वह दान दे, पर स्वयं न ले। यज्ञ करे पर स्वयं न करावे। स्वयं अध्ययन करे, पर अध्यापन-कार्य न करे। प्रजाओं का पालन करे। दस्यु-वध में नित्य उद्यम करे, रण में पराक्रम करे। जो सोम यज्ञों से यजन करते हैं, श्रुतवन्त होते हैं और जो युद्ध में विजयी होते हैं, वे क्षत्रियों में लोकजित् कहलाते हैं। दस्यु-नाश के अतिरिक्त क्षत्रिय का और कोई कर्म नहीं है। राजा को उचित है कि प्रजाओं को स्वधर्म में स्थापित करे। वैश्य का धर्म दान, अध्ययन, यज्ञ, शुचिभाव से धन का संचय और पिता के समान पशुपालन है। प्रजापति ने पशुओं को जन्म देकर उन्हें वैश्य को दे दिया। अतः उनकी रक्षा वैश्य का मुख्य धर्म है। तीन वर्णों की परिचर्या शूद्र का स्वाभाविक कर्म है। अन्य वर्णों को चाहिए कि वे शूद्रों का भरण-पोषण करें (अवश्य भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते, ६०।३१)। वृद्ध और दुर्वल हो जाने पर शूद्र की वृत्ति का प्रवन्ध करना चाहिए। उसे आपत्ति के समय भी स्वामी का साथ नहीं छोड़ना चाहिए। प्रजापति ने सब वर्णों के लिए यज्ञ मुख्य कर्म बनाया है (यज्ञो मनीषया तात सर्ववर्णेषु भारत, ६०।४३) सब वर्णों के लिए श्रद्धा ही यज्ञ है (तस्मात्सर्वेषु वर्णेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते)। यज्ञ करने की इच्छा रखने वाले वैखानस मुनियों ने यज्ञ के विषय में ये गाथा कही हैं—

सूर्योदय से पूर्व या पश्चात् श्रद्धापूर्वक जितेन्द्रिय व्यक्ति को धर्मानुसार अग्नि में हवन करना चाहिए। इसमें श्रद्धा महत् कारण है। यज्ञों के अनेक रूप हैं, जो नाना कर्मों के फल हैं। ज्ञानपूर्वक निश्चय करके

उन्हें जो जानता है, ऐसा श्रद्धायुक्त द्विजाति यज्ञ-कर्म के योग्य है। तीनों लोकों में यज्ञ के समान और कुछ नहीं है। अतः श्रद्धावान् पुरुष को यजन करना चाहिए।" (अ० ६०)

इसके अनन्तर भीष्म ने वानप्रस्थ, भैक्षचर्या, गार्हस्थ्य और ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म बताये। गृहस्थ महाश्रम है। वेदों को पढ़कर, सब कर्मों को समाप्त करके, सन्तान उत्पन्न करता हुआ सब सुखों का भोगकर, समाहित होकर व्यक्ति गार्हस्थ धर्म का पालन करे। गृहस्थ को स्वदारगामी, ऋतुकाल सेवी, मितभोजी, देवपरायण, कृतज्ञ, सत्यात्मा, मृदु, हिंसारहित (दयालु) और क्षमाशील होना चाहिए। गृहाश्रमी को गुरुजनों की आज्ञा का पालन करने वाला, हव्यकव्य में अप्रमत्त, द्विजों को सदा अन्नदान देनेवाला, मत्सरहीन, अन्य सब आश्रमों को भोजनादि प्रदान करने वाला होना चाहिए। उसे श्रौताग्नि में यज्ञ-कर्म करना चाहिए। इस विषय में महर्षियों के द्वारा कहा गया एक नारायण गीत है जो इस प्रकार है—इस आश्रम में सत्य, आर्जव (साधापन), अतिथियों का पूजन, धर्म, अर्थ, दाररति, लोक में सुखोपभोग, स्त्री-पुत्रों का भरण, वेदों का पारायण, कर्तव्य है, ऐसा मेरा मत है। परमर्षि उसे सज्जनों का श्रेष्ठ आश्रम गार्हस्थ्य नाम से कहते हैं। इस प्रकार का यज्ञशील ब्राह्मण, यथावत् गार्हस्थ्य धर्म का पालन एवं गृहस्थवृत्ति का परिशोधन करता हुआ स्वर्ग में स्थान पाता है। (६१।१३-१६)

तब भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा, "किसी भी आश्रम में रहते हुए व्यक्ति को कालधर्म और कालपर्याय के प्रति सावधानी रखनी चाहिए। हे युधिष्ठिर, आनुपूर्वी या क्रम से आश्रमों का पालन करने से ही सिद्धि मिलती है (आनुपूर्व्याश्रमान्राजन्गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ६३।२१)। हमने वेदों में सुना है कि सब धर्म और उपधर्म राजधर्म के अधीन हैं। जैसे सब जीवों के पदे हाथी के पैर में समा जाते हैं वैसे ही सब धर्म राजधर्म में समाविष्ट हैं—

यथाराजन्हस्तिपदे पदानि,
संलीयन्ते सर्वसत्त्वोद्भवानि ।
एवं धर्मान्राजधर्मेषु सर्वा-
न्सर्वावस्थं संप्रलीनान्निबोध ॥　　(६३।२५)

धर्मवेत्ता मनुष्य राजधर्म के अतिरिक्त दूसरे धर्मों को अल्पाश्रय (तुच्छाश्रय) और अल्पफल वाला कहते हैं। आर्य जनों का मत है है कि क्षात्र धर्म ही महाश्रय और अनेक कल्याणों का साधक है। सब धर्मों में राजधर्म प्रधान है। राजधर्म से ही सब धर्मों का पालन होता है। राजधर्म से ही सब त्याग सुफल होते हैं। त्याग को ही सब धर्मों में मुख्य कहा है। यदि दण्डनीति का ह्रास हो जाय तो वेदों की त्रयी विद्या डूब जाती है एवं अन्य धर्म कितने भी बढ़े हुए हों क्षीण हो जाते हैं। यदि प्राचीन राजधर्म क्षात्र को छोड़ दिया जाय तो आश्रमों के सब धर्म पीछे रह जाते हैं। सब त्याग राजधर्म से ही दृष्टि में आते हैं। सब दीक्षाएं राजधर्म की आश्रित हैं, सब लोक राजधर्म में प्रविष्ट हैं।[1]" राजधर्म की यह उदात्त प्रशस्ति संस्कृत साहित्य में अनुपम है। (अ० ६३)

क्षात्र धर्म की महिमा का वर्णन करते हुए भीष्म ने और भी कहा—

---

१. अल्पाश्रयानल्पफलान्वदन्ति धर्मानन्यान्धर्मविदो मनुष्याः ।
महाश्रयं बहुकल्याणरूपं क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्याः ॥
सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः सर्वे धर्माः पाल्यमाना भवन्ति ।
सर्वत्यागो राजधर्मेषु राजंस्त्यागे चाहुर्धर्ममग्र्यं पुराणम् ॥
मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्मा न भवेयुर्विरुद्धाः ।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां गताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टा सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः ।
सर्वे योगा राजधर्मेषु चोक्ताः सर्वे लोका राजधर्मान्प्रविष्टाः ॥
(शान्ति० ६३।२५-२९)

"चार आश्रमों के धर्म, जातियों के धर्म और लोक का पालन करने के जो धर्म हैं वे सब क्षात्र धर्म के अधीन हैं। ये सब धर्म लोक में उस क्षात्र धर्म में व्यवस्थित हैं जो किसी से भी कुछ आशा नहीं करता, पर अन्य सभी उसके मुखापेक्षी हैं। आश्रमवासियों के धर्म अप्रत्यक्ष और बहुमुखी हैं। विभिन्न आगमों के द्वारा उनके भावों का निरूपण किया जाता है। दूसरे कुछ लोग इस विषय में राजधर्म-सम्बन्धी लोकनिश्चय पुण्य वचनों द्वारा कहते हैं। परोक्ष तत्त्वों में निरत व्यक्तियों को राजधर्म का ठीक निश्चय नहीं होता। जो प्रत्यक्ष रूप में बहुत सुख देनेवाला है, अपना आत्मा जिसका साक्षी है, जो छल-रहित है, जो सर्व लोकों का हितकारी है, ऐसा धर्म क्षात्र धर्म है। आश्रमधर्मों के सम्बन्ध में व्यवसायात्मक विचार करनेवाले ब्राह्मणों ने त्रिवर्ण के धर्मों को जैसा पूर्व में कहा, वह राजधर्म में सुचरितों द्वारा लोक-प्रत्यक्ष हुआ। अनेक शूरवीर राजा दण्डनीति की शरण में गये। उन्होंने स्वयं दृष्टान्त बनकर अपने एक-एक कर्म से राजधर्म का पालन किया।

"आदि काल में ब्रह्माजी ने जिन देवों को बनाया, वे भी राजधर्म का ही पालन करते हैं। इस विषय में मर्यादा-रहित दानवों को कुछ बात तुमसे कहूँगा। पहले मान्धाता नामक राजा हुआ। उसने नारायण को साक्षात् देखने के लिए यज्ञ किया। उसने यज्ञ में विष्णु के चरणों में सिर रख दिया। तब उपस्थित राजाओं और इन्द्र-रूप विष्णु में यह संवाद हुआ।

'हे राजन्! तुम किस इच्छा से विष्णु के साक्षात् दर्शन करना चाहते हो? उन विश्वरूप देव को मैं और ब्रह्मा भी साक्षात् नहीं देख सकते। तुम्हारे हृदय में और जो इच्छा हो, मैं उसे पूर्ण कर दूँगा।' मान्धाता ने कहा, 'निःसन्देह मैं आदिदेव भगवान् के दर्शन करना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं भोगों को त्याग कर धर्म की कामना से अरण्यवास करूँ। चाहे मैंने विपुल क्षात्रधर्म के द्वारा इन लोकों और यश को प्राप्त किया पर जो वह धर्म आदिदेव से प्रवृत्त हुआ है, उसे मैं नहीं जानता।'

"इन्द्र ने कहा सर्वप्रथम आदि देव नारायण द्वारा 'क्षात्रधर्म प्रवर्तित' किया गया। कालान्तर में अन्य सब धर्म उसी से निकले। इसी क्षात्र धर्म में सबकी प्रतिष्ठा है। इसलिए राजधर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ है। पूर्वकाल में विष्णु ने क्षात्रधर्म के द्वारा ही देवों और ऋषियों की रक्षा की। यदि भगवान् ने क्षात्रधर्म से असुरों का हनन न किया होता तो न ब्राह्मण होते न लोकों के आदिकर्ता ब्रह्मा, न सद्धर्म होता और न आदिधर्म ही होते। इस पृथिवी को यदि पराक्रम से भगवान् ने न जीता होता, तो चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म यहां न होते। क्षात्रधर्म से ही शतधा रूप में अन्य सब धर्म अस्तित्व में आये। युग-युग में आदिधर्मों की प्रवृत्ति इसी कारण हुई है। अतः क्षात्रधर्म को लोक में ज्येष्ठधर्म कहा जाता है। आत्मत्याग, सब भूतों में अनुकम्पा, लोक का ज्ञान, बन्धनों से छुड़ाकर उनका पालन, विषण्ण और पीड़ित लोगों के मोक्ष, राजाओं के क्षात्र धर्म से ही होते हैं। कामक्रोध से भरे लोग राजा के भय से पाप नहीं करते। दूसरे प्रकार के लोग, जो सज्जन और साधु आचरण वाले हैं, राजधर्म के कारण पुण्य कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं। क्षात्रधर्म लोक में ज्येष्ठ और सब धर्मों का पारायण है। वही अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति कराता है और स्वयं अक्षय और सर्वत्र गति रखने वाला है। (अ० ६४)

"इन्द्र ने पुनः कहा, 'इस प्रकार सब पराक्रमों से युक्त क्षात्रधर्म सब धर्मों से श्रेष्ठ है। हे पार्थिव! आपको उसका पालन करना चाहिए, नहीं तो प्रजाओं का अभाव हो जायगा। राजा को उचित है कि वह भूमि का संस्कार, राज्य का संस्कार, प्रजा-पालन, समर में प्राण-त्याग इन्हें मुख्य धर्म समझे। त्याग को मुनियों ने श्रेष्ठ कहा है। उनमें सर्वश्रेष्ठ वह है जो स्वदेह का त्याग करता है। सब धर्मों का समन्वय राजधर्म में है, जिसे हे राजन्, आप यहां प्रत्यक्ष देख सकते हैं। क्षत्रिय ब्रह्मचारी को उचित है कि विद्याध्ययन और गुरुशुश्रूषा करते समय ही क्षात्रधर्म के आदर्श को ग्रहण करे। जब वह गृहस्थ होकर राज्य-सिंहासन पर बैठे तब उसे चाहिए कि वर्णाश्रम का पालन करता हुआ उन-उन

उपायों से क्षात्रधर्म का व्यवहार सिद्ध करे। आश्रम धर्मों को अनेक प्रकार के उद्योगों द्वारा पूर्ण किया जाता है। क्षात्रधर्म सब धर्मों से युक्त और सबसे श्रेष्ठ है। चार वर्णों के लोग जब अपने-अपने धर्मों का पालन नहीं करते तब वे धर्म व्यर्थ हो जाते हैं। तब मनुष्य निर्मर्याद होकर पशुतुल्य हो जाते हैं।[1] क्षात्रधर्म अर्थ प्राप्ति कराकर लोगों को नीति में प्रतिष्ठित करता है। राजधर्म ही श्रेष्ठ है। इसे मैं वीरों का धर्म कहता हूँ, जिसका पालन पराक्रम पर ही निर्भर है।' राजधर्म की श्रेष्ठता के विषय में इन्द्र ने मान्धाता से इस प्रकार पहले कहा था।"

: ७४ :

दस्यु जातियों का आर्य संस्कृति में परिवर्तन

इसके बाद उस युग की एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समस्या को लिया गया है। उसे किसी भागवत लेखक ने राजधर्म के अन्तर्गत डालकर उसका समाधान भी सुझाया है। समस्या यह थी कि गुप्त युग से पूर्व अनेक विदेशी जातियां इस देश में आ गई थीं और वे देश के भिन्न-भिन्न भागों में बस गई थीं। वे दस्युओं की भांति रहती थीं और भारतीय सामाजिक व्यवस्था के नियमों को उन्होंने स्वीकार नहीं किया था। अतः यहां के राजाओं के सामने यह समस्या थी कि उन्हें कैसे आर्य-धर्म में दीक्षित किया जाय। यही प्रश्नोत्तर के रूप में इस अध्याय का विषय है। मान्धाता बहुत बड़े चक्रवर्ती थे। बौद्ध और भागवत दोनों ही उन्हें मानते थे। बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में मान्धाता के चरित्र का विस्तार

---

१. निर्मर्यादान् निरर्थमर्थं निर्विघ्नान्
आहुस्तान् वै पशुभूतान् मनुष्यान् ॥ ६५।७ ॥

से वर्णन करते हुए लिखा है कि मान्धाता ने सम्पूर्ण पृथिवी पर धर्म-स्थापना करके स्वर्ग या उत्तरकुरु में धर्म स्थापित करने के लिये वहां की यात्रा की और असुरों के शरीरों पर अपने धर्मरथ का पहिया चलाया। भागवतों के १६ राजाओं की सूची में मान्धाता को विशेष स्थान दिया गया है। उन्हें भारतीय महाचक्रवर्ती का प्रतीक समझना चाहिए। उन्होंने इन्द्र से पूछा कि हमारे राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में जो विदेशी दस्यु बस गये हैं, उन्हें किस प्रकार धर्ममार्ग में लाया जाय। यहां पहले १८ प्रकार के उन दस्युओं के नाम दिये गये हैं, जिनमें कितनी ही विदेशों से आई जातियां थीं और कितनी यहीं बसनेवाली ऊबड़-खाबड़ जातियां थीं जो भारतीय संस्कृति में घुल-मिल नहीं पाई थीं। ये नाम इस प्रकार हैं—

१. यवन, २. किरात, ३. गान्धार, ४. चीन, ५. शबर, ६. बर्बर ७. शक, ८. तुषार, ९. कङ्क[1], १०. पह्लव, ११. आन्ध्र, १२. मद्रक, १३. ओड्र, १४. पुलिन्द, १५. रमठ, १६. कंबोज (पाठा० काचा: वङ्क्षु के ऊपरी हिस्से में रहने वाली जाति), १७. म्लेच्छ, और १८. ब्रह्मक्षत्र।[2]

पह्लव—अंग्रेजी में इनका नाम पार्थियन है, जो ईरान के एक प्रदेश पार्थिया से आये थे।

---

१. यह मध्य एशिया के सुग्ध या सोग्डियाना प्रदेश में रहने वाली जाति थी जिसका उल्लेख भागवत के 'आभीरकङ्का यवनाः खशादय' में आया है। ये भी भागवत सांचे में ढल गये थे। इनमें से अधिकांश कांगड़ा में आबाद हुए।

२. ब्रह्मक्षत्र लिच्छवियों का नाम था। इन्हें शर्मक-वर्मक भी कहते थे। इनकी राजकुमारी गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त से ब्याही गई। तब से गुप्त सेना में लिच्छवियों की एक मजबूत टुकड़ी भी रहने लगी। मत्स्य और लिङ्ग पुराणों में इसका उल्लेख है। अभी तक लिच्छवियों के वंशज अपने को त्रिकर्मा ब्राह्मण कहते हैं। वे ही जेत्थरिया या भुइंहार हैं।

मद्रक—ये पंजाब के मद्रक यवन थे, जो भारतीय इतिहास में इण्डो-ग्रीक कहलाते हैं। इनकी राजधानी शाकल या स्यालकोट थी। कर्णपर्व में भी इन्हें मद्रक यवन कहा है।

यवन—ये संभवतः वाह्लीक या वलख के यूनानी थे, जिन्हें अपने यहाँ वाह्लीक यवन कहा जाता था।

चीन—मध्य एशिया में ये तुर्किस्तान के निवासी थे।

शवर—विन्ध्याटवी के वनों में रहनेवाले।

शक—शकस्थान से आनेवाले क्षहरात शक और कुषाण शक भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने तक्षशिला, मथुरा और उज्जैन में कई सौ वर्षों राक राज्य किया। कनिष्क, हुविष्क आदि सम्राट् शक जाति के थे।

तुषार—ये भी मध्य एशिया से आये थे, जो श्वेत रंग के होने के कारण श्वेत हफ्ताल भी कहलाते थे।

ओड्र—उड़ीसा के आदि निवासी।

पुलिन्द—विन्ध्य क्षेत्र में रहनेवाले।

रमठ—हिंगुल से गजनी तक रहने वाले।

काचा :—(पाठा० कम्बोजाः)।

ये लोग किस प्रकार धर्माचरण करें, अर्थात् उस धर्म का पालन करें जिसे आर्य धर्म कहते हैं? मान्धाता ने स्पष्ट पूछा कि मेरे जैसा सम्राट् किस प्रकार इन्हें अनुशासन में लाने में संयुक्त हो। ऐसी कौन सी युक्ति काम में लाई जाय?

(मद्विधैश्च कथं स्थाप्याः सर्वे ते दस्युजीवनः। ६५।१५)

इसके उत्तर में विष्णुरूपधारी इन्द्र ने उन दस्युओं को आर्य धर्म और संस्कृति का अंग वनाने के लिए निम्नलिखित युक्तियां वताई।

१. उन्हें चाहिए कि पारिवारिक जीवन के नियम जो आर्यधर्मावलम्बियों में हैं, उनका सेवन करें। अर्थात् माता-पिता की सेवा-सुश्रूषा

करें और आचार्य एवं गुरु की सेवा करें तथा आश्रमों में निवास करनेवाले ऋषि-मुनियों की सेवा करें।

२. सब दस्युओं को चाहिए कि राजाओं का अनुशासन मानें और उनके प्रति सम्मान प्रकट करें।

३. वैदिक धर्म की जो क्रिया या कर्मकांड है, उसे वे अपना धर्म समझें।
(वेदधर्मक्रियाश्चैव तेषां धर्मो विधीयते । ५६।१८)

४. पितृयज्ञ अर्थात् यथावत् विधि से श्राद्धकर्म करें।

५. उन्हें चाहिए कि जनहित के लिए कुएं, बावड़ी, सड़कों के किनारे प्याऊ (प्रपा) और विश्राम-स्थान बनवावें।

६. यथाकाल ब्राह्मणों को दान दें।

७. अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शौच, अद्रोह, इन चरित्र-संबंधी नैतिक गुणों का पालन करें।

८. जीविका के लिए अपने-अपने दाय या उत्तराधिकार का पालन अर्थात् जैसी जिसकी जीविका है उसी का आचरण करते रहें (वृत्ति-दायानुपालनम् ६।१९६)।

९. अपने परिवार में स्त्री-पुत्रों का भरण-पोषण करें।

१०. सब यज्ञों में उनके अनुकूल अच्छी दक्षिणा कल्याणार्थ दें।

११. सब दस्युओं को चाहिए कि वे पाक यज्ञों का अनुष्ठान करें, जिनमें द्रव्य का अच्छा व्यय हो (पाकयज्ञा महार्हाश्चा कर्त्तव्या सर्वं दस्युभिः । ६५।२१)

इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम के क्षेत्रों में दस्यु नामधारी उन-उन जातियों के लिए किस प्रकार का आचरण योग्य था, इसका कुछ चित्र ऊपर दिया गया है। उन्हें आर्य संस्कृति में लाने के लिए यही स्थूल और व्यापक प्रकार थे। धर्म का आचरण, नैतिक जीवन, राजधर्म का पालन, पारिवारिक जीवन, इनके सार-संभाल एवं अनुष्ठान से शनैः शनैः जो यवन-शक-तुषार आदि जातियां थीं, वे सब आर्य संस्कृति की अंग बन गईं और उनमें कोई भी विद्रोही या अनुशासनविहीन नहीं

रहा। जो भारतीय समाज का सांचा था सब उसी में ख. गए। ज्ञात होता है कि वे यहीं के आचार्यों और गुरुओं से यहां की विद्या और शास्त्रों का अध्ययन करने लगे, जैसा 'आचार्य-गुरु-सुश्रूषा' पद से ज्ञात होता है। देखा-देखी वे अपने घरों में धार्मिक त्योहार और देवताओं के लिए उत्सवादि भी मनाने लगे, जिन्हें पाक यज्ञ कहा गया है।

मान्धाता ने पुनः उसी प्रसंग को लेकर कहा कि जिन दस्युओं अर्थात् विदेशी जंगली जातियों का मैंने पहले उल्लेख दिया है, वे दस्यु सब वर्णों में हैं और चारों आश्रमों में विभिन्न लक्षणों को स्वीकार रहते हैं। यह बात यथार्थ थी, जैसा कि विहार के 'शाकलदीपी' मग ब्राह्मण और राजस्थान की हूण ब्राह्मण एवं हूण क्षत्रिय जातियों से ज्ञात होता है। इन्हीं में जाट एवं गूजरों की भी गिनती थी। उन सबको आर्य-प्रभाव में लाना आवश्यक था।

इन्द्र ने उत्तर दिया, "जब दण्डनीति का नाश हो जाता है और राजधर्म का निराकरण हो जाता है तब उन-उन जातियों के राजा दुरात्मा हो जाते हैं। उनके अनुयायी भी विगड़ जाते हैं। वे मोह में पड़ जाते हैं। ऐसे समय में असंख्य मनुष्य भिक्षु बन जाते हैं और भांति-भांति के भेष धारण कर लेते हैं। सत्ययुग का लोप होने से चारों आश्रमों में व्यक्ति नाना रूप धारण कर लेते हैं। वे लोग प्राचीन धर्मों को अनसुना करके काम और क्रोध के वश में हो जाते हैं। मनमाना व्यवहार करने लगते हैं तथा उत्पथ में पड़ जाते हैं। जब महात्मा राजाओं द्वारा दण्डनीति के प्रयोग से पाप की निवृत्ति की जाती है तब शाश्वत धर्म विचलित नहीं होता है। जो परलोक, गुरु और राजा को नहीं मानता उसका यज्ञ करना, श्राद्ध करना निष्फल है। मनुष्यों के अधिपति राजा को, जिसके शरीर में आठ लोकपालों के अंश हैं, देवता भी मानते हैं। जिस प्रजापति ने यह सारा विश्व रचा है, वह प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्मों के लिए क्षात्र धर्म की ओर ध्यान देता है। वह

मेरे लिए मान्य और पूज्य है, क्योंकि क्षात्र धर्म की प्रतिष्ठा प्रवृत्ति धर्म में ही है।"

भीष्म ने कहा, "इस प्रकार जब धर्म का ठीक आचरण होने लगा तब किसी का साहस क्षात्र धर्म की अवहेलना करने का न हुआ। तुम अपने राज्य में आरंभ से ही चक्र का प्रवर्तन करो, अर्थात् चक्रवर्ती के दायित्व का वहन करो। आरंभ से ही परम पुरुष भगवान् विष्णु की शरण में जाओ, तो तुम्हें चक्र-प्रवर्तन में कोई कठिनाई न होगी, ऐसा मेरा मत है।"

ज्ञात होता है कि अंतिम श्लोक में भीष्म ने चक्रपुरुष या विष्णु के चक्रपुरुष की ओर ध्यान दिलाया है, जिसके अनुसार समस्त राज्य को चक्रपुरुष के नारायणी स्वरूप और दुर्धर्ष स्वरूप का अंग माना जाता था। राजा का जैसा संकल्प होता था वैसा ही वह राज्य को ढाल लेता था। चक्र पुरुष का पूरा स्वरूप 'अहिर्बुध्न्य संहिता' में बताया गया है, जो गुप्त युग के भागवतों का महान् ग्रंथ है।

युधिष्ठिर ने कथा का पहला सूत्र जोड़ते हुए कहा, "मैंने सुना है आश्रम चार होते हैं। हे पितामह, उनकी व्याख्या कीजिये।" उत्तर में भीष्म ने चार आश्रमों के कर्मों को राजधर्म में ही घटाकर गृहस्थ आश्रम को सबसे बड़ा बताया। काम-द्वेष-रहित दण्डनीति का सेवन करने से राजा मानों सन्यास आश्रम का (भैक्ष्याश्रम) का पालन करता है। जो धनसंग्रह और उसके त्याग को निग्रह एवं अनुग्रह को वीरोचित वृत्ति से जानता है, वह गृहस्थ आश्रम का फल प्राप्त करता है (क्षेमाश्रमपदं भवेत् ६६।६)। ज्ञाति संबंधियों, और मित्रों का विपत्ति में जो उद्धार करता है, वह ब्रह्मचर्य आश्रम (दीक्षाश्रमपदं भवेत् ६६।७) का फल पाता है। जो राजा अपने आह्निक का ठीक से निर्वाह करता है और भूत तथा पितृयज्ञों को करता है, वह वानप्रस्थ (वन्याश्रमपदं भवेत् ६६।८) का फल प्राप्त करता है। सब भूतों का पालन और राष्ट्र के पालन से राजा वानप्रस्थ आश्रम का फल प्राप्त करता है। वेदाध्ययन, क्षमा, आचार्य-पूजा, उपाध्याय की सेवा से राजा को ब्रह्मचर्य

आश्रम का फल मिलता है। सब प्राणियों में कुटिलता-शठता-रहित व्यवहार करने से राजा को ब्रह्मचर्य आश्रम का फल मिलता है। वानप्रस्थ-ब्राह्मणों और त्रैविद्य ब्राह्मणों में धन का वितरण करने से राजा को वानप्रस्थ का फल मिलता है।

"सब भूतों में अनुकम्पा और दया भाव रखने से राजा को चारों आश्रमों का फल राजधर्म से ही मिल जाता है (सर्वावस्थं पदं भवेत् ६६।१२)। जिन प्राणियों के साथ बलात्कार किया गया है, उन शरणागतों की रक्षा से राजा को गृहस्थ आश्रम का फल मिल जाता है। चराचर भूतों की रक्षा और यथायोग्य पूजा करने से भी राजा को गृहस्थ आश्रम का फल मिलता है। ज्येष्ठातिज्येष्ठ पत्नियों, भाइयों, बेटे-पोतों का पालन करने से राजा गृहस्थ आश्रम की तपश्चर्या करता है। साधु और पूज्य लोगों के पालन से राजा को राजधर्म में ही गृहस्थ आश्रम का फल मिल जाता है। जो राजा सब आश्रमों के अनुयायियों को अपने राजभवन में भोजन देता है, उसे गृहस्थ आश्रम का पूरा फल मिल जाता है। जो ब्रह्मा के बनाये हुए धर्म में स्थित रहता है, उसे राजधर्म में ही सब धर्मों का फल मिलता है।" भीष्म के कहने का मतलब था कि राजा के लिए राजधर्म का यथावत् पालन ही मुख्य कर्तव्य है। उसे उसी से चारों आश्रमों का पूरा फल मिल जाता है और अलग-अलग धर्मों में भटकना नहीं पड़ता। देशधर्म और कुलधर्मों का पालन करने से राजा को सब धर्मों का अपने आसन पर बैठे ही फल मिल जाता है। जिस राजा के राज्य में धर्म-कुशल लोग धर्म का पालन करते हैं, उस राजा को भी उनके धर्म का एक चौथाई अंश-प्राप्त हो जाता है। जो इस काम में रक्षक या सहायक बनकर राजा की सहायता करते हैं, उनको भी उस पुण्य का चौथाई अंश प्राप्त होता है। सब आश्रमों में गृहस्थ आश्रम सब से अधिक दीप्त-निश्चय वाला है। यह सब से पवित्र है। हम सब इसी की उपासना करते हैं। वनों में और चारों आश्रमों में जितना धर्म है उन सबको तुम राजधर्म से ही प्राप्त करोगे।" (अ० ६६)

: ७८ :

राजा की उत्पत्ति

युधिष्ठिर ने प्रश्न का मुंह खोलते हुए फिर पूछा, "हे पितामह, आपने चार आश्रम और चार वर्ण कहे, किन्तु राष्ट्र का मुख्य कर्तव्य क्या है, यह भी वताइये।"

भीष्म ने कहना प्रारंभ किया, "राष्ट्र के लिए मुख्य कार्य यह है कि अपने यहां किसी व्यक्ति को राजा के पद पर अभिषिक्त करे, क्योंकि अराजक राष्ट्र में धर्म नहीं ठहरता। वहां लोग एक दूसरे को हड़प जाते हैं। अराजक राष्ट्र को धिक्कार है। जो राजा का वरण करता है वह इन्द्र का ही वरण करता है, ऐसी श्रुति है। देवों में जो इन्द्र है, वही मनुष्यों में राजा है। अराजक राष्ट्र में नहीं वसना चाहिए, यह वेदों का मत है। अराजक राष्ट्र में अग्नि द्रव्य को देवों के पास नहीं ले जाती। अराजक राष्ट्र से अधिक पाप अन्य कुछ नहीं है।

"जो विना गरम किये झुक जाता है, उसे तपाना नहीं पड़ता है। जो गाय दुहने में सहेज होती है, उसे कोई कष्ट नहीं देता। जो काष्ठ स्वयं झुका हुआ है, उसे नवाना नहीं पड़ता। इन उपमाओं को देखकर बलवान् के सामने स्वयं झुक जाना चाहिए। जो बलवान् के सामने झुकता हैं, मानों इन्द्र के सामने झुकता है। अतः भूति चाहने वाले को सर्वप्रथम राजा का वरण करना चाहिए। अराजक राष्ट्र में रहने वाले के लिए धन और स्त्री का कोई अर्थ नहीं। अराजक राष्ट्र में दूसरे के धन को हरनेवाला वहुत प्रसन्न होता है, पर जव उसके धन को भी दूसरे हरते हैं तव उसे राजा की आवश्यकता का अनुभव होता है। अराजक अवस्था में पापी भी सुखी नहीं होते, क्योंकि एक के धन को दो और दो की संपत्ति को वहुत-से हर लेते हैं। अराजक राष्ट्र में अदास को दास बना लेते हैं

और स्त्रियों को हर ले जाते हैं, यह देखकर देवों ने प्रजापालन रूप राजधर्म की व्यवस्था की।

"यदि लोक में राजा दण्ड का धारण करनेवाला न हो तो बलवान् निर्बलों को ऐसे खा लें जैसे जल में बड़ी मछली छोटी मछली को। हमने सुना है कि पूर्वकाल में प्रजाएं बिना राजा के नष्ट हो गईं। जैसे जल में मछलियों का जीवन होता है, वैसे ही उन्होंने एक दूसरे को खा डाला। हमने सुना है कि उस अवस्था में प्रजाओं ने मिलकर आपस में एक समझौता किया और कुछ शर्तें तय कीं (समेत्य ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम् ६७।१८)। हममें जो वाणी में क्रूर हो, दण्ड में कठोर हो जो पारदारिक हो, जो हमारे धन का हरण करे, उसका त्याग कर देना चाहिए—इस प्रकार सब वर्णों को आश्वस्त करने के लिए उन्होंने 'समय' स्थिर किया। तब भी वे दुःखी होकर प्रजापति के पास गये और कहने लगे—'भगवन्, बिना राजा (ईश्वर) के हम नष्ट हो रहे हैं। हमें राजा (ईश्वर) दीजिये, हम मिलकर जिसकी पूजा करें और जो हमारा पालन करे।' ब्रह्मा ने मनु को उनका राजा बनाया, किन्तु मनु ने इसे पसन्द नहीं किया। उसने कहा, 'मैं इस क्रूर कर्म से डरता हूं। राज्य बहुत दुष्कर है, विशेषकर मिथ्याचरण करनेवाले मनुष्यों में यह और भी कठिन है।' प्रजाओं ने मनु से कहा—

'आप डरें नहीं, पाप तो करने वाले को लगेगा। और फिर हम लोग कोशवृद्धि के लिए आप को पचास पशुओं में से एक पशु, सुवर्ण की तोल का पचासवां भाग और धान्य की उपज का दसवां भाग देंगे। मनुष्यों में प्रधान अपने शस्त्र और वाहन लेकर आपके पीछे चलेंगे। आपसे सुरक्षित प्रजाएं जो धर्म करेंगी, उसका चौथा भाग आपको प्राप्त होगा। उस सहज प्राप्य धर्म से प्रसन्न होकर आप हमारी रक्षा करें, जैसे देवराज इन्द्र देवों की करता है। शीघ्र विजय के लिए निकलिये, शत्रुओं का मानमर्दन कीजिये। हममें धर्म की सदा जय हो।' यह सुनकर महातेजस्वी मनु बड़ी सेना के साथ विजय के लिए निकले। राजा की

महिमा देखकर सब लोग भयहीन हो गये और सबने धर्म में मन लगाया। तब राजा ने सारी पृथिवी का पर्यटन किया और पापियों के पाप छुड़ाकर उन्हें धर्म में लगाया। इसलिए पृथिवी के जो मनुष्य अपना कल्याण चाहें वे सर्वप्रथम राजा का वरण करें। शिष्य जैसे गुरु को, ऐसे ही प्रजाएं राजा को भक्तिपूर्वक प्रणाम करें। राजा का शत्रुओं से पराभव सबको असुखावह होता है। अतः प्रजाओं को उचित है कि छत्र, वाहन, वस्त्र, आभरण, भोजन. पान, आसन, शय्या और सब उपकरण राजा को प्रदान करें। राजा को गुप्तात्मा, दुराधर्ष, प्रसन्न मुख से भाषण करने वाला, श्रुतज्ञ, दृढ़ भक्त, दानी, जितेन्द्रिय, मृदु और सरल होना चाहिए।"

इस प्रकरण में भीष्म ने राजनीति के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का वर्णन किया है कि राजा की उत्पत्ति कैसे हुई। इसमें तीन तत्त्व हैं। पहला यह कि प्रजाएं मात्स्यन्याय से रहती थीं और वे नष्ट होने लगीं। दूसरा यह कि इस स्थिति से अपना उद्धार करने के लिए उन्होंने राजा का वरण किया। तीसरी बात यह कि राजा के और प्रजाओं के बीच एक शर्तनामा तय हुआ जिसके अनुसार प्रजाओं ने राजा को कर देना स्वीकार किया और राजा ने उनकी रक्षा और पालन का दायित्व लिया। भारतीय राजशास्त्र का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पश्चिमी राजशास्त्र में भी पाया जाता है, जहां इसे 'सामाजिक समय' या सोशल काण्ट्रैक्ट का सिद्धान्त कहते हैं। (अ०६७)

: ७६ :

राजा का देवत्व विचार

युधिष्ठिर ने पूछा, "हे पितामह, यद्यपि राजा मनुष्य है, फिर भी उसे देवता क्यों कहते हैं?" भीष्म ने कहा, "इस विषय में एक वसुमना नामक

राजा ने बृहस्पति से यही प्रश्न किया था। राजा को विनय या अनुशासन का ज्ञान था और वह अपने राज्य में वैनयिक संबंधी सब कर्मों का संपादन कर चुका था।"

वैनयिक पारिभाषिक शब्द था। उसकी व्याख्या पाणिनि और कौटिल्य ने की है। वैनयिक—(विनयादिभ्यष्ठक् ५।३४) यह सूत्र अति महत्त्वपूर्ण है। विनयादि गण में पठित कई शब्द शासन की जीवित परंपरा से लिए गये थे। 'विनयः एव वैनयिकः' अर्थात् विनय शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय जोड़कर वैनयिक सिद्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि विनय और वैनयिक दोनों शब्दों के अर्थ में अन्तर न था। हाँ, वैनयिक शब्द अधिक गौरवपूर्ण और व्यंजक था। इसी प्रकार सामयिक और औपयिक, सामयाचारिक आदि शब्द थे। राजा, राजकुमार, राजपुरुष, प्रजा आदि के लिए अनुशासन की शिक्षा को कौटिल्य ने 'विनयाधिकार' कहा है। वस्तुतः विनय ही राज्य का मूल है। विनय या वैनयिक के अभाव में धर्ममूलक राज्य की कल्पना असंभव समझी जाती थी। राज्य को अराजक जनपद की स्थिति ग्रस लेती थी। शान्तिपर्व का ६८ वां अध्याय वैनयिक के आदर्श की व्याख्या करता है। यूनान के पुरराज्यों में तीन आदर्शों के समन्वय की कल्पना की गई थी— उन्नति की पूर्णतम अवस्था को प्राप्त हुआ राज्य, उच्चतम नीतिधर्म, उत्कृष्टतम नागरिक। ये तीनों एक दूसरे से अभिन्न और एक दूसरे के मूल समझे जाते थे। ठीक इसी प्रकार भारतीय जनपदों के युग में धर्म, धार्मिक राजा, राष्ट्र और धार्मिक प्रजा या लोक, इन तीनों के सह अस्तित्व या पारस्परिक अविनाभाव की कल्पना थी। इसे ही वैनयिक आदर्श माना जाता था। कोसल देश के विनयज्ञ राजा वसुमना ने अपने राज्य में वैनयिक आदर्श की स्थापना की (सर्वं वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञः, शान्तिपर्व ६८।४)

यह सर्वभूतहितनिरत राज्य की विधि थी, जिससे प्रजाएं अत्यन्त सुख प्राप्त कर सकती थीं। इसके लिए तीन बातें आवश्यक थीं। ए

धर्म, दूसरे धर्म-परायण प्रजाएं और तीसरे धर्म-मूलक राज्य। वैनयिक राज्य के विषय में युधिष्ठिर ने ये प्रश्न पूछे, "किस उपाय से प्रजाओं की वृद्धि होती है और किस प्रकार उनका क्षय हो जाता है? किसकी पूजा से उन्हें अत्यन्त सुख प्राप्त होता है?" वृहस्पति ने जो कौसल्य सुप्रभ को निश्चित उत्तर दिया था वह भीष्म ने कहा, "धर्म का मूल राज्य है। राजा के भय से प्रजाएं एक-दूसरे का भक्षण नहीं करतीं। राजा ही धर्म के द्वारा सब लोगों को प्रसन्न रखता है। बिना चन्द्र-सूर्य के जैसे लोक को अन्धकार ग्रस लेता है, वैसे ही बिना राजा के प्रजाएं अन्धकार के गड्ढे में विलीन हो जाती हैं। जैसे बिना पानी के मछलियाँ दुःखी होती हैं, वैसे ही बिना राजा के प्रजाएं।"

इसके अनन्तर १६ श्लोकों में अराजक जनपद का एक गीत दिया गया है, जिसकी टेक है—यदि राजा न पालयेत्। बलवान् दुर्बलों का माल-असबाब लूट लें और जबरदस्ती उन्हें मार डालें, यदि राजा पालन न करे। सवारी, वस्त्र, अलंकार और विविध रत्नों को पापी लोग बलपूर्वक हर लें, यदि राजा पालन करने वाला न हो। यह वस्तु मेरी है, ऐसा विश्वास किसी को न हो और विश्व का लोप हो जाय, यदि राजा पालन न करे। माता, पितर, वृद्ध, आचार्य, अतिथि, गुरु इन्हें सब लोग कष्ट देने लगें या हिंसा कर दें, यदि राजा पालन न करे। धर्म का आचरण करने वालों पर शस्त्राघात हो, सब लोग अधर्म का आश्रय ले लें, यदि राजा पालन न करे। अर्थवान् व्यक्तियों का वध, बन्धन और क्लेश होने लगे और ममत्व का भाव न रहे, यदि राजा पालन न करे। लोगों के घरों में सब कुछ शून्य हो जाय, सब कुछ दस्युओं के अधीन हो जाय और सब लोगों की स्थिति नरक जैसी हो जाय, यदि राजा पालन न करे। न पशुपालन करने वाले हों, न कृषि हो और न वणिक् का कर्म हो, धर्म और वेद-विद्या डूब जायं, यदि राजा पालन न करे। आप्तदक्षिणा वाले विधिवत् यज्ञ, समाज-उत्सव और विवाह आदि भी न मनाये जायं, यदि राजा पालन न करे। न सांड़ छोड़े जायं, न दही-दूध के गगरे मथे

जायं और न ग्वालों के ग्राम हों, यदि राजा पालन न करे। यह लोक भयभीत और उद्विग्न होकर हाहाकार करता हुआ क्षणभर में नष्ट हो जाय, यदि राजा पालन न करे। दक्षिणायुक्त संवत्सर यज्ञ निर्भय रूप में न चल सके, यदि राजा पालन न करे। तपस्वी ब्राह्मण चार वेदों का अध्ययन न कर सकें, विद्या में और तप में निष्णात तपस्वी ब्राह्मण तप न करें, यदि राजा पालन न करे। दाहिना हाथ बाएं हाथ की चोरी कर ले, जलाशयों के सेतु टूट-फूट जायं, सब लोग भयार्त्त होकर इधर इधर-उधर भाग जायं, यदि राजा पालन न करे। ब्राह्मण और अन्य वर्ण के लोग हनन के भय से धर्म का स्पर्श भी न कर सकें, कर्म कर्त्ता स्वेच्छा वरतने लगें, सब लोग नीति का मार्ग छोड़ दें, भ्रष्ट हो जायं, राष्ट्र में दुर्भिक्ष हो जाय, यदि राजा पालन न करे। जब राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, तो घर छोड़कर भागे हुए लोग फिर लौट आते हैं और द्वार के बाहर निडर होकर सोते हैं।

यह गीत रामायण और महाभारत के अराजक जनपद गीतों से मिलता है। राजा को मनुष्य जानकर उसका कभी अपमान न करें। राजा मनुष्य रूप में बड़ा देवता है।

इसके अनन्तर युधिष्ठिर ने जनपद रक्षा और गुप्तचरों की नियुक्ति के विषय में प्रश्न किया। भीष्म ने उत्तर का आरम्भ इस प्रकार किया कि राजा को सर्व प्रथम आत्म-विजयी होना चाहिए। आत्म-विजय से ही शत्रु वश में किये जाते हैं। व्यवहार पक्ष का अवलम्बन करते हुए उन्होंने कहा, "राजा को चाहिए कि अपने दुर्ग में और संधि-स्थलों में सैनिक टुकड़ियों की नियुक्ति करे। नगर, उपवन और उद्यानों में भी चौकियों की स्थापना करे। नगर और पुर के सब संस्थान या कार्यालयों में भी गुल्म या सैनिकों को रक्खे। इस प्रकार रक्षक चौकियों का प्रवन्ध करके गुप्तचरों का प्रवन्ध करे जो वहरे और अन्धों के सदृश व्यवहार करें। अमात्यों और पुत्रों का व्यवहार जानने के लिए गुप्तचरों का व्यवहार आवश्यक है। पुर, जनपद और सामन्त राज्यों में उन्हें इस प्रकार नियुक्त

करे कि वे एक दूसरे को न जानते हों। हाट-बाजारों में, भिक्षुओं के विहारों में और प्रमाद गोष्ठियों में भी गुप्तचरों की नियुक्ति होनी चाहिए। वेश, चत्वर, सभा, आराम और उद्यान में सर्वत्र गुप्तचर आवश्यक हैं। राजा को चाहिए कि बलवान् के साथ और निर्बल के भी साथ मंत्रियों की सलाह से सन्धि करे। दण्डनीति और राजा का मेल आवश्यक है।" यहाँ भीष्म ने प्राचीन राजधर्म के बहुत बड़े सिद्धान्त का वर्णन किया है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्॥ (७०।६)

"काल राजा को बनाता है या राजा काल को बनाता है, इस विषय में कभी सन्देह मत करना क्योंकि राजा ही काल को बनानेवाला है। सतयुग की पहचान यही है कि उसमें जगत् में धर्म दिखलाई देता है, अधर्म कहीं नहीं होता। लोक में जब सतयुग होता है तो ये-ये बातें नहीं होतीं। जब वैदिक कर्म किये जाते हैं तो लोक में अल्पायु और व्याधियाँ नहीं होतीं। लोग क्रूर नहीं होते। धरती बिना जोते-बोये धान्य देती है। ये सतयुग के चिह्न हैं। जब राजा दण्डनीति के तीन अंशों का पालन करता है तो वह त्रेता युग है। जब दण्डनीति के केवल दो अंश रह जाते हैं तो वह द्वापर युग कहलाता है। जब राजा दण्डनीति को सर्वथा त्याग देता है तो वह कलियुग है। कलि में अधर्म बढ़ जाता है और सबका मन अधर्म की ओर ही झुक जाता है।" इस प्रकार चार युगों की नयी परिभाषा करते हुए राजधर्म का दण्डनीति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया गया है। जो राजा अपने राज्य में सतयुग की स्थापना करता है वह स्वर्ग में सुख भोगता है—ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः (रघुवंश २। ५०)। राजा का दण्डनीति युक्त होना यही प्रजा का परम धर्म है।

इसके अनन्तर भीष्म ने राजा के व्यवहार के लिए ३६ राजगुणों की व्याख्या की। राजा को चाहिए कि प्रजाओं के साथ मालाकार जैसा व्यवहार

करे, अंगारक या कोयले फूँकने वाले जैसा नहीं। राज्य की रक्षा करे, यही सब धर्मों का सार है। (तस्मादेवं परं धर्मं मन्यन्ते धर्मकोविदाः। यद्राजा रक्षणे युक्तो भूतेषु कुरुते दयाम् ॥ ७२।२७)

: ७७ :

ब्रह्म-क्षत्र का सम्मिलित आदर्श

अगले अध्याय में ऐल पुरुरवा और कश्यप के संवाद के रूप में राजा के लिये अच्छे पुरोहित की प्रशंसा की गई है, और उस वैदिक सिद्धांत की व्याख्या है, जिसके अनुसार पुरोहित ब्राह्मण और क्षत्रिय राजा एक दूसरे से मिलकर रहते हैं (यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यं चौ चरतः सह। अथर्ववेद; ब्रह्मक्षत्रं हि सर्वेषां धर्मात्मां मूलमुच्यते ७४।५)। जब क्षत्रिय ब्राह्मण पुरोहित को त्याग देते हैं, तो उस राजा के राज्य में न वृषभ बोझा ढो सकते हैं और न दही-दूध के मटके महे जाते हैं और न यज्ञ होता है। वैदिक स्वाध्याय का क्रम टूट जाता है और सारे राज्य में दस्यु बढ़ जाते हैं। ब्रह्म और क्षत्र एक दूसरे के आधे हैं। ये दोनों एक दूसरे के अनुकूल रहकर ही महती श्री का संवर्धन करते हैं। इनके आपसी विरोध से सब कुछ संप्रमूढ़ हो जाता है। यहाँ उस संधि पुराण का उल्लेख है जिसका वर्णन पाणिनि ने मिश्रं चानुपस्वर्गमसन्धौ (६।२।१५४) सूत्र में किया है जिसके अनुसार ब्राह्मण मंत्री और क्षत्रिय राजा एक दूसरे से मिलकर रहते थे। कौटिल्य के ग्रन्थ में ब्रह्म-क्षत्र की संधि का जो परम्परागत अर्थ था, वह काशिका के उदाहरण में मिलता है (ब्राह्मणमिश्रो राजा। ब्राह्मणैः सह संहिता एकार्थ्यमापन्नः)। दोनों के लिए इस पुराण संधि का पालन आवश्यक था। उनके उदाहरण मगधराज अजातशत्रु और उनके महामन्त्री वर्षकार, कोशलराज विडूडभ के महामन्त्री दीर्घचारायण,

वत्सराज उदयन के महामन्त्री यौगन्धरायण, मगधाधिपति चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री आचार्य चाणक्य, अशोक के राधगुप्त, अवन्तिराज महापालक के महामन्त्री आचार्य पिशुन, चण्डप्रद्योत के भरत रोहक, अवन्तिराज अंशुमुख के आचार्य घोटमुख, कोसलराज परंतप के कणिङ्कभारद्वाज, पञ्चालराज ब्रह्मदत्त के आचार्य वाभ्रव्य आदि नामों से मिलते हैं। यदि ब्राह्मण रूपी ब्रह्मवृक्ष की रक्षा की जाय तो वह मधु और सुवर्ण की वृष्टि करता है और यदि उसकी रक्षा न की जाय तो वह आँसुओं से रोता है। ऐल-कश्यप-संवाद के रूप में ब्रह्म और क्षत्र के धर्म का वर्णन किया गया है और पाप और पुण्य का सुन्दर चित्र खींचा गया है।

इस वर्णन का यह श्लोक अति उदात्त है।

पुण्यस्य लोको मधुमाद् घृतार्चिर्हिरण्यज्योतिरमृतस्य नाभिः।
तत्र प्रेत्य मोदते ब्रह्मचारी न तत्र मृत्युर्न जरा नोत दुःखम्॥ (२६।७४)

इन बड़े और तेजस्वी श्लोकों की रचना किसी प्राचीन वैदिक चरण में हुई जान पड़ती है। (अ० ७४)

अध्याय ७५ में मुचकुन्द और वैश्रवण के संवाद के रूप में यह कहा गया है कि कुवेर ने मुचकुन्द को राज्य देने की इच्छा प्रकट की, किन्तु मुचकुन्द ने उसे लेने से इन्कार कर दिया जिसे उसने स्वयं अपने बाहुबल से न जीता हो।

नाहं राज्यं भवद्दत्तं भोक्तुमिच्छामि पार्थिव।
बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये॥ (७५।१८)

राजा के लिए एक आचार धर्म यह भी कहा गया है कि यदि वह चोरी किये हुए धन का पता न लगा सके, तो अपने कोश से उसकी पूर्ति करे।[1]

---

१. प्रत्याहर्तुमशक्यं स्यात् धनं चोरैर्हृतं यदि।
स्वकोशात्तत् प्रदेयं स्यात् अशक्तेनोपजीवता॥ (७६।१०)

अध्याय ७८ में ३४ श्लोकों का गीत है, जिसे केकय देश के राजा ने राक्षस और दस्युओं के निराकरण के लिए गाया था। इस गान का पहला श्लोक वही है, जो छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः॥

इस प्रकार के राजधर्म विषयक कई गीतों को यहाँ उद्धृत किया गया है। ज्ञात होता है कि जनपद युग में उनकी रचना ग्रामीण कविता के रूप में हुई थी। (अ० ७८)

छोटा काम भी बिना सहायकों के नहीं होता, तो फिर राज्य-प्रवन्ध जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य का तो क्या कहना? अतः राजा को चाहिए कि ऋत्विक, आचार्य और सर्वथा नीतिगुणों में परिपक्व सचिवों को राजकार्य में सहायक नियुक्त करे। राजा को सदा प्रमाद-रहित होकर कार्य करना चाहिए।

अध्याय ८२ में राजधर्म की एक कठिन समस्या को लिया गया है और कृष्ण-नारद-संवाद के रूप में इस वात की मीमांसा की गई है कि गणराज्यों में जो दल का नेता हो, उसे अपने ज्ञाति, बन्धुबान्धव और और मित्रों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। इसका सार यह है कि गण के नेता को स्वजनों के कड़वे वचन अपनी मीठी वाणी से सहने चाहिएं, यह एक ऐसा शस्त्र है जो लोहे से न वना होने पर भी वड़ा कारगर होता है।

कृष्णने कहा, "जो राज्य का परम मन्त्र या वड़ा रहस्य हो, उसे असुहृत् व्यक्ति पर प्रकट नहीं करना चाहिए। मैं कहने के लिए तो ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ, किन्तु मुझे अपने ज्ञाति जनों का दास्य करना पड़ता है (दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्)। मैं इस समय अधिकारों का अर्धभोक्ता हूँ, अर्थात् आधा अधिकार मुझमें है और आधा आहुक में है। अपने ज्ञातिजन के दुरुक्त या कड़वे वचन को मैं क्षमा करता हूँ।

मेरा हृदय मुझे ऐसे मथ रहा है जैसे अग्नि उत्पन्न करने वाला अरणि को मथता है। उनके दुरुक्त वचन मुझे नित्य जलाते रहते हैं। संकर्षण को अपने बल का अभिमान है और गद को अपनी सुकुमारता का। वे मुझे सहयोग नहीं देते। प्रद्युम्न को रूप का अभिमान है, इसलिए मैं असहाय रह जाता हूँ। और भी अन्धक वृष्णियों के दूसरे नेता अपने आपको महाभाग्यशाली समझ कर मेरी पहुँच से वाहर हैं और अपने-अपने उत्थानकार्य में लगे रहते हैं। जिसका वे साथ नहीं देते वह कहीं का नहीं रहता और जिसका वे साथ दें उसके लिए भी मुश्किल है। इधर कुआँ और उधर खाई—इन दोनों के वीच में मैं किसी एक को नहीं चुन पाता। आहुक या अक्रूर जिसके विपक्ष में हों, उसके लिए उससे दुःख की वात क्या हो सकती है। और जिसके पक्ष में हों उसके लिए भी अधिक दुःख क्या होगा ? मेरी हालत दो जुवारियों की माँ के समान है, जो एक की जय मनाती है और दूसरे की हार भी नहीं चाहती। अपने स्वजनों और निजी हित के इस संघर्ष में जो ठीक हो, वह मुझसे कहिये।"

नारद ने उत्तर दिया, "दो प्रकार की आपत्तियाँ होती हैं। एक वाहरी और दूसरी भीतरी। उनमें जो भीतरी आपत्ति है, वह तुम्हारे निजी कर्म से उत्पन्न हुई है और वही अधिक कठिन है। अक्रूर और भोज ये सव तुम्हारे ही वंश में उत्पन्न होकर ऐश्वर्य का उपभोग कर रहे हैं, और तुम्हें दुःख दे रहे हैं। तुमने जो ऐश्वर्य प्राप्त किया था, उसे अर्थ या काम के लिए या वीभत्स वचनों से डरकर इन लोगों को दे दिया। अव उसे फिर वापस लेना मुश्किल है, जैसे अपने ही वान्त अन्न को नहीं खाया जा सकता। वभ्रु और उग्रसेन का राज्य अव वापस लेना कठिन है, क्योंकि उससे ज्ञातियों में फूट पड़ने का भय है। यदि प्रयत्न से दुष्कर कर्म करके वह सिद्ध भी हो जाय तो महान् क्षय और व्यय होगा। ऐसे शस्त्र से जो लोहे का नहीं वना है, जो हृदय में घुसकर मीठी काट करता है, तुम कटुवचन कहने वाले सवकी जीभ को जीत

लो और बदल डालो।" इस पर कृष्ण ने पूछा, "ऐसा अनायस और मृदु शस्त्र कौन-सा है, जिससे मैं उनकी निन्दा को वश में ला सकूँगा?" नारद नें उत्तर में कहा, "शक्ति के अनुसार उन्हें अन्न या भौतिक पदार्थों का दान दो, सहिष्णुता, दम और इन्द्रियनिग्रह, ऋजुता (आर्जव) और जो जिस योग्य है उसकी वैसी पूजा यही अनायस शस्त्र है। स्वजनों के कड़वे वचनों को तुम अपनी वाणी से शान्त करो और उनके मन का परिवर्तन करो। ऐसा व्यक्ति जो महान् नहीं है, जो अपने आपको वश में नहीं कर सका और जिसके पास सहायक नहीं हैं, भारी बोझे को नहीं ढो सकता। तुम्हें चाहिए कि ऐसा करो। हरेक बैल समभूमि में भारी बोझ खींच ले जाता है, किन्तु दुर्गम भूमि में उसे खींचना किसी-किसी के लिए ही संभव है।" नारद का यह उपदेश संघ या गण राज्यों के नेताओं के लिए ही था यह बात नीचे के श्लोक में और स्पष्ट कर दी गई—

भेदाद्विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेत् अयं संघस्तथा कुरु॥ (८२।२५)

"फूट से संघों का विनाश हो जाता है। हे कृष्ण, तुम संघ-प्रमुख हो। ऐसा करो कि तुम जैसे नेता को पाकर संघ नष्ट न हो। बुद्धि और क्षमा और इन्द्रिय-निग्रह के बिना, धन के त्याग के बिना गण को किसी भी प्राज्ञ व्यक्ति में स्थायित्व प्राप्त नहीं होता। हे कृष्ण, जिस उपाय से धन, यश, आयुष्य की वृद्धि हो और ज्ञातियों का नाश न हो, वैसा करो। भविष्य और वर्तमान के विषय में तुम्हें कुछ भी अविदित नहीं है। षाड्गुण्य, यात्रा और यान सम्बन्धी सब विधानों को तुम जानते हो। कुक्कुर, भोज, अन्धक, वृष्णि– सब तुम्हारे भक्त हैं एवं लोकाधिपति भी तुम्हारे भक्त हैं।" (८२।३–३०)

राजधर्मों का कथन करते समय यहाँ गणाधीन राज्यों के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त कहे गए हैं। एकाधीन और गणाधीन दोनों प्रकार के राज्य इस देश में थे। कृष्ण का जन्म और प्रतिपालन अन्धक

वृष्णियों के गण राज्य में हुआ था। उसके दो नेता थे—वृष्णियों के कृष्ण और अन्धकों के अक्रूर या आहुक। इसीलिए कृष्ण ने अपने आपको ऐश्वर्य का अर्ध-भोक्ता कहा है।

अध्याय ८३ में राजकोश की रक्षा के लिए राजा के सतर्क रहने का वर्णन है। अध्याय ८४ में बताया है कि राजा को किस प्रकार के और किन गुणों से युक्त सहायक या मन्त्री रखने चाहिएं। जिनकी वैनयिकी बुद्धि हो, जो तेज, धैर्य, क्षमा, शौच, अनुराग, स्थिति और धृति सम्पन्न हों और जिनके मनोभाव की परीक्षा ले ली गई हो, उन्हें आर्थिक कार्यों में नियुक्त करे। जो ठीक प्रकार से सलाह दे सकें, वीर हों, जिनमें प्रतिभा हो, कुलीन और सत्य-सम्पन्न हों, देश और काल का विधान जाननेवाले तथा स्वामिकार्य में हितैषी हों, उन्हें मन्त्री बनाना चाहिए।

राजधर्म में सबसे अधिक महत्त्व मन्त्र का है। अतः यह बताया गया है कि किस प्रकार के व्यक्ति को अपना मन्त्र न बताना चाहिए क्योंकि मन्त्र खुलने से राज्य के लिए कठिनाई पैदा हो जाती है। (अ० ८५)

मन्त्रिपरिषद् में मन्त्रियों की संख्या आठ कही गई है और उन पदों पर योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति पर बड़ा बल दिया गया है। धर्मासन या न्याय करनेवाले अधिकारी के गुणों का भी वर्णन किया गया है। पापियों को अपराध के अनुरूप दण्ड देना चाहिए। किसी के दूत का वध नहीं करना चाहिए। दूत, प्रतिहार, शिरोरक्ष, संधिविग्रहिक और सेनापति नामक अधिकारियों के गुणों का वर्णन भी किया गया है। इस प्रकार का अमात्यविभाग गुप्त युग के शासन में प्रचलित था। (अ० ८६)

अध्याय ८७ में दुर्ग-विधान और उसमें विविध प्रकार की सामग्री एवं व्यक्तियों के संचय का विधान है।

इसके बाद अध्याय ८८ में राष्ट्र-गुप्ति या जनपद-गुप्ति का विवेचन किया गया है। एक गाँव, दस गाँव, बीस गाँव, सौ गाँव और एक

सहस्र गाँवों की इकाई बनाकर उनके अधिपति नियुक्त करने चाहिएं। उनमें जो दोष हों, उनकी सूचना ग्रामिक बड़े अधिकारी को दे। शत-ग्राम के अधिपति को एक गाँव और सहस्र गावों के अधिपति को एक शाखानगर भृत्ति के लिए दिया जाना चाहिए। ग्राम-शासन को देखने के लिए एक धर्मज्ञ सचिव की नियुक्ति होनी चाहिए। प्रत्येक नगर में एक नगरचिन्तक की नियुक्ति आवश्यक है। बछड़ा जैसे गो का दूध पीता है, वैसे ही राजा को राष्ट्र में कर उगाहना चाहिए। राजा को उचित है कि सार्थवाह या वंजारों के लिए भी उचित नियमों और कराधान की व्यवस्था करे। (अ० ८९)

राजा के कर ग्रहण करने की नीति ऐसी होनी चाहिए, जैसे बछड़ा दूध पीते समय गाय के थनों को चोट नहीं पहुँचाता, जैसे शहद लेने वाला मक्खियों के छत्ते को नष्ट नहीं करता, जैसे जोंक जल में रहते हुए जल पी लेती हैं पर पता नहीं चलता। मनु ने यह व्यवस्था की थी कि कोई आपत्ति के विना किसी से भीख नहीं मांगेगा। राजा का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र में सबके लिए वृत्ति या जीविका का विधान करे और लोगों को ऐसे कार्यों में लगावे जिससे वे अर्थोपार्जन द्वारा स्वतंत्रता से रह सकें। (अ० ९०)

: ७८ :

राजधर्म और अप्रमाद

इसके अनन्तर अङ्गिरा और मान्धाता के संवाद रूप में राजा के गुणों की प्रशंसा की गई है। राजा का जन्म धर्म के लिए होता है, काम के लिए नहीं (धर्माय राजा भवति न कामकारणाय तु। मान्धातरेवं जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता॥)। जो राजा लोकधर्म-रक्षारूप

राजधर्म का पालन करता है, वह देवता की पदवी प्राप्त करता है। यदि वह राजधर्म का आचरण नहीं करता तो नरक में जाता है। सब प्रजाएँ राजधर्म में स्थित हैं, राजधर्म राजा में स्थित रहता है। वही राजा सच्चा है, जो राजधर्म का ठीक-ठीक अनुशासन करता है। राजा परम धर्मात्मा हो तो भी यदि वह धन वटोरने लगता है, तो उसे पाप धर दवाता है। यदि पाप का निवारण न किया जाय तो अधर्म बढ़ जाता है। प्रजाओं के मन में ऐसी विह्वलता छा जाती है, मानों उन्हें कोई मार रहा हो। दोनों लोकों को समझ कर ही ऋषियों ने राजा का निर्माण किया कि यह महाप्राण व्यक्ति मूर्तिमान धर्म होगा। राजा वही है जिसमें धर्म विराजमान हो। जिसमें राजधर्म का लोप हो जाता है, उसे देवता वृषल कहते हैं। धर्म की वृद्धि से सब भूत बढ़ते हैं। धर्म के ह्रास से प्रजाओं का ह्रास होता है। इसलिए प्रजाओं का अनुग्रह करने के लिए धर्म को बढ़ाना चाहिए। फिर सर्वस्वों में धर्म सबसे अधिक प्रिय वस्तु है। जो धर्म को चुनता है, वही राजा है। राजा काम और क्रोध को छोड़कर धर्म का ही पालन करे। राजाओं के लिए धर्म सबसे अधिक श्रेयस्कर है। ब्राह्मण धर्म के स्रोत हैं, इसलिए उनका सम्मान करे। कहते हैं कि यज्ञ में कुछ त्रुटि हो जाने से देवी श्री ने दर्प को जन्म दिया। दर्प ने देवों और असुरों को अपने वश में कर लिया। जो उसे जीत लेता है। वही राजा है, जो उसके वश में है वही दास है। राजा को प्रमादरहित होना चाहिए, अन्यथा उसे अनेक दोष घेर लेते हैं और राजा का नाश करने वाले अनेक उत्साह प्रकट हो जाते हैं। जो राजा स्वयं अरक्षित रहकर प्रजाओं की रक्षा नहीं करता, उसकी प्रजाएँ स्वयं क्षीण हो जाती हैं। यहाँ राजधर्म और राजा के प्रमाद तथा उन दोनों का तारतम्य या भेद बताया गया है। एक से धर्म और दूसरे से पाप बढ़ता है।

मेघ समय से जल बरसायें और राजा धर्म का पालन करे, इन्हीं दो बातों से प्रजाओं में सुख-संपत्ति होती है। जो धोबी कपड़ों का मैल छुड़ाना नहीं जानता, उसका होना या न होगा एक-सा है।

एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह बताया गया है कि राजा ही युग है। सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग—ये सब राजधर्म से ही होते हैं। राजा ही प्रजाओं का कर्त्ता और राजा ही उनका नाशक है। धर्मात्मा उनको बनाने वाला और अधर्मात्मा उनको नष्ट करने वाला होता है। यदि राजा प्रमाद करता है, तो उसके पुत्र, मित्र, बन्धु-बान्धव और स्त्रियाँ सबको शोक का सामना करना पड़ता है। राजा को उचित है कि राज्य में किसी को दुर्बल न रखे। दुर्बल की हाय राजा को जला देती है। जब राजा के नौकर-चाकर जनपद में घुसकर प्रजा पर अत्याचार करने लगते हैं, तो उसका बड़ा पाप राजा पर पड़ता है। जब 'युक्त' संज्ञक राजपुरुष प्रजाओं का धन छीनने लगते हैं, तो वह राजा के लिए जैसे बड़ी हत्या हो। जब कोई महावृक्ष बढ़ता है, तो लोग उसका आश्रय लेते हैं। पर जब उसे काट डालते या जला देते हैं, तो उसका आश्रय लेने वाले घर-बार से रहित हो जाते हैं।

दान-देना और बाँट कर खाना, अपने अत्याचारी पुरुषों का दमन करना—यह राजा का धर्म है। मन, वचन, कर्म से सबकी रक्षा करना और पुत्र के अत्याचार को भी न सहना—यह राजा का धर्म है। शरणागतों की पुत्रवत् रक्षा और मर्यादा का उल्लंघन न करना—यह राजा का धर्म है। बहु-दक्षिणायुक्त यज्ञों का अनुष्ठान करना, काम और द्वेष के वश में न होना—यह राजा का धर्म है। गरीब, अनाथ और वृद्धों के आँसू पोंछना, लोगों में हर्ष की वृद्धि करना—यह राजा का धर्म है। मित्रों को बढ़ाना, शत्रुओं को दबाना, और साधुओं का सम्मान करना—यह राजा का धर्म है। सत्य का पालन और नित्य भूमि का दान—यह राजा का धर्म है। अतिथियों और भृत्यों का भरण-पोषण—यह राजा का धर्म है। ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्य इनका उचित रीति से सम्मान करना और ये यदि कुपथ पर हों तो इनका निग्रह करना राजा का धर्म है।

सब भूतों का संग्रह, दान और मधुरवाणी, पौर-जानपद लोगों की रक्षा—यह राजधर्म है। किन्तु यदि राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता, तो राजधर्म भार हो जाता है। दण्डवेत्ता, प्राज्ञ, शूर, ऐसा राजा प्रजाओं की रक्षा

कर सकता है। किन्तु अदण्डधर, क्लीव और अबुद्धि वाला राजा प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता।

इसके बाद राजवृत्ति के रूप में राजा के लिए कर्त्तव्याकर्तव्य का निर्णय किया गया है। इसके वक्ता नहुषपुत्र ययाति हैं।

वसुमना कौसल्य ने वामदेव से प्रश्न किया कि क्या कोई ऐसी युक्ति भी है कि युद्ध के बिना ही राजा देशों को जीत ले।[1]

युद्ध के द्वारा जो राज्य की विजय है, उसे जघन्य कहा गया है।

पहली बात तो यह है कि जो अपना नहीं है, उसकी लिप्सा न करे। अपने मूल राज्य को दृढ़ बनाना चाहिए। जिसका मूल दृढ़ नहीं है, उसे यदि कुछ मिल भी जाय तो उससे क्या लाभ। जिसका अपना जनपद लम्बा-चौड़ा, सपन्न और राजा से प्रेम करने वाला है और जिसके सचिव संतुष्ट और पुष्ट हैं, उस राजा को दृढ़मूल कहना चाहिए। जिसके योद्धा सुसंतुष्ट, और उन्हें सब प्रकार सान्त्वना से युक्त बनाया गया है, सुपरीक्षित हैं, ऐसा राजा अल्पदण्ड से ही देश विजय कर लेता है। जिसके पौर-जानपद (नगर और गाँव के लोग) अनुरक्त, सुपूजित, धान-धान्य से युक्त होते हैं, वह राजा दृढ़मूल है। जब राजा अपने प्रभाव और काल की अनुकूलता समझे, तब वह परायी भूमि और धन को जीतने की इच्छा करे। इसका सार यह है कि राजा को सर्वप्रथम अपने पिता-पितामह के राज्य को, सचिवों एवं पौर-जानपद प्रजाओं को दृढ़ बनाना चाहिए। और तभी वह पराया देश जीतने की इच्छा करे। अन्यथा मूल भी जाता है और तूल भी नहीं मिलता। (अ० ९५)

---

१. अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेत् वसुधाधिपः।
जघन्यमाहुर्विजयं यो युद्धेन नराधिप ॥ (९५।१)

: ७९ :

विजिगीषु राजा का व्यवहार

(अ० ९६-१०७)

इन अध्याय में विजिगीषु या देश-विजय की इच्छा वाले राजा का वृत्त बताया गया है। उसका सार यह है कि विजय के मूल में धर्म होना चाहिए, अधर्म नहीं। इसी को धर्म-विजय कहते हैं, या ऐसे राजा को धर्मविजयी कहते हैं। अधर्म-विजयी राजा अध्रुव और अस्वर्ग्य होता है। विजिगीषु राजा को चाहिए कि धर्म का लोप और मर्यादा का भेदन न करे। अधर्म द्वारा प्राप्त विजय से कोई लाभ नहीं है। कहा जाता है कि राजा प्रवर्धन ने बिना भूमि को जीते ही शत्रु के पुर की अमृत औषधियों को प्राप्त कर लिया था। दिवोदास ने अग्निहोत्र के अग्निशेष हवि-र्भाजन का आहरण किया था, इस कारण वह निन्दा को प्राप्त हुआ। नाभाग अम्बरीष ने राज्य और राष्ट्रों को दक्षिणा में दान दे दिया और श्रोत्रियों एवं तपस्वियों के धन की रक्षा की। इस प्रकार विजिगीषु राजाओं के ऊँचे-नीचे चरित हैं। अतः माया या कपट से विजय की इच्छा न करे।

विजिगीषु की संग्राम में मृत्यु

युधिष्ठिर के कथनानुसार विजिगीषु के लिए संग्राम में मृत्यु प्रशंसनीय है। पर क्षात्रधर्म से बढ़कर और कोई पाप नहीं था, क्योंकि अभियान और युद्ध से राजा बहुतों की हिंसा करता था। भीष्म ने कहा, "पापियों के निग्रह और साधुओं के अनुग्रह से, यज्ञ एवं दान से, राजा पवित्र और निर्मल हो जाते हैं। विजयार्थी राजा जिन प्रजाओं का उपरोध करते हैं, पुनः विजय के बाद उन्हें बढ़ाते हैं। दान, यज्ञ और तपोबल से पापियों का निरोध करते

और अनुग्रह से प्रजाओं को बढ़ाते हैं। जैसे दांय चलाने वाला धान्य और घासफूँस (कक्ष), दोनों की हिंसा करता है, पर उससे धान्य का नाश नहीं होता है, ऐसे ही शस्त्रों के द्वारा विजय करने वाला भूतों की रक्षा करके अपने उस पाप से मुक्त हो जाता है। जो लोगों को धन की हानि, वध और क्लेश से वचाता है और शत्रुओं से प्राणदान देता है, वह सचमुच धन और सुख का देनेवाला होता है।

"वह यज्ञ करके और लोगों को अभय की दक्षिणा देकर इन्द्रपद प्राप्त कर लेता है। जो ब्राह्मणों के लिए सेना लेकर युद्ध करता है, वह अपने शरीर का यूप बनाकर मानों अनन्त दक्षिणा वाला यज्ञ करता है। युद्ध में जितने शस्त्र उसकी त्वचा का भेदन करते हैं, वह उतने लोकों को प्राप्त करता है। उसके शरीर से जितना रक्त बहता है, उतना ही वह पापों से मुक्त हो जाता है। वह अपने घावों से जितना कष्ट सहता है, उतना ही उसकी तपोवृद्धि होती है। वे अधम पुरुष हैं, जो युद्ध में शत्रु को पीठ दिखाते हैं। ऐसे भगोड़े क्षत्रिय को काठ और ढेलों से मारना चाहिए, भूसे की आग में जला देना चाहिए। खाट पर मृत्यु क्षत्रिय के लिए अधर्म है। कफ और पित्त से कण्ठावरोध हो जाने पर हाय-हाय करते हुए मरना क्षत्रिय के योग्य नहीं है। जो अविक्षत देह से मृत्यु को प्राप्त करता है, उसकी कोई प्रशंसा नहीं करता। वीर क्षत्रिय की घर में मृत्यु प्रशंसनीय नहीं। यह कायरता, अधर्म और दीनता की बात है। जो दृप्त और अभिमानी वीर है, वह कभी अपने लिए ऐसा नहीं चाहता। क्षत्रिय की मृत्यु ऐसी हो कि रण में मारकाट का पराक्रम करे और तब अपने ज्ञातृयों के बीच में प्राण छोड़े।" (अ० ९८)

अध्याय ९९ में इन्द्र और अम्बरीष के संवाद-रूप में संग्राम की तुलना यज्ञ से की गई है। इन्द्र ने कहा, "संग्राम में हाथी ऋत्विक् हैं, घोड़े अध्वर्यु, दूसरों का मांस हवि है। शृगाल, गृद्ध, काक और उलूक सदस्य हैं। ये आज्य का शेष भाग पीते हैं और हवि खाते हैं। भाले, बर्छे, तलवार, शक्ति, फरसे—ये स्रुक् हैं। धनुष से छुटे बाण स्रुव हैं। चीते की खाल

की म्यान में रक्खी हुई हाथी दाँत की मूठवाली तलवार यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली 'स्फ्य' है। लोहे के बने हुए बर्छे, शक्ति और फरसों से लगा हुआ घाव ही यज्ञ का धन है। वेग से बहता हुआ रुधिर पूर्णाहुति है। 'छिन्धि-भिन्धि' इस प्रकार के घोष साम गान हैं। हाथी, घोड़े और कवच-धारी सैनिकों का समूह हविर्धान शकट है। संग्राम में प्रज्वलित अग्नि यज्ञ की श्येनचित् विधि है। उठकर युद्ध करने वाला कवन्ध मानों खदिर का बना यूप है। अठपहल अंकुश से प्रेरित हाथी इडाह्वन या इडाहुति के समय प्रसन्नतायुक्त गान है। व्याघोष-युक्त नाद वषट्कार है। उद्गाता द्वारा किया जाने वाला त्रिसाम गान दुन्दुभि है। शत्रुओं के सिर रणभूमि में बिछाना वेदि का बर्हि-आस्तरण है। युद्ध में मृत्यु को प्राप्त शूर का शोक न करें[1]। उसके लिए श्राद्ध में अन्नोदक या जलाञ्जलि भी नहीं होती। जो मुख में तृण रखकर ऐसा कहता है कि मैं आपकी शरण में हूँ, उसे नहीं मारना चाहिए। वृत्र, वल, पाक, विरोचन, नमुचि, संवर, और प्रहलाद को युद्ध में मारकर मैं देवराज इन्द्र बना हूँ।" (अ० ९९)

युद्ध में पीठ दिखाकर भागने वालों को मारना नहीं चाहिए। शूर की भुजाओं में यह लोक पुत्र के समान लटका हुआ है। तीनों लोकों में शौर्य से बढ़कर कुछ नहीं है। शूर सबका पालन करता है और उसी में सबकुछ प्रतिष्ठित है। इस प्रकार विजिगीषु राजा का शौर्य प्रशंसनीय होता है। (अ० १००)

अर्थ-धर्म-साधन के औपयिक या उपाय

राजा जिन उपायों को अर्थ और धर्म की सिद्धि के लिए व्यवहार में लाता था उन्हें प्राचीन राजभाषा में 'औपयिक' कहा जाता था। दस्यु (डाकू) और लुटेरे मर्यादा-रहित होते हैं। उनके विघात या नाश के ही ये उपाय हैं। सीधी और टेढ़ी, दो प्रकार की बुद्धियाँ हैं (उभे प्रज्ञे वेदितव्ये ऋज्वी वक्रा

---

१. इस प्रकार युद्ध और यज्ञ की तुलना में इक्कीस समानताओं का रूपक बाँधा गया है।

च भारत १३।१४)। जानबूझकर टेढ़ी चाल का आश्रय न ले और यदि वह आ भी जाय, तो उसे रोके। शत्रु ही टेढ़ी चाल का प्रयोग करते हैं। उसे पहचानकर राजा उस की काट करे।

हाथियों की वगली का चमड़ा, सांड़ और अजगर का चमड़ा, (अर्थात् इन चमड़ों से वनी हुई ढाल, दस्ताने आदि), शल्य या लोहे का सीलदार कवच, ये शरीर की रक्षा करने वाले है। शस्त्रों को तेज धारयुक्त वनाना चाहिए और संनाह या कवच भी लोहे के होने चाहिएं। पताका और केतु अनेक रंगों में रंगे जायं। भाले, वरछे, खड्ग और फरसों को धार रखवाकर तेज वनवाना चाहिए। चमड़े की अनेक ढाल तैयार करवानी चाहिएं। चैत्र या अगहन की पूर्णिमा के दिन सैनिक प्रयाण अच्छा कहा जाता है। उस समय खेतों में फसल पक जाती है और जलवायु भी अधिक शीत या उष्ण नहीं होती। उस समय पानी और धान्यवाले मार्ग से प्रयाण करे। अथवा, जव शत्रु पर आपत्ति हो वैसा समय चुने। इसके वाद चतुरंगिणी सेना के लिए उचित भूमि का वर्णन किया गया है। सेवा-संगठन के लिए दशाधिपति, शताधिपति और सहस्राधिपति नेताओं की नियुक्ति करनी चाहिए। सव प्रमुख लोगों को एकत्र करके शपथ दिलानी चाहिए कि 'हम संग्राम में एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ेंगे। जो कायर हों, वे अभी छोड़ कर चले जायं। घमासान युद्ध के समय छोड़ना ठीक न होगा। युद्ध के समय जो भागता है, वह अपने आपका और पक्ष का नाश करता है। पलायन से द्रव्यनाश, अयश तथा अकीर्ति होती है'। इसी प्रकार शपथ लेकर वीर लोग शत्रु की सेना में घुस पड़ते हैं। युद्ध में ढाल-तलवार लेकर लड़ने वाले पैदल सैनिकों को सवसे आगे रखना चाहिए। उससे पीछे शकट सेना होनी चाहिए। यदि थोड़ी सेना को वहु-संख्यक सेना से युद्ध करना पड़े तो सूचीमुख व्यूह की रचना करनी चाहिए। एक दूसरे का हाथ पकड़ कर ऐसा घोष करना चाहिए कि 'शत्रु भाग रहे हैं।' 'हमारे अपने मित्र सहायता के लिए आ गये हैं।' क्ष्वेड, कड़के की शब्द, किलकिला शब्द, लेजिम (क्रकच), शंख, गोविषाणिका (तुरही),

भेरी, मृदङ्ग और पणव आदि का शोर करना चाहिए। (अ० १०१)

अध्याय १०२ में प्राचीन भारत की विभिन्न सैनिक टुकड़ियों की युद्ध-कला का परिचय दिया गया है। गन्धार, सिन्धु और सौवीर के लोग तेज भालों से युद्ध करते हैं। उशीनर (पंजाब में झंग-मगझियाना) जनपद के लोग सभी शस्त्रों के चलाने में कुशल होते हैं। प्राच्य देशवासी गज-युद्ध में और कपट-युद्ध में कुशल होते हैं। यवन, काम्बोज, और मथुरा के निवासी सभी मोर्चों पर शूर-वीर, बड़े हिम्मती और बलशाली होते हैं। अध्याय १०३ में विजिगीषु राजा की सेना में रहने वाले शूरों के लक्षण कहे गये हैं।

इस के अनन्तर यह बताया गया है कि मृदु या तीक्ष्ण शत्रु पर किस प्रकार आक्रमण और प्रहार करना चाहिए। मित्र और शत्रु के लक्षण भी बताये गए हैं। (अ० १०४)

अध्याय १०५ में कालकवृक्षीय मुनि और राजा क्षेमदर्शी के संवाद-रूप में संसार के सब पदार्थों की अनित्यता और अध्रुवता का वर्णन किया गया है। कहा गया है कि राजा को चाहिए कि कन्द-मूल खाकर वन में रहे। संभव है, यह उस समय के किसी वनवासी मुनि का मत हो। किन्तु यह राजधर्म का शुद्ध रूप नहीं था। इसके उत्तर में तुरन्त ही पुरुषार्थ-वादी क्षात्रधर्म का उपदेश किया है, जिसमें पहली मुख्य बात अपने राज्य की सुव्यवस्था है, और दूसरी शत्रु के कोश के क्षय का उपाय है। कुछ अंशों में छल-कपट को नीति का प्रयोग भी उचित बताया गया है; जैसे शत्रु के सामने दैव या भाग्य की प्रशंसा करनी चाहिए, क्योंकि जो पुरुषार्थ को छोड़कर भाग्य पर निर्भर करने लगता है, वह अवश्य नष्ट हो जाता है।

---

१. अथ चेत् पौरुषं किंचित् क्षत्रियात्मनि पश्यति।
ब्रवीमि हन्त ते नीतिं राज्यस्य प्रतिप्रत्तये॥ (१०६।१)
निन्द्यास्य मानुषं कर्म दैवमस्योपवर्णय।
असंशयं दैवपरः क्षिप्रमेव विनश्यति॥ (१०६।२०)

किन्तु राजकुमार को इस प्रकार की कूटनीति का प्रयोग अच्छा नहीं लगा। तब उसके गुरु कालकवृक्ष मुनि ने वैदेह जनक को समझाकर दोनों का मेल करा दिया। (अ० १०७)

: ८० :

गणों का वृत्त

इसके अनन्तर युधिष्ठिर ने एक नया प्रकरण छेड़ा। अब तक वे राजधर्म के इतने विषय सुन चुके थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों के धर्म, वृत्त (आचार-विचार) और जीविका के साधन तथा फल, राजाओं के वृत्त, देश, कोशसंचय, अमात्यों की गुणवृद्धि, प्रकृतियों का वर्धन, षाड्गुण्य, गुणों की कल्पना, सैनिक नीति, दुष्ट की पहचान, अदुष्ट का लक्षण, अपने से सम, हीन और अधिक के लक्षण और मध्यम की तुलना में वृद्धिशील की स्थिति, संग्रह या संचय के क्षीण हो जाने पर आवश्यक कर्तव्य और विजिगीषुवृत्त। यह राजधर्म का एक पक्ष था। अब गण राज्यों के संविधान और उनकी विशेषताओं के विषय में भी विचार करना आवश्यक था। राजधर्मरूपी रथ का यह दूसरा पहिया था। गणराज्यों में लोभ और क्रोध से फूट पड़ जाती है। एक कुटुम्ब के व्यक्ति लोभ के अधीन हो जाते हैं और दूसरों में क्रोध उत्पन्न हो जाता है। उनमें क्षयधर्म या नाश की प्रवृत्ति का उदय हो जाता है। तब वे आपस में गुप्तचर, मन्त्रबल, साम, दान और भेद का आश्रय लेकर एक दूसरे का क्षय करने लगते हैं। मेल रखने वाले गणों में भी फूट पड़ जाती है। फूट पड़ने से सब शत्रु के वश में चले जाते हैं। गणों के नाश का मुख्य कारण भेद या फूट है—भेदाद्गणाः विनश्यन्ति भिन्नाः सूपजपाः परैः (१०८ । १४)। फूट पड़ने से शत्रु उन्हें अलग टुकड़ों में बाँट देते हैं। इसलिए गणों को चाहिए कि सदा अपना संगठन ठोस

बनावें। संघात (मेल-जोल) की नीति से ही गण अर्थ प्राप्त करते हैं। जब उनमें ठोस मेल होता है, तो बाहर के लोग भी उनसे मेल चाहते हैं। उन्हें चाहिए कि ज्ञानवृद्धों की प्रशंसा और सेवा करें। इस प्रकार फूट से विनिवृत्त होकर वे सर्वथा सुखी होते हैं। उत्तम गणों की यह विशेषता है कि वे शास्त्र के अनुसार धर्मिष्ठ व्यवहारों की स्थापना करते हैं। जैसा चाहिए वैसे उनके व्यवहार से गणों की निरन्तर वृद्धि होती है। पुत्र और भाइयों का निग्रह करने से, सदा विनय का पालन करने से और जो विनीत हैं उनका सम्मान करने से, गणों की वृद्धि होती है। गुप्तचर और मन्त्र के सम्पर्क-विधान से, कोश का संग्रह करने से, गणों की सब ओर से वृद्धि होती है। जो गण अपने यहाँ प्राज्ञ, शूर, महाधनुर्धारी, एवं दृढ़ पौरुष से युक्त व्यक्तियों का सम्मान करते हैं, वे वृद्धि को प्राप्त होते हैं। द्रव्यवन्त, शूर-वीर, शस्त्र और शास्त्र के जानने वाले और कठिनाइयों में भी असंमूढ रहनेवाले सदस्य लोग गणों का उद्धार करते हैं। क्रोध, भेद, भय, दण्ड, नीचे घसीटना, इन दोषों से गण शत्रु के वश में पड़ जाते हैं। इसलिए सर्वप्रथम जो गणमुख्य या संघ के प्रधान नेता हैं, उनका सम्मान करना चाहिए। लोक की समृद्धिपूर्ण जीविका उन्हींके अधीन है। गण में जो मुख्य नेता हैं, उन्हें ही गुप्तचरों का हाल जानना चाहिए और गुप्त मन्त्र भी उन्हीं तक सीमित रहना चाहिए। सम्पूर्ण गण को मन्त्र का ज्ञान होना ठीक नहीं।[1]

गण मुख्यों को मिलकर या एकत्र बैठकर गण का हितकार्य करना चाहिए। यदि भिन्न-भिन्न मत रखने वाले सम्पूर्ण गण के लोग, जहाँ फूट और मतभेद भी हैं, गण के कार्य पर विचार करते हैं, तो उसका फल उल्टा होता है। उससे अर्थ का क्षय हो जाता है और अनर्थ बढ़ जाता है। परस्पर मतभेद रखने वाले और उसी में अपनी शक्ति का अपव्यय करनेवा

---

१. मन्त्रगुप्तिः प्रधानेषु चारश्चामित्रकर्षन।
न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत ॥ (१०८।२४)

सदस्यों का निग्रह करना चाहिए। गण-प्रधान को तो शीघ्र ही इस विषय में कार्य करना उचित है। यदि कुलवृद्ध कुलों में उत्पन्न हुए कलह की ओर ध्यान नहीं देते तो उससे कुलों में फूट पड़ती है और गणों में संभेद हो जाता है। भीतरी और बाहरी भय से भी गण की रक्षा करनी चाहिए। भीतरी भय से शीघ्र ही गण की जड़ें खोखली हो जाती हैं। जब आकस्मिक क्रोध, लोभ अथवा मोह के कारण गणों के सदस्य एक-दूसरे से बोलना बन्द कर देते हैं, तो बस गण के पराभव का लक्षण है। यह उल्लेखनीय है कि गण में जितने कुल होते हैं, वे आपस में बराबर हैं और उनके सदस्य भी जन्म से समान अधिकार रखते हैं। उनमें शौर्य, रूप और द्रव्य के कारण भी छोटाई-बड़ाई नहीं मानी जाती। इसलिए शत्रु उनमें फूट डालकर और प्रमाद फैलाकर उन्हें वश में कर लेते हैं[1]। इसलिए संघात या पारस्परिक मेल को ही गण या संघ का मुख्य गुण कहते हैं। (अ० १०८)

युधिष्ठिर को ऐसा प्रतीत हुआ मानों यह गणधर्म बहुमुखी और बहुत भेदवाला है, इसलिए उन्होंने जानना चाहा कि इस गण-वृत्त में मुख्याचरण के योग्य बात क्या है ? भीष्म ने उत्तर दिया, "माता, पिता और गुरुओं की पूजा मेरी दृष्टि में मुख्य है। ये जिसे धर्म कहें, उसे ही धर्म मानकर चलना चाहिए। बिना उनकी अनुमति के अन्य किसी आचार को धर्म मान बैठना ठीक नहीं। माता, पिता और गुरु—ये ही तीन लोक हैं। ये ही तीन आश्रम हैं। ये ही तीन वेद और ये ही तीन अग्नियाँ हैं[2]।" यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि युधिष्ठिर का प्रश्न कुछ और था और उसका उत्तर कुछ और दिया गया। प्रश्न यह था कि गण का मुख्य कर्तव्य क्या है। उत्तर दिया गया कि मात-पिता की सेवा करो। बात कुछ असंगत होते हुए भी गण के

---

१. जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
न तु शौर्येण बुद्ध्या वा रूप द्रव्येण वा पुनः ॥ (१०८।३०)

२. एत एव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः।
एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः ॥ (१०९।६)

संविधान के अनुसार संगत हैं। गण की इकाई कुल था। कुल, गृह या गोत्र का जो वृद्ध या बड़ा-बूढ़ा होता था वही उस कुल की ओर से गण-सभा का प्रतिनिधि होता था। प्रत्येक कुलवृद्ध की उपाधि 'राजा' होती थी। इसी दृष्टि से लिच्छविगण में ७७०७ कुल और राजा माने जाते थे। उन्हीं कुलों के प्रतिनिधियों से, जो 'गोत्र' कहलाते थे, गण-सभा बनती थी। कुलवृद्ध के अनन्तर कुल का प्रतिनिधि उसका 'गोत्रापत्य' होता था, जैसे गर्ग का गार्ग्य। इस दृष्टि से यह सबसे आवश्यक था कि कुल का शासन कुलवृद्ध की मुट्ठी में हो और उसके पुत्र और पौत्र, कुल की नीति का पूरी तरह पालन करने वाले हों। जाति-बिरादरी की सभाओं में भी कुलवृद्ध या स्थविर ही कुल का प्रतिनिधित्व करता था, अथवा उसकी अनुमति से उसका पुत्र भी जा सकता था। इस संवैधानिक परिस्थिति का परिणाम यह था कि गण की नीति का निर्माण कुल की नीति के रूप में देखा जाता था। अतः पुत्र या पौत्र के लिए माता, पिता और गुरु इन तीनों की धर्मभाव से सुश्रूषा— यही गण के आन्तरिक व्यवहार की सबसे बड़ी विशेषता थी।

"दस आचार्यों के तुल्य पिता है, और दस पिताओं के तुल्य माता का पद है। जो सार्थक वचन से व्यक्ति के कान खोलता है, जो कृत वचन कहकर अमृत का प्रदान करता है, उसी को पिता-माता कहते हैं। अतः उसके भारी उपकार को जानकर उससे द्रोह नहीं करना चाहिए। गुरु का पद भी कम महत्त्व का नहीं है। वह विद्या देता है और व्यक्ति की बुद्धि को खोल देता है। अतः जो पुराण धर्म के पालन की इच्छा करे, उसे गुरु और माता का पूजन करना चाहिए।" (अ० १०९)

अध्याय ११० में सत्यानृत (सच-झूठ) और धर्म का विवेचन किया गया है। यहाँ धर्म की परिभाषा इस प्रकार है—

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥ (११०।११)

किन्हीं का मत है कि वेद ही धर्म है, कोई ऐसा नहीं मानते। हमारा इन दोनों में से किसी से झगड़ा नहीं है। धर्म का जितना विस्तार है, उस

सबका विधान शब्दों में नहीं किया जा सकता। (अ० ११०)

अध्याय १११ के ३८२ श्लोकों में कठिनाइयों या विषम स्थितियों से पार पाने के लिए सद्वृत्तियों का वर्णन है। 'दुर्गाण्यतितरन्ति ते'—इस वर्णन की टेक है।

युधिष्ठिर ने राजधर्म के सिलसिले में एक और प्रश्न किया कि सौम्य और असौम्य, इन दो प्रकार के व्यक्तियों को अलग-अलग कैसे पहचाना जाय। इसके उत्तर में गोमायु और व्याघ्र इन दोनों की कथा का दृष्टान्त कहा गया है। इनमें शृगाल धर्मात्मा था। उसकी एक व्याघ्र से मित्रता हो गई। किन्तु कुछ चुगलखोरों ने दोनों में फूट डाल दी। अन्त में शृगाल ने अपनी स्पष्टोक्ति से उसे पुनः अनुकूल बनाया। राजा और उसके सचिवों में भी ऐसी घटनाएँ हुआ करती हैं। यह सुन्दर आख्यान गुप्त युग के नीति-शास्त्र लेखकों की रचना जान पड़ती है। इसकी परिभाषा और शब्दावली उसी युग की हैं। (अ० ११२)

अध्याय ११३ में राजा के कर्तव्य के विषय में प्रश्न का उत्तर देते हुए एक ऊँट की कहानी दी गई है, जिसने अपने तप से ब्रह्मा को प्रसन्न करके सौ योजन लम्बी ग्रीवा का वरदान प्राप्त किया। जब मेह-पानी आया तो उसने अपनी गरदन पहाड़ की खोह में रख दी, पर फिर उसे छोटी न कर सका और एक भूखे शृगाल ने उसमें घुसकर उसे खा डाला। इसी प्रकार राजा को बहुत पैर न फैलाना चाहिए। (अ० ११३)

युधिष्ठिर ने यह प्रश्न उठाया कि साधनहीन दुर्बल राजा का शत्रु बलवान् हो तो उसे क्या करना चाहिए। इसके उत्तर में नदी और समुद्र के संवाद द्वारा उनका समाधान किया गया है। समुद्र ने प्रश्न किया कि बड़े-बड़े पेड़ नदी के किनारे बह जाते हैं, किन्तु छोटी-सी बेंत अपने स्थान पर अचल रहती है। गंगा ने उत्तर दिया कि वृक्ष अपनी अकड़ में आंधी और पानी के सामने नहीं झुकते, किन्तु बेंत बेचारी झुक जाती है। राजनीति में इसे 'वैतसी वृत्ति' कहते थे। आक्रमणकारी शत्रु के सामने झुक कर जो राजा अपनी रक्षा करता था वह इस प्रकार वैतसी वृत्ति का आश्रय लेकर

अपने को बचा लेता था। दुर्बल को बलवान् के सामने ऐसा ही करना चाहिए।[1] कालिदास ने रघुवंश में इसका उल्लेख किया है—

अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव ।
आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ॥ (४।३५)

अर्थात् सुह्म या ताम्रलिप्ति के राजा ने रघु के सामने वैतसी वृत्ति से अपनी रक्षा की। ज्ञात होता है, गुप्त राजनीति का यह एक सम्मत दृष्टिकोण था। (अ० ११४)

यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि कोई प्रगल्भ-मूर्ख राजसभा में बुरा-भला कहने लगे, तो क्या करना चाहिए। उत्तर में कहा गया है कि उसे टें-टें करती हुए टिटहरी के समान मानकर उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। उसके वचन सह लेने से अपना पाप धुल जाता है। उसे अपनी श्लाघा ही समझना चाहिए। अन्त में वह स्वयं लज्जित होकर सूखे हुए ठूंठ वृक्ष की तरह हो जाता है। जिसने आत्म-दमन किया है, वह इस प्रकार के अधम पुरुष की उपेक्षा करता है। जिसने दमन किया है, वह उस प्रकार के खल को ध्यान में नहीं लाता। जो वह कहे, उसे सह लेना चाहिए। क्षुद्र पुरुष द्वारा की हुई प्रशंसा और निन्दा से कुछ लाभ नहीं। जंगल में जैसे कौआ कांव-कांव करता है, वैसे ही उसका कथन निरर्थक है। जो सामने गुणवादी है और पीछे निन्दा करता है, वह कुत्ते की तरह स्वयं नष्ट हो जाता है। यथासंभव ऐसे अल्पचेता व्यक्ति को कुत्ते के जुठारे हुए मांस की तरह त्याग देना चाहिए। जो दुरात्मा किसी महात्मा की निन्दा करता है, वह अपने ही दोषों को प्रकट करता है, जैसे कोई साँप अपने फुफकारते फणों को दिखलाता है। जो अपनी आदत के अनुसार कुवचन कहने वाले दुष्ट का उत्तर देना चाहता है, वह गधे के समान धूल में लोटता है। ऐसे दुष्ट को मनुष्यों को खाने वाले भूखे भेड़िए के समान, उन्मत्त

1. एवमेव यदा विद्वान्मन्येतातिबलं रिपुम् ।
संश्रयेद्वैतसीं वृत्तिमेवं प्रज्ञानलक्षणम् ॥ (११४।१४)

चिंघाड़ने वाले हाथी के समान, भौंकने वाले क्रोधी कुत्ते के समान, छोड़ देना चाहिए। उस पापी को धिक्कार है, जो सदा शत्रु का-सा व्यवहार करता है। जो इस प्रकार की दृष्टि रखता है, उसके पास कोई भी अप्रिय वचन नहीं खटक सकता। (अ० ११५)

दुर्वृत्त और दुरात्मा व्यक्ति के विषय में भीष्म का समाधान सुनकर युधिष्ठिर ने यह जानना चाहा कि अपने पुत्र-पौत्रों के सुख के लिए और अन्न-पान द्वारा अपने शरीर के सुख के लिए क्या करना चाहिए (अ०११६)। राष्ट्र की वृद्धि का क्या उपाय है? मूर्धाभिषिक्त राजा को अपने मित्रों के साथ प्रजारंजन कैसे करना चाहिए? यदि वह शत्रुओं से घिरा हो, तो भी प्रजाओं को प्रसन्न करने का क्या उपाय है? जिसके भृत्य बिगड़ जाते हैं, उस राजा को भृत्यों द्वारा किये कार्यों से कोई लाभ नहीं होता। गुण-युक्त भृत्य कैसे होने चाहिएं? क्योंकि बिना भृत्यों के अकेला राजा राज्य की रक्षा नहीं कर सकता? भीष्म ने उत्तर दिया, "जिसके भृत्य ज्ञान-विज्ञान में पण्डित, हितैषी, कुलीन और स्नेही होते हैं, वही राजा राज्य का फल प्राप्त करता है। जिसके मंत्री कुलीन, सहवासी और हितकारी सलाह देने वाले होते हैं, वह राजा राज्य का फल पाता है। अनागत विपत्ति का पहले से ही प्रतीकार करनेवाले, काल का ज्ञान रखने वाले, बीते हुए कष्टों का सोच न करनेवाले मन्त्रियों को पाकर राजा राज्य का फल प्राप्त करता है। जिसके सहायक मंत्री दुःख-सुख में समान रहते हैं, सत्य के अनुसार कार्य करनेवाले और अर्थ की चिन्ता करनेवाले होते हैं, वह राजा राज्य-फल भोगता है। जिसके जनपद में कोई दुःखी नहीं होता, जो अक्षुद्र और सत्पथ का आश्रय लेता है, वह राजा राज्य-फल पाता है। जिसके वित्ताधिकारी कोष की वृद्धि करते हैं, वह राजा उत्तम है। जिसके पुश्तैनी चले आ रहे आप्त पुरुष अलुब्ध और योग्य होकर कोष्ठागार में संचय बढ़ाते हैं, वह राजा गुणयुक्त होता है। जिसके नगर में सब व्यवहार ईमानदारी और सच्चाई से किये जाते हैं, जैसा शंख और लिखित दो मुनि भाइयों की कथा में मिलता है, वह राजा धर्म-फल का भागी होता है। जो धर्म-

वित्त राजा अच्छे मनुष्यों का संग्रह करता है और षड्वर्ग (संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एवं समाश्रय) का सेवन करता है, वह राजधर्म का फल प्राप्त करता है।" (अ० ११६)

: ८१ :

राजभृत्यों के गुण-दोष

इसके अनन्तर एक बढ़िया कहानी के दृष्टान्त से बताया गया है कि दुष्ट के साथ कितना भी अच्छा व्यवहार करो, वह अपनी योनि के अनुकूल कुटिल स्वभाव को प्रकट करता ही है। वन में किसी ऋषि के आश्रम में एक कुत्ता रहता था। वह चीते से डरता था। ऋषि ने उसे चीता बना दिया। फिर क्रमशः ऋषि ने उसे बाघ, हाथी, शेर और अन्त में शरभ बना दिया। वह ऋषि पर ही झपटा, तब ऋषि ने फिर उसे कुत्ता बना दिया। इस भांति ही दुष्ट भृत्यों का व्यवहार भी समझना चाहिए। यहाँ चोक्ष, नेता, नीतिकुशल, शक्तिशाली, मृदुवादी, धीर, महर्द्धि, देशकालोपपादक, शास्त्रविशारद, धर्मपरायण, प्रजापालनतत्पर, पवित्र, श्रोता, सुश्रूषु, ऊहापोह में पटु, मेधावी, न्यायोपपादक, दान्त, प्रियभाषी, क्षमावान्, सुखदर्शन, आर्तजनों के सहायक, नयरत, नाहंवादी, निर्द्वन्द्व, भृत्यजनप्रिय, प्रसन्नवदन, दाता, सुमहामना, युक्तदण्ड, निर्दण्ड, धर्मकार्यानुशासक, चारनेत्र, धर्मार्थ-कुशल, योद्धा, मनुष्येन्द्र, सुपुरुष, समरशौटीर, कृतज्ञ, शास्त्रकोविद, अर्थवान्, विवृद्ध, मित्राढ्य आदि विशेषण राजा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। (अ० ११८)

राजसेवकों के गुणों की निम्न सूची उसी प्रकार की है जैसी स्कन्दगुप्त के गिरनार लेख में पर्णदत्त और चक्रपालित के विषय में पाई जाती है। लेखक द्वारा इसे गुप्त युग के सरकारी सचिवालय से लिया

गया जान पड़ता है—कुलीन, शिक्षित, प्राज्ञ, ज्ञान-विज्ञान-कोविद्, सर्वशास्त्रार्थ-तत्त्वज्ञ, सहिष्णु, देशज, कृतज्ञ, बलवान्, क्षान्त, दान्त, जितेन्द्रिय, अलुब्ध, लब्धसंतुष्ट, स्वामी, मित्र-बुभूषक, सचिव, देशकालज्ञ, सर्वसंग्रहणरत, सत्कृतयुक्त, हितैषी, अतन्द्रित, युक्ताचार, संधिविग्रह-कोविद, त्रिवर्गवेत्ता, पौरजानपद-प्रिय-खातक-व्यूह, तत्त्वज्ञ, बलहर्षण-कोविद, इङ्गिताकार-तत्त्वज्ञ, यात्रायान-विशारद, हस्तिशिक्षा-तत्त्वज्ञ, अहंकारविवर्जित, प्रगल्भ, दक्षिण, दान्त, बली, युक्तकारी, चौक्ष, चौक्षजनाकीर्ण, सुवेश, सुखदर्शन, नायक, नीतिकुशल आदि विशेषण सेवक के लिए प्रयुक्त हुए हैं। भृत्यों के साठ गुणों के समान राजा के गुणों की सूची दी गई है।

राजा को चाहिये कि भृत्यों को गुणों के अनुरूप पद और कार्य सौंपे। राज्यभृत्य सिंह, व्याघ्र और द्वीपी के समान होते हैं। उचित स्थान और कार्य मिलने से ही वे अपना पराक्रम दिखलाते हैं। जो राजा भृत्यों को उलटे-पुलटे स्थान में लगाता है, वह प्रजारञ्जन नहीं कर सकता। जो व्यक्ति अक्षुद्र, शुचि, दक्ष हों, उन्हें राजा अपना पारिपार्श्विक बनाये। राजा के नम्र, अधीन, क्षमाशील, पवित्र, और अनुजीवी बाह्य-चर प्राण के स्वरूप होते हैं। सिंह के पार्श्व में सिंह के ही रहने की शोभा है। राजाओं को सदा कोश की रक्षा करनी चाहिए। कोश ही राजाओं का मूल हैं।[1] कोश-मंत्री को चाहिए कि कोष्ठागार में धान्य-समृद्धि का संचय करे। इस प्रकार की नैष्ठिकी बुद्धि और प्रज्ञा का अभ्यास करना चाहिए।

(अ० ११९)

अध्याय १२० में राजधर्मों के प्रणय और स्वीकृतिपूर्वक पालन का आदेश दिया गया है। भूतों की रक्षा, यही क्षात्र धर्म है। जैसे गरुड़ अपनी पीठपर चित्र-विचित्र कलगियों का भरण करते हैं, ऐसे ही राजा को

---

१. कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः।
कोशमूला हि राजानः कोशमूलकरो भव ॥ (११९।१६)

भी बहुविध रूप या साज-सज्जा रखनी चाहिए। तेजी, कुटिलता और इन्द्रिय-लोलुपता को दूर रखकर सच्चाई और सीधेपन से बरतने वाला राजा सुख पाता है। जो रूप जिस कार्य के योग्य हो, वही रूप राजा को दिखाना चाहिए। जो राजा इस प्रकार बहुत से रूप दिखा सकता है, उसका छोटा काम भी नहीं बिगड़ता। जैसे शरद् ऋतु का मोर चुप रहता है, ऐसे ही राजा को भी अपना मन्त्र छिपाये रखना चाहिए। आपत्ति के स्थानों में राजा को पहाड़ी झरनों की तरह विद्वान् मंत्रियों का आश्रय लेना चाहिए। बुद्धि के अनुसार आत्मगुणों की प्राप्ति, यही शास्त्र का निचोड़ है। जिसका रोष और हर्ष अमोघ होता है, जो स्वयं कार्यों का अवेक्षण करता है, कोष को जो अपने अधीन रखता है, उसके लिए पृथिवी सचमुच रत्नधात्री बन जाती है। जैसे भँवरा फूलों से शहद चुन लेता है, वैसे ही राजा प्रजाओं से द्रव्य का संचय करे। संग्रह के साथ-साथ राजा को दानी भी होना चाहिए। अध्याय १२० में मंत्री और राजा के गुणों का पुनः वर्णन करते हुए राजा के आचार की पुनः व्याख्या की गई है और कहा गया है कि वह उदार व्यक्तियों को अपने पास रक्खें, लुब्धकों को नहीं।

युधिष्ठिर ने पुनः व्यवहार-पूर्ण प्रश्न पूछा, "आप ने चराचर लोक को दण्ड के अधीन कहा है। उस महातेजस्वी सर्वत्र व्याप्त दण्ड का स्वरूप क्या है? दण्ड क्या है? दण्ड कैसा है? दण्ड का रूप क्या है और वह किसका आश्रय लेता है? दण्ड की आत्मा क्या है? वह वस्तुतः कैसा है? उसकी मूर्तियाँ कितनी हैं? उसका स्वामी कौन है? वह दण्ड प्रजाओं में कैसे जागता है? कौन पूर्वापर की रक्षा करता हुआ प्रजाओं में जागता है? पहले और पीछे किसे दण्ड कहा गया है? दण्ड का स्थान क्या है? उसकी गति क्या है?"[1]

---

१. सर्वेषां प्राणिनां लोके तिर्यक्ष्वपि निवासिनाम्।
सर्वव्यापी महातेजा दण्डः श्रेयानिति प्रभो ॥३॥
इत्येतदुक्तं भवता सर्वं दण्ड्यं चराचरम्।
को दण्डः कीदृशो दण्डः किंरूपः किंपरायणः ॥४॥

भीष्म ने उत्तर दिया, "हे युधिष्ठिर, दण्ड का व्यवहार किससे होता है और क्या है ? यह सुनो ! सारा लोक जिसके अधीन है, वह केवल दण्ड मात्र ही है। धर्म का नाम व्यवहार है। लोक में सतत सावधान रहने वाले पुरुष के धर्म का किसी प्रकार लोप नहीं, इसीलिए दण्ड की आवश्यकता है। और, यही व्यवहार का व्यवहारत्व है। पूर्व काल में मनु ने कहा था कि जो प्रिय और अप्रिय को समान समझकर दण्ड का व्यवहार करता है, जो प्रजा की रक्षा करता है, वह राजा शुद्ध धर्म का स्वरूप है। सुप्रणीत दण्ड से ही त्रिवर्ग प्रवृत्त या सफल होता है। दण्ड ही शरीरधारी देवता है। जैसे लपटों वाली अग्नि होती है, दण्ड का ऐसा रूप समझना चाहिए। वह नील कमल के समान साँवले रंग का है। उसकी चार दाढ़ और चार भुजाएँ होती हैं। उसके आठ पैर और तीन नेत्र होते हैं। उसके कान खूँटे की भाँति ऊपर उठे रहते हैं। उसके सिर पर लम्बी जटाएँ होती हैं। उसके मुख में दो जिह्वाएँ हैं। उसका मुँह लाल होता है। उसकी त्वचा शेर के समान होती है। दण्ड का यही मूर्त रूप देखा गया है। तलवार, गदा, धनुष, शक्ति, त्रिशूल, मुग्दर, वाण, मूसल, फरसा, चक्र, बर्छा, डंडा, भाला और तोमर आदि इन सभी हथियारों को लिए हुए दण्ड साक्षात् लोक में घूमता है। वही अपराधियों को भेदता, छेदता, पीड़ा देता, काटता, चीरता, फाड़ता तथा मरवाता है। इस प्रकार दण्ड ही सब ओर घूमता-फिरता है। प्राचीन धर्मशास्त्रियों की परिभाषा में दण्ड शब्द के अनेक पर्याय माने जाते थे, जो इस प्रकार हैं—तलवार, विशसन, मारकाट, धर्म, तीक्ष्णकवच, दुराधर, श्रीगर्भ, अपने गर्भ में लक्ष्मी

किमात्मकः कथंभूतः कतिमूर्तिः कथंप्रभुः।
जागर्ति स कथं दण्डः प्रजास्ववहितात्मकः ॥६॥
कश्च पूर्वापरमिदं जागर्ति परिपालयन्।
कश्च विज्ञायते पूर्वं कोऽपरो दण्डसंज्ञितः।
किंसंस्थश्च भवेद्दण्डः का चास्य गतिरिष्यते ॥७॥

धारण करने वाला या श्री का पुत्र, विजय, शास्ता, व्यवहार, सनातन, शास्त्र, ब्राह्मण, मंत्र, धर्मपाल, अक्षर, देव, सत्यगामी, नित्यरूप, अग्रज, असङ्ग, रुद्रपुत्र, मनु, ज्येष्ठ और शिवंकर आदि।" ज्ञात होता है कि विभिन्न धर्माचार्यों और दार्शनिक आचार्यों ने अपने-अपने विचार से राज-धर्म मूलक दण्ड के पर्याय कहे थे। और यही राजशास्त्र के लिए उनकी देन थी। दण्ड की प्रशंसा में वे सब एकमत थे। जैसे मन्वन्तर विद्या के अनुयायी आदिराज की संज्ञा मनु को ही देते थे जिसका विवेचन मानव-धर्मशास्त्र में सुरक्षित है, उपनिषद्वादी आचार्य अक्षर ब्रह्म को दंड कहते थे। वैदिक मतानुयायी 'देव' को दण्ड मानते थे। अग्नि के उपासक आचार्य जैसे अग्नि को अग्रजतपस् कहते थे, वैसे ही दण्ड को भी अग्रजतत्त्व मानते थे, जो सृष्टि में सबसे पहले जन्म लेता है। धर्मानुयायी दण्ड को धर्मपाल कहते थे। माहेश्वर लोग दण्ड को रुद्र का पुत्र कहते थे। कुछ वैङ्गिक लोग दण्ड को ज्येष्ठ ब्रह्म की संज्ञा देते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार दण्ड की संज्ञा व्यवहार थी। युद्धशास्त्रियों के मत में दण्ड तीक्ष्णवर्मा या तेज अभेद्य कवच पहनने वाला रक्षक था। सेनापतियों का मत था कि दण्ड ने ही सर्वप्रथम तलवार का रूप धारण किया। युद्ध-प्रेमी लोग कहते थे कि विशसन या मारकाट ही दण्ड है। श्री-लक्ष्मी के उपासक लोग दण्ड को श्री देवी का पुत्र ही मानते थे। मंत्रिपरिषद के सदस्य और राजसचिव दण्ड को दुराधर कहते थे, अर्थात् सब कुछ धारण किया जा सकता है, किन्तु दण्ड का धारण दुष्कर है। राजनीति के पंडित दण्ड को ही शास्ता या राजा मानते थे। सनातन परम्परा में विश्वास रखने वालों का मत था कि दण्ड ही सनातन, नित्य और शाश्वत है। भगवान् को सत्यात्मा मानने वाले दण्ड को ही सत्य का रूप कहते थे। इस प्रकार दण्ड के महत्त्व के रूप में सब तत्त्वचिंतक एकमत थे। राजशास्त्र की यह बड़ी विजय थी कि सबने दण्ड को गौरव दिया। दण्ड राष्ट्र का प्रजागर या जागरूक है। जब सब लोग सो जाते हैं, तो दण्ड जागता रहता है।

भागवत आचार्यों ने दण्ड के लिए कुछ और भी नाम दिए थे, जैसे विष्णु, यज्ञ, नारायण, महापुरुष आदि। भागवतों की यह युक्ति थी कि जिस वस्तु की वे अत्यधिक प्रशंसा करना चाहते थे, उसे भगवान् विष्णु का रूप कहते थे। जैसे गुप्त युग में ही समुद्र की बहुत महिमा बढ़ी तब नारायण महार्णव, अर्थात् समुद्र नारायण का स्वरूप है, यह सूत्र बनाया गया (मत्स्यपुराण)। ऐसे ही दण्ड को भी नारायण प्रभु कहा गया। ब्रह्मा की पुत्री लक्ष्मी और सरस्वती की भाँति दण्डनीति भी जगत की माता है। दण्ड के अनेक शरीर हैं।

ऊपर दण्ड की जो बहुरूपता कही गई है, वह क्या है? दूसरा जैसा स्वाभाविक उत्तर यहाँ दिया गया है, वैसा संस्कृत साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं है, "अर्थ और अनर्थ, सुख और दुःख, धर्म और अधर्म, बल और अबल, दुर्भाग्य और सौभाग्य, पुण्य और पाप, गुण और अवगुण, काम और अकाम, ऋतुमास, रात्रि, दिन, क्षण आदि काल भेद, प्रसन्नता और विषाद, हर्ष और क्रोध, दम और शम, दैव और पुरुषार्थ, मोक्ष और बंधन, भय और अभय, हिंसा और अहिंसा, तप और यज्ञ, संयम, विष और अमृत, वस्तुओं का आदि, अन्त और मध्य, कृत्यों का विस्तार, मद, प्रमाद, दर्प, दम्भ और धैर्य, नीति और अनीति, अशक्ति और शक्ति, मान और स्तम्भ, व्यय और संग्रह, विनय और दान, काल और अकाल (सुभिक्ष और दुर्भिक्ष), अनृत और सत्य, ज्ञान और अज्ञान, श्रद्धा और अश्रद्धा, क्लीवता और कर्मण्यता, लाभ और हानि, जय और अजय, तीक्ष्णता और मृदुता, मृत्यु, आगम और अनागम, सम्पन्नता और विपन्नता, कार्य और अकार्य, असूया और अनसूया, धर्म और अधर्म, लज्जा और निर्लज्जता, तेज, कर्म, पांडित्य, वाक्शक्ति, तत्त्वज्ञान, इस प्रकार दण्ड के लोक में बहुत से रूप हैं (एवं दण्डस्य कौरव्य लोकेऽस्मिन् बहुरूपता। १२१।३२)। दण्ड के उचित प्रयोग से धर्म और अनुचित प्रयोग से अधर्म आदि होते हैं। दण्ड का सम्यक् प्रयोग बल और उसका ह्रास निर्बलता है। इस प्रकार जीवन के अनेक क्षेत्रों में दण्ड

के आधार की व्याख्या की जा सकती है। यदि दण्ड न हो तो लोग एक दूसरे को मथ डालें। दण्ड के डर से ही वे एक दूसरे को मारते नहीं। दण्ड से रक्षित प्रजाएँ राजा को भी बढ़ाती हैं। अतः दण्ड द्वारा प्रजा-पालन आवश्यक है।" दण्ड के विषय में और भी तात्त्विक विवेचन किया गया है और अन्त में कहा गया है कि स्वधर्म में स्थित राजा के लिए कोई भी दण्ड से ऊपर नहीं है। वेदों में, यज्ञों में, व्यवहार में, राजा में, सर्वत्र दण्ड का मूर्त रूप है। उन्हें देखकर दण्ड के प्रति आस्था उत्पन्न होती है। (अ० १२१)

दण्ड की उत्पत्ति कैसे हुई? इसका उत्तर एक कहानी के रूप में दिया गया है। अंगदेश का राजा वसुहोम सौवर्ण पर्वत मेरु (मध्यएशिया का पामीर पठार) की मुंजपृष्ट या मुंजवान चोटी पर तप करने गया (आज भी यह स्थान वंक्षु नदी के बाएं किनारे पर है)। वहीं मान्धाता भी आ गये। कुशल आदि के अनन्तर मान्धाता ने वसुहोम से कहा, "हे राजन्! तुम बृहस्पति और शुक्राचार्य के राजशास्त्रों को जानते हो। मैं जानना चाहता हूँ कि दण्ड की उत्पत्ति कहाँ से हुई? कैसे दण्ड पूर्वकाल में जागता था? इसे सबके ऊपर क्यों कहा गया? कैसे इस समय दण्ड क्षत्रियों में स्थित है?" वसुहोम ने उत्तर दिया, "हे राजन्? दण्ड प्रजाओं का संग्राहक है। हमने सुना है कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ने यज्ञ करने के लिए अपने समान एक ऋत्विज को जन्म दिया। वह गर्भ एक सहस्र वर्ष तक ब्रह्मा के भीतर रहकर उनकी छींक से बाहर आया, अर्थात् छींक के साथ जैसे प्राण की वेगवती क्रिया होती है, उसी प्रकार उस गर्भ ने जन्म लिया। वही ब्रह्मा के यज्ञ का ऋत्विज बना। उसका स्वरूप दण्ड था, पर वह शीघ्र ही अन्तर्धान हो गया। उसके छिप जाने से प्रजाओं में कार्य-अकार्य, भोज्य-अभोज्य, पेय-अपेय का ज्ञान न रहा और वे लोग एक दूसरे की हिंसा करने लगे। लोगों को पराये और अपने में भेद न रहा। कुत्ते की भाँति माँस के लिए छीन-झपट करते हुए बली निर्बल को सताने लगे। तब ब्रह्मा ने महादेव से कहा, "आप ऐसी कृपा कीजिये जिससे प्रजाओं में संकर न हो।" तब

त्रिशूलधारी जटाधर रुद्र ने बहुत समय तक ध्यान करके अपने आप को दण्ड के रूप में रचा। उसके बाद उससे दण्डनीति-स्वरूप देवी सरस्वती को जन्म दिया। वही दण्डनीति है। तब उस दण्डनीति के रूपों से शिव ने एक-एक राजा को बताया। इन्द्र को देवों का राजा बनाया और वैवस्वत यमको पितरों का अधिपति बनाया गया। धन का और राक्षसों का राजा कुबेर को बनाया। पर्वतों का राजा मेरु को बनाया। समुद्र को नदियों का राजा बनाया। वरुण को जलों का स्वामी, मृत्यु को प्राण का स्वामी और अग्निको तेजों का स्वामी बनाया। रुद्रों का स्वामी ईशान को, वसिष्ठ को विप्रों का, जातवेदस अग्निको वसुओं का, तेजों का सूर्य को, नक्षत्रों का चन्द्रमा को, लताओं का अंशुमान सोम को, भूतों का द्वादश भुजाओं वाले स्वामी स्कन्द को, और काल को सर्व-संहार का अधिपति नियुक्त किया। सब शरीरों का अधिपति राजराज कुबेर को बनाया। सब रुद्रों का स्वामी शूलपाणि शंकर को बनाया। ब्रह्मा ने दण्ड स्वरूप अपने उस पुत्र को सबका प्रजापति नियुक्त किया। यज्ञ के सकुशल समाप्त होने पर महादेव शिव ने उस दण्ड को विष्णु को समर्पित किया। विष्णु ने उसे अंगिरा को, अंगिरा ने इन्द्र और मरीचिको। मरीचि ने भृगुको, और भृगु ने उसे ऋषियों को सौंप दिया। तब ऋषियों ने उस दण्ड रूप धर्म को लोकपालों को दिया। उसे ही श्राद्धदेव मनु ने अपने पुत्रों को धर्म की रक्षा के लिए दिया। दण्ड का प्रयोग विभिन्न रूपों के अनुसार करना चाहिए। मनमाने ढंग से नहीं। कड़वी बातों का निग्रह, यह दण्ड का रूप है। स्वर्ण का आदान तो उसकी बाहरी क्रिया है। शरीर की विकलता या वध अल्प कारण से अनुचित है। शरीर-पीड़ा, देह-त्याग, देश निकाला ये सब दण्ड के रूप हैं। किन्तु इनका प्रयोग न्याय बुद्धि से होना चाहिए।" इसके अनंतर शक्ति के संचार की एक लम्बी शृंखला की कल्पना करते हुए अन्त में कहा गया हैं कि दण्ड ही प्रजाओं में जागता है (दण्डो जागर्ति तासु च)। इस प्रकार आदि, मध्य और अन्त में दण्ड ही मुख्य है। धर्मविद् राजा को यथान्याय दंड का विधान करना चाहिए। दण्ड सब लोकों का नियन्ता है।

युधिष्ठिर ने 'धर्मार्थकाम' इस त्रिवर्ग के मूल के विषय में प्रश्न किया। उत्तर में कामंदक ऋषि के मत का उपन्यास किया गया है तथा उसकी पुनः व्याख्या की गई है। ज्ञात होता है कि यह कामंदक आचार्य की कही गई राजनीति थी। (अ० १२३)

अध्याय १२५ में प्रहलाद के मुख से राजा के लिए आवश्यक शील-धर्म का उपदेश कराया गया है। प्रहलाद असुरों का राजा था। वह शील का अनुयायी था। उसके सामने एक महाकाय पुरुष प्रकट हुआ। पूछने पर उसने अपने-आप को धर्म या शील कहा। बात यह थी कि भागवत लोग बौद्धों को माया-मोह शास्ता के अनुयायी असुर कहते थे, जिनमें शीलधर्म का अत्यधिक प्रचार था। इस प्रकार की कथा विष्णु पुराण और लिंग पुराण में भी आई है। यहाँ भी किंचित् परिवर्तन से उसे ले लिया गया है। वामन पुराण के अनुसार ये असुर मागध मुनियों के शिष्य थे। उनके उपदेश के अनुसार धर्म का पालन करने से इनकी प्रजाओं की वृद्धि हुई। उस विशाल-काय पुरुष ने कहा, "हे प्रहलाद, मुझे धर्म जानो। जहाँ शील है वहीं मैं रहता हूं"।[1]

तब प्रहलाद के शरीर से एक महान् तेज प्रकट हुआ। पूछने पर उसने बताया कि मैं सत्य हूं और शील के पास जाना चाहता हूं। इस प्रकार सत्य और शील पर बल देने वाले बौद्ध धर्म की ओर संकेत है। लेखक ने राजधर्म के अंत में बुद्ध के उपदेश का भी उल्लेख करना उचित समझा।[2]

"हे प्रहलाद मैं वृत्त या आचार हूं। जहाँ धर्म होता है वहीं मेरा भी स्थान है।" इस प्रकार वृत्त या धर्म के विषय में बौद्ध और ब्राह्मण दृष्टिकोण का समन्वय किया गया है। शील, धर्म, सत्य, वृत्त, बल—ये सब शील

१. धर्मं प्रह्लाद मां विद्धि यत्रासौ द्विजसत्तमः।
यत्र यास्यामि दैत्येन्द्र यतः शील ततो ह्ययम्॥ (१२४।२९)

२. ततोऽपरो महाराज प्रज्वलन्निव तेजसा।
शरीरान्निःसृतस्तस्य प्रह्लादस्य महात्मनः॥ (१२४।५०)

से उत्पन्न होते हैं। शील की प्राप्ति का संक्षिप्त उपाय इस प्रकार बताया गया है। सब भूतों में मनसा, वाचा, कर्मणा अद्रोह रखना, अनुग्रह और दान यह शील है। जिससे औरों का हित न हो और जिससे अपने आपको लज्जा आवे, वैसा कर्म न करना चाहिए। ऐसा कर्म करना चाहिए, जिससे लोगों की सभा में प्रशंसा हो। संक्षेप में यही शीलका लक्षण है। यद्यपि शील-विहीन राजा भी कभी श्री-सम्पन्न हो सकता है, पर श्री अधिक दिन उसके पास टिक नहीं सकती। यह जानकर शील का पालन करना चाहिए। युधिष्ठिर ने आशा और उत्साह के संबंध का प्रश्न किया, "भविष्य के विषय में आशा ही राजा और प्रजा की समृद्धि का कारण है। आशा ही समुत्थान का लक्षण है। सब पुरुषों के हृदय में महती आशा उत्पन्न होती है। यदि उसका विघात हो, तो दुःख और मृत्यु का फल मिलता है। आशा को पर्वत और आकाश से भी ऊंचो कहना चाहिए। यदि आशा दुर्लभ हो जाय, तो उससे अधिक दुर्लभ और क्या होगा ?" (अ० १२५)

इसके समर्थन में एक आख्यान कहा गया है, जिसे बदरीनाथ में रहने वाले एक अत्यन्तकृश तपस्वी ने सुनाया था। इसमें निराशा दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। किसी प्रकार की आशा का होना यही मानुषिक कृशता का लक्षण है। जिसे किसी प्रकार की आशा नहीं, वह सब प्रकार से सुखी है। यह सिद्धान्त गीता में भी आया है—निराशीर्यत चित्तात्मा। किन्तु उसकी व्याख्या के लिए जो कहानी गढ़ी गई है वह बहुत भोंडी है। (अ० १२६)

अध्याय १२७ में भी ऐसा ही निरर्थक पुछल्ला है। उसका राजधर्म या दण्ड से कोई सम्बन्ध नहीं। माता-पिता की सेवा कैसे करनी चाहिए, यही बात पारियात्र पर्वत पर रहने वाले ऋषि गौतम और यमराज के संवाद के रूप में कही गई है। (अ० १२७)

इस महाप्रकरण के अन्त में राज्य के लिए कोश के महत्त्वका प्रतिपादन है। यदि राजा पर भीतर और बाहर से सब प्रकार की दुरवस्था आ जाय, तो क्या करना चाहिए ? इसके उत्तर में कहा गया है कि कोश के क्षय से

ही राजा के राज्य का क्षय होता है। राजा को चाहिए कि जैसे निर्जल स्थान में कुआं खोदकर जल प्राप्त करते हैं वैसे ही धन प्राप्त करे।[1]

कोश ही राजधर्म का पहला नाम है। वृत्ति धर्म से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिसके यहाँ वृत्ति के द्वारा धन का आगम नहीं उसके यहाँ आपद्धर्म आ जाता है। जिस प्रकार धर्म की ग्लानि न हो और शत्रु के वश में न पड़े, वही कर्तव्य है। अपने-आपको विषादयुक्त नहीं बनाना चाहिए। सब उपायों से अपनी आत्मा को प्रफुल्लित बनाना चाहिए। क्षत्रिय के लिए अपने बाहुवीर्य से उद्यम करना ही जीवन है, ऐसा सुना जाता है। क्षत्रिय के लिए भैक्षचर्या का विधान नहीं है। उसे तो कोश का बल ही चाहिए। वही क्षत्रिय है, जो प्रजा की रक्षा करे। राजा को आपत्ति के समय राष्ट्र की और राष्ट्र को राजा की रक्षा करनी चाहिए, यही सनातन धर्म है। जैसे राजा आपत्ति के समय राष्ट्र की अपने साधनों से रक्षा करता है, वैसे ही राष्ट्र को भी आपत्तिग्रस्त राजा की रक्षा करनी चाहिए। कोश, दण्ड, बल, मित्र और जो अन्य संचित हो, उसे राजा राष्ट्र के क्षुधा-पीड़ित होने पर कभी न छिपावे। धर्मविदोंका कहना है कि राजा प्रजाओं को खेती के लिए बीज और खाने के लिए अन्न वितरित करे। इस विषय में महामायावी संबर का मत है कि उस राजा को धिक्कार है, जिसका राष्ट्र दुःख पाता है। शिवि ने भी कहा है कि राजा का मूल कोश और बल है और बल कोश के अधीन है। वही सब राजधर्मों का मूल है; और प्रजाओं का मूल धर्म है।[2]

धनहीन व्यक्ति दुर्बल होता है, धन या कोश ही सच्चा बल है। कोश से ही धर्म और काम की सिद्धि होती है और यह लोक तथा परलोक दोनों

---

१. राज्ञः कोशक्षयादेव जायते बलसंक्षयः ॥११
कोशं संजयनेद्राजा निर्जलेभ्यो यथा जलम्। (१२८।११-१२)

२. राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ॥ (१२८।३५)

सुलभ होते हैं। अतः राजा के लिए कोश-संचय सबसे अधिक प्रशंसनीय है। कोश-संग्रह के लिए यदि कुछ अत्याचार और उत्पीड़न भी करना पड़े तो वह भी क्षम्य है, यह कोशवादी आचार्यों का मत था।

: ८२ :

आपद्धर्म

(अ० १२९–१६७)

राजधर्म का ही अवान्तर भाग आपद् धर्म प्रकरण है। यहाँ आपद् शब्द पारिभाषिक है। जब राजा शत्रु से घिर कर या हारकर अपना राज्य खो बैठता है, अथवा अपनी प्रजा द्वारा ही पदच्युत किया जा कर बाहर घूमने लगता है, तो उसके उस संकट को आपद् कहते थे। यह ठीक भी था। राजा के लिए इससे बड़ी विपत्ति नहीं हो सकती कि किसी कारणवश उसे अपने हाथ से राज्य धोना पड़े। अतः प्राचीन नीतिविशारदों ने इस स्थिति पर भी विचार किया कि उस स्थिति में राजाको अपने उद्धार के लिए क्या करना चाहिए। इस प्रसंग का सार यह है कि आपद्ग्रस्त राजा को पुनः कोश और सेना का संग्रह करना चाहिए और उनकी सहायता से यथासंभव पुनः अपना राज्य प्राप्त करना चाहिए। इसी को 'राजधर्मेषु आपद्धर्मेषु आपत्प्रतीकारः' कहा गया है। आपत्ति से छूटने के लिए यदि कोश और सैनिक बल से युद्ध भी करना पड़े, तो वह भी योग्य है।

युधिष्ठिर का प्रश्न आपत्ति का जो चित्र खींचता है, उससे राज्य की असहायता और निर्बलता की पराकाष्ठा सूचित होती है। युधिष्ठिर ने ये बारह बातें कहीं—

१. राजा क्षीण हो जाय,

२. राजा दीर्घसूत्री हो जाय या समय पर काम न करने वाला हो जाय,

३. अपने बंधु-बांधवों के प्रति हद दर्जे की अनुकम्पा या कृपा करने के कारण राजशक्ति की हानि कर ले,

४. उसके पुर और राष्ट्र दोनों विरक्त हो जायं,

५. उसका द्रव्य और संचय क्षीण हो जाय,

६. उसके मुख्य अधिकारी उसका संदेह करने लगें, वह उनका विश्वास खो दे,

७. उसका मंत्र फूट जाय,

८. उसके मित्र उसकी संभावना या आदर न करने लगें,

९. उसके अमात्य फूट जायं,

१०. वह शत्रु के चक्र में फँस जाय,

११. बलवान् शत्रु के द्वारा वह दुर्बल कर दिया जाय,

१२. एक या अधिक कारणों से उसके चित्त में आपत्ति का भाव आ जाय।

आपद् ग्रस्त राजा के उद्धार और स्वराज्य स्थापन का सिद्धान्त वैदिक राजशास्त्र में भी पाया जाता है। अथर्ववेद के दूसरे काण्ड के तीसरे सूक्त में इसका बहुत अच्छा वर्णन है। उन छह मंत्रों का शीर्षक है—"स्वराज्ये राज्ञः पुनः स्थापनम्"। यहाँ जिसे परचक्र अर्थात् पराये चक्र में फँसना कहा गया है, उसे ही अथर्ववेद में "अन्य क्षेत्रे अप रुद्धं चरन्तम्" कहा गया है। राजा शत्रुके देश में फँस जाय, शत्रु के इलाके में उसे चोरी-चोरी या अपरुद्ध अवस्था में घूमना पड़े, यह राज्य का सबसे बड़ा संकट है। इस विषय में अथर्ववेद के छह मंत्रों का भाव बहुत उत्साहवर्धक है—

१. कभी वह राजा यहाँ उच्चस्वर से सिंहनाद करता था। पुनः वह अपनी निपुणता से वैसे ही कार्य करे। हे अग्नि ! उसके लिए पुनः विशाल पृथिवी और आकाश का निर्माण करो। हे मरुत्गण ! आप जो सब प्रकार के पोषों के स्वामी हैं, उसे पुनः यहाँ ले आइये, जिसने अनेक हव्य पदार्थों की आहुतियां दी थीं ?

२. वह अपने राष्ट्र से कितनी भी दूर हो, हे अग्नि ! तुम्हारे रक्त

वर्ण या लाल रंग के घोड़े उस पदच्युत इन्द्र या विप्र को पुनः यहाँ ले आवें, क्योंकि अब देवों ने सौत्रामणि यज्ञ द्वारा उसके स्वभाव की मृदुता को हटाकर उसे पुनः क्षात्रधर्म युक्त बना दिया है (अधिक सोमपान से उत्पन्न तन्द्रा को सौत्रामणि यज्ञ में किये हुए दुग्धपान से दूर किया जाता था)।

३. राजा वरुण तुम्हें जलाशयों से पुकार कर यहाँ लावें। सोम जहाँ पर्वतों पर उगता है, वहाँ से वह तुम्हारी पुकार करे। इन्द्र इन समस्त प्रजाओं में तुम्हें ढूँढकर पुकारे। हे राजा ! तुम जहाँ भी हो वहाँ से वाज की तरह झपट कर अपनी प्रजा में आओ। (इसकी व्यंजना यह है कि राष्ट्र की नदियाँ, पर्वत और प्रजाएँ सब अपरुद्ध राजा को पुनः आने के लिए पुकारती हैं)।

४. जो शत्रु के देश में देश निकाले का लाचार जीवन बिता रहा है, उसे पुनः यहाँ आना ही चाहिए। वाज की शक्ति उसे यहाँ ले आवे। दोनों अश्विनीकुमार उसके आने के मार्ग को सुगम कर दें, जिससे वह आकर अपने बंधु-बांधवों से मिले।

५. हे राजन् ! तुम्हारे शत्रु ही तुम्हें फिर बुला रहे हैं। तुम्हारे मित्रों ने तो तुम्हें पुनः चुन ही लिया है। इंद्र, अग्नि और सब देवों ने अभी तक तुम्हारे राजमहल को प्रजाओं के बीच में सकुशल रक्खा है।

६. हमारे इस आवाहन का जो विरोध करता हो, चाहे वह सजातीय हो या विजातीय, हे इन्द्र ! उसे यहाँ से दूर हटाओ। और उस राजा को पुनः यहाँ लाओ (कृत्वा थेममिहाव गमय। अथर्ववेद ३।३।६)।

इन मंत्रों से ज्ञात होता है कि स्वदेश के कुछ व्यक्तियों ने ही पदच्युत राजा का विरोध किया था। उसका कोश-बल घट गया था। उसकी प्रजा-रंजन की नीति भी कुछ क्षीण हो गई थी। उसके मित्र-सजातीय उससे कुछ उदासीन हो गये थे। अतः उसे राज्यच्युत होकर शत्रु के देश में आना पड़ा। किन्तु ज्ञात होता है कि कुछ समय बाद उसके राष्ट्र में परिस्थितियाँ अनुकूल हो गईं। प्रजाएँ पुनः उसे चाहने लगीं। उसका

कोश भी ठीक हो गया। उसके विरोधी शत्रु भी हट गये और जो उसके पक्षवाले मित्र थे, वे बलवान् हो गये। पुरवासी और जनपदवासी प्रजाएँ उसका आवाहन करने लगीं तथा पुनः उसे लाने में कोई विवाद न रहा। इस प्रकार की अनुकूल परिस्थिति में राजा की आपत्ति समाप्त हो जाती थी और वह पुनः अपने देश में लौट आता था।

इस पृष्ठभूमि में आपद् धर्म प्रकरण को बढ़ाया जाय तो यह विषय नितान्त स्पष्ट हो जाता है। राजा की इस आपत्ति का कारण प्रायः यह होता है कि कोई बाहर का विजयार्थी शत्रु उस पर हमला कर देता है। इसका सबसे अच्छा इलाज यह है कि उस बाहरी विजिगीषु के साथ, विशेषतः उस हालत में जब वह धर्म और अर्थ में कुशल एवं ईमानदार हो, शीघ्र संधि कर ले और अपनी भूमि का जो भाग उसके कब्जे में चला गया है, उसे क्रमशः छुड़ा ले। यदि विजयार्थी शत्रु अधार्मिक, पापी और बलवान् हो तो किसी प्रकार अपने आप को निग्रहित कर उसके साथ संधिका प्रस्ताव न रक्खे। इसके लिए चाहे अपनी राजधानी को भी छोड़ना पड़े, या और कोई उपाय काम में लाना पड़े, तो भी वैसा करना चाहिए। जो रह जाय, उसी के सहारे प्राणों को बचाते हुए पुनः द्रव्य का उपार्जन करना चाहिए। (तद्भावाभावे द्रव्याणि जीवन्पुनरुपार्जयेत। १३०।६)। जिन आपत्तियों को केवल त्याग से पार किया जा सके, उनके लिए अधिक-से-अधिक त्याग भी करना ठीक है। हर हालत में राजा को चाहिए कि अपने-आप को शत्रु के हाथ में न पड़ने दे।

युधिष्ठिर ने प्रश्न किया कि यदि भीतर से अपना राष्ट्र कुपित हो जाय और बाहरी शत्रु का दबाव हो, तो ऐसे दो दबावों में पड़े राजा को क्या करना चाहिए? इसका भीष्म ने स्पष्ट उत्तर दिया कि इस प्रकार आपत्ति में पड़े राजा को या तो शीघ्र संधि करनी चाहिए या शीघ्र पराक्रम दिखाकर शत्रु को मार भगाना चाहिए। यदि अपनी सेना अनुरक्त, पुष्ट और हृष्ट हो तो वह कितनी भी थोड़ी रह जाय, पुनः अपनी धरती

को जीता जा सकता है। ऐसे राजा को यह जानकर अपनी हिम्मत बढ़ानी चाहिए कि युद्ध में मरने पर स्वर्ग मिलेगा और जीतने पर पृथिवी का राज्य।

यहाँ यह प्रश्न भी उठाया गया कि जब धर्म का परम ह्रास हो जाय, लोक में दस्युओं द्वारा मर्यादा का उल्लंघन होने लगे, तथा पृथिवी की भोजनादि वस्तुओं पर दस्युओं का अधिकार हो जाय, तो ब्राह्मण को अपने जीने के लिए क्या करना चाहिए? इसका यही उत्तर है कि ब्राह्मण को ऐसे आपत्ति काल में विज्ञान या बुद्धिबल का सहारा लेना चाहिए। विश्व का नियम है कि यहाँ साधु का ही साथ लोग देते हैं, असाधु का नहीं। इसी विश्वास से चलना चाहिए। ऐसे समय क्रोध नहीं करना चाहिए, किन्तु यदि आवश्यकता हो तो दूसरे के धन को अपना समझ कर लिया भी जा सकता है। जो अपने विज्ञानबल (बुद्धि-विद्या) से निन्दितों के साथ भी उचित व्यवहार करता है, उस सदाचारी विज्ञानवान् और ब्राह्मण से कोई क्या कहेगा? जो बलि की वृत्ति का पालन करते हैं, वे अपने तेज से युक्त रहते हैं। ऋत्विक ब्राह्मण, पुरोहित, आचार्य आदि को सताना नहीं चाहिए। यही लोक की रीति है। यही सनातन चक्षु या दृष्टिकोण और धर्म है। गाँवों में रहने वाले बहुत से लोग कठोर वचन कहते हैं। राजा को चाहिए कि उन पर ध्यान देकर किसी को सतावे नहीं। कुवचन न कहे, निन्दा न करे और न उसे सुने, या कान बंदकर ले, अथवा अन्यत्र चला जाय। सज्जनों का स्वभाव है कि वे केवल गुणों का बखान करते हैं। आचार ही धर्म का बड़ा लक्षण है। (अ० १३०)

राजा के कर्त्तव्य की पुनः चर्चा करते हुए कहा गया कि अपने या परराष्ट्र से कोश का संग्रह करना चाहिए। क्योंकि कोश-बल से ही राज्य टिकता है। पहले कोश को उत्पन्न करे, पुनः उसका संग्रह करे, तीसरे उसकी वृद्धि करे और चौथे उसका समुचित व्यय करे। बलहीन राजा के पास कोश कहाँ और बिना कोश के बल कहाँ? बलहीन राजा के पास राज्य कहाँ, और बिना राज्यवाले के पास श्री कहाँ? ऊँची वृत्ति वाले

राजा के लिए श्री (कोश) की हानि मरण-तुल्य है। अतः राजा कोश, बल और मित्र-समुदाय की रक्षा करे। कोशहीन राज्य का लोग अनादर करते हैं श्री राजा के पापों को भी छिपा देती है। राजा को सदा उद्यमी होना चाहिए। मन में ग्लानि नहीं करनी चाहिए। उद्यम ही पुरुषार्थ है (उद्यमो ह्येव पौरुषम्। १३१।९)। राजा कभी मर्यादा भंग करने वाले दस्युओं का साथ न दे। जन-चित्त को प्रसन्न करने वाली देव-मर्यादा की स्थापना करे। दस्युओं के वश में आये हुए भूभाग को छुड़ावे और उनसे किसी तरह का मेल न रक्खे।

पुनः कहा गया है कि क्षत्रिय का धर्म प्रत्यक्ष फल वाला है। इसके साथ परोक्ष फल को नहीं मिलाना चाहिए। बलवान् होने की इच्छा करे। सब कुछ बलवान् के वश में रहता है। श्री, सेना और अमात्य सब बलवान् ही प्राप्त करता है। जो निर्धन है, वही पतित है। जो हीन है, वही उच्छिष्ट (जूठन) है। ब्रह्म को चाहिए कि क्षत्र का आश्रय ले। पापहीन आचार शीघ्र अनेक लोगों से सम्मान प्राप्त कर लेता है। (अ० १३१–३२)

इस प्रकरण में निषाद आदि दस्यु जातियों के लिए भी एक आचार बताया है जिसका पालन करके दस्यु भी अपना जीवन चला सकते हैं। धर्मशास्त्र का यह भी एक दृष्टिकोण था। जब दस्यु (पुलिंद, शबर) जातियों को अरण्य में रहने का अधिकार था, तो उनके लिए भी एक मान्य जीवन-विधि का उपदेश दिया गया। निषाद, पुलिन्द्र, शबर आदि जातियों का मूलोच्छेद प्राचीन राजधर्म को अभीष्ट न था। कापव्य नामक एक दस्यु का चरित देते हुए कहा गया है कि वह जंगल में रहता था। अपने बूढ़े माँ-बाप की सेवा करता था। वह अमोघ बाण चलाता था। कन्द-मूल-फल और जंगली अन्न खाकर निर्वाह करता था। उसने सैकड़ों सैनिकों को अकेले जीत रक्खा था। वह हथियार चलाने में दृढ़ था। जंगल में रहने वाले परिव्राजक और ब्राह्मणों के लिए मृग मारकर उनके पास पहुँचाता था। उसे दस्यु समझकर जो उसका भोजन न लेते थे,

वह फिर भी उनके घरों में जाकर उनकी सेवा करता था। एक वार उसके इस चरित्र को देखकर सैकड़ों ग्रामीण दस्युओं ने कहा कि आप हमारे सेनापति बन जाइये। उसने उत्तर दिया, "तुम स्त्रियों की वध करना छोड़ दो। बालक या तपस्वी को न मारो। जो युद्ध करना न चाहता हो, उसका वध न करो। स्त्री का किसी अवस्था में वध न करो। गाय और ब्राह्मण की सदा रक्षा करो और उनकी रक्षा के लिए युद्ध करो। खड़ी फसल मत काटो और फल का नाश न करो। जहाँ देवता, पितर और अतिथियों का पूजन होता हो, वहाँ विघ्न न करो। दण्ड का निर्माण सृष्टि की रक्षा के लिए हुआ है, वध के लिए नहीं। जो दस्यु होकर भी धर्मशास्त्र का पालन करते हैं, वे सिद्धि प्राप्त करते हैं।" कापव्य के कहने से उन दस्युओं ने वैसा ही किया। उससे कापव्य और उनको सिद्धि प्राप्त हुई। इस कापव्य-चरित के द्वारा किसी भागवत ने यह कल्पना की कि दस्युओं में भी भागवतों जैसा नीतिशास्त्र संभव है। अनुमान होता है कि गुप्त युग के किसी आटविक राजा के जीवन का वर्णन यहाँ किया गया है। (अ० १३३)

अगले अध्याय में पुनः कोशसंग्रह पर वल दिया गया है। धन यज्ञ के लिए या राजा के कोश के लिए ही वनाया गया है। वह राजस्व है। उस पर किसी का अधिकार नहीं। जो देवता, पितर और मनुष्यों को नहीं दिया जाता, उस धन को धार्मिक राजा को ले लेने का अधिकार है।

राजा को अपनी वुद्धि से कार्य और अकार्य का निश्चय कैसे करना चाहिए, इसके लिए तीन मच्छों का दृष्टांत दिया गया है। उनमें एक प्राप्त-कालज्ञ अर्थात् समय को पहचान कर काम करने वाला था। दूसरा दीर्घ-दर्शी अर्थात् भविष्य में होने वाली वात को भी सोचने वाला था। तीसरा दीर्घसूत्री था जो सदा करने योग्य काम को टालता रहता था। कभी मछुओं ने उस जलाशय को घेर कर उन मछलियों को पकड़ना चाहा। उस दीर्घदर्शी ने दोनों मित्रों से कहा, "सब जलचरों पर यह आपत्ति आई है। अतः जब तक जाने के रास्ते खुले हैं, इस सरोवर को छोड़ कर

अन्यत्र चलें। जो अनागत अनर्थ को उपायों से दूर कर देता है, उसे संशय में नहीं पड़ना पड़ता। इसलिए यदि आपको भी अच्छा लगे, तो भाग चलें।" दीर्घसूत्री ने कहा, "आपकी बात तो ठीक है किन्तु मेरी राय है कि पहले से ही हड़बड़ी न करनी चाहिए। समय पड़ने पर जो करना होगा कर लेंगे। उससे कुछ हानि न होगी।" यह सुनकर दीर्घदर्शी वहाँ से हट कर दूसरे गहरे जलाशय में चला गया। तब मत्स्यजीवी लोगों ने आकर उस जलाशय को घेर लिया और मछलियों को पकड़ लिया। उनमें दीर्घसूत्री भी बंध गया। बहुत-सी मछलियाँ बंशी और डोरे में फँसा ली गईं। उन्हीं में प्राप्तकालज्ञ भी था। जब वे उन मछलियों को ढोने लगे, तब प्राप्तकालज्ञ छिटककर जल में चला गया। मन्दात्म, हीनबुद्धि, अचेतन दीर्घसूत्री मृत्युको प्राप्त हुआ। ऐसे ही जो राजा आये हुए समय को नहीं पहचानता वह शीघ्र आपत्ति में फँस जाता है। जो पहले से ही सावधान रहता है, वह दीर्घदर्शी मछली की तरह सकुशल बना रहता है। सोच-विचार कर कार्य करने वाले राजा को चाहिए कि देश और काल को देखकर कार्य का निश्चय करे और दीर्घसूत्रता छोड़ कर शीघ्रता से कार्य करे। (अ० १३५)

ज्ञात होता है कि राजनीति के बहुत से दृष्टान्तों में तीन मछलियों का यह दृष्टान्त भी पूर्वकाल से चला आता था।

युधिष्ठिर ने पुनः प्रश्न किया, "आपने तीन प्रकार की बुद्धि कही— अनागता बुद्धि, प्रत्युत्पन्न बुद्धि और दीर्घसूत्रा बुद्धि। इनमें कौन-सी श्रेष्ठ है, जिसका आश्रय लेकर शत्रु से घिर कर भी मोह न हो। बहुत-से शत्रुओं से घिरकर भी राजा क्या करे, यह भी मैं जानना चाहता हूँ। संकट में पड़े राजा को डाकू और लुटेरे घेर कर उसका पराभव करना चाहते हैं। उस समय राजा को क्या करना चाहिए? कैसे राजा अकेला होकर बहुसंख्यक के सामने ठहर सकता है? कैसे वह मित्र के साथ और कैसे शत्रुओं के साथ बर्ताव करे? कैसे संधि करे और कैसे विग्रह करे? कैसे निर्बल होकर शत्रु और मध्यस्थ के साथ बर्ताव करे? उस हालत में राजा को

कोई सलाह देने वाला नहीं रह जाता।"

भीष्म ने कहा, "आपत्ति में मित्र भी द्वेष करने लगते हैं और जो अमित्र हैं, वे मित्रता साधने लगते हैं। इसलिए उसी समय देश और काल तथा कार्य और अकार्य का निश्चय करना चाहिए। मुख्य नीति यह है कि पंडितों और हितैषी मित्रों के साथ संधि करनी चाहिए। और, शत्रु के साथ भी संधि की ही नीति का पालन करना चाहिए। जो मूर्ख व्यक्ति शत्रु के साथ संधि-नीति से व्यवहार नहीं करता, वह न अर्थ पाता है और न फल। जो आपत्ति के समय अपने वैरी से भी मित्रता या संधि ठानता है, वह अर्थ और फल दोनों की साधना कर लेता है। इस विषय में वट वृक्ष पर रहने वाले का दृष्टान्त है।"

किसी जंगल में एक भारी बरगद का पेड़ था। उसकी जड़ में बिल बनाकर एक चूहा रहता था। पेड़ की शाखाओं पर एक बिडाल रहता था। वहीं एक व्याध पास में रहता था, जो अपने जाल में मृगों को फँसाता था। एक दिन बिडाल भी जाल में फँस गया। यह देखकर वह चूहा खुश हुआ और निडर होकर वन में मांस की खोज में घूमने लगा। पर उसने उससे भी भयंकर अपना दूसरा शत्रु नेवला एक बिल में सोते हुए देखा। वह नेवला चूहे की गंध पाकर फुर्ती से उठ बैठा। तब चूहे ने वृक्ष की शाख पर बैठे अपने दूसरे शत्रु वक्रतुंड उल्लू को देखा। अब उस चूहे को नीचे और ऊपर मृत्यु नाचती दिखाई दी। उसने सोचा, 'मुझे इस आपत्ति में बुद्धि से काम लेना चाहिए। मेरे जैसे बुद्धिमान् को मोह में नहीं पड़ना चाहिए। जब तक सांस है, तब तक जीवन का उपाय करूँगा। बुद्धि से युक्त, प्राज्ञ और नीतिशास्त्र में कुशल लोग आपत्ति में पड़कर भी संदेह में नहीं पड़ते। अतः मेरे लिए इस समय बिडाल ही एक मात्र गति है। उसके फंदे काटकर उसे जाल से छुड़ा दूँ। यह भी विपत्ति में पड़ा है और मैं इसका बड़ा काम सिद्ध कर सकता हूँ। तीन से याचना करने की अपेक्षा अकेले बिलाव से याचना करना अच्छा होगा। नीति विद्या का आश्रय लेकर इसका हित करूँ। यद्यपि मेरा यह घोर शत्रु है, पर संभव है कि

स्वयं आपत्ति में पड़ा, मुझसे संधि कर ले। अब तो मेरा जीवन इसी वैरी विलाव के अधीन है।' तब संधि-विग्रह का भेद जानने वाले उस चूहे ने विडाल से कहा,—"हे विडाल, क्या अभी तक तुममें सांस है ? यदि जीते हो, तो तुम्हारा मैं कल्याण करना चाहता हूँ। तुम दुःखी मत होओ। तुम पहले की तरह फिर जी जाओगे। मैं तुम्हारा उद्धार करूँगा तथा तुम्हारे लिए प्राण न्योछावर कर दूँगा। मेरी समझ में एक ऐसा उत्तम उपाय है, जिससे तुम इस बन्धन से छूट जाओगे। इससे तुम्हारा और मेरा दोनों का भला होगा। नीचे नेवला और ऊपर उल्लू, ये दोनों हमारे शत्रु बैठे हैं। उनसे रक्षा होनी चाहिए। पंडितों का कहना है कि दो व्यक्तियों के बीच में साप्तपदीन मैत्री (सात वचन भर कर) होती है। वह मैं आज तुम्हारे साथ करना चाहता हूँ। यदि तुम मेरी हिंसा न करो, तो तुम्हारे फंदे मैं काट दूँगा। तुम पेड़ पर हो, मैं जड़ पर हूँ। हम दोनों इस पेड़ पर बहुत दिनों से रहते आये हैं। जिस पर कोई विश्वास न करे और जो किसी पर विश्वास न करे, ऐसे शंकाशील चित्त वाले की कोई प्रशंसा नहीं करता। अतः आओ, आपस में प्रेमपूर्वक हमारा सच्चा मेल हो जाय। मैं तुम्हारा जीवन चाहता हूँ, तुम मेरे जीवन की इच्छा करो। कोई काष्ठ के सहारे नदी पार हो जाता है और फिर बड़ी नाव में बैठकर उस काठ को भी पार करा देता है। हम दोनों का यही आपसी मौका है। तुम मुझे तारो, मैं तुम्हें तारूँ।" यह सुनकर विडाल ने शांतिपूर्वक कहा, "हे सौम्य, तुम्हारा हित हो। तुम मेरे जीवन का हित चाहते हो। मैं आपद्ग्रस्त हूँ, तुम मुझसे भी अधिक आपद्ग्रस्त हो। जो आपद्ग्रस्त व्यक्तियों की संधि खूब बैठती है। अतः जो उचित हो, वह करो। मेरी रक्षा होने पर तुम्हारी हिंसा न होगी। तुम मेरे कहने में हो, तो मैं तुम्हारी शरण में हूँ।" यह सुनकर चूहे ने कहा, "आपने उदार भाव से जो कहा, वह कोई विचित्र बात नहीं है। मुझे जो हितकारी मार्ग जान पड़ता है, उसे सुनिये। मुझे नेवले से डर लग रहा है। अतः आपके पास आ जाता हूँ। आप मेरी रक्षा कीजियेगा, मुझे मारियेगा नहीं। उल्लू से भी मेरी रक्षा कीजिये।

तब मैं आपके फंदे काट दूँगा।" यह सुनकर विडाल ने चूहे का स्वागत किया और बोला, "तुममें और मुझमें एका हो गया है। तुम मेरे प्राण की भाँति मित्र हो, निडर मेरे पास आओ। तुम्हारी कृपा से मैं जीवन प्राप्त करूँगा। तुम्हारा जो हित मैं कर सकूँ, उसे सौ वर्ष तक पूरा करूँगा। अब हम दोनों में संधि हो गई है। मैं इस आपत्ति से छूट कर तुम्हारे लिए प्रीति का काम करूँगा।" यह सुनकर चूहा विश्वास के साथ विडाल के पास चला गया और पिता-माता की तरह विडाल पर विश्वास करके उसकी गोद में सो गया। उस चूहे को इस हालत में देखकर नेवला और उल्लू निराश होकर चल गए। किन्तु उसने विडाल के फंदों को धीरे-धीरे काटना शुरू किया। फंदों से दुःख पाते हुए विडाल ने चूहे से जल्दी करने को कहा, "तुम जल्दी से मेरे फंदे काट दो और फिर बाद में आराम करना।" यह सुनकर चूहे ने कहा, "हे सौम्य, तुम चुप ही रहो। मैं इस विषय में कालज्ञ हूँ और काल को बीतने न दूँगा। अकाल में किया हुआ काम फल नहीं देता। उसे भी जब काल में किया जाय, तभी वह फलवान् होता है। जब मैं चाण्डाल को हाथ में शस्त्र लेकर आते देखूँगा तब तुम्हारे फंदे काट दूँगा। उस समय फांसों के कटने से तुम छूटकर वृक्ष के ऊपर चढ़ जाना। इससे तुम्हारा जीवन सुरक्षित हो जायगा। तब मैं बिल में घुस जाऊँगा।" जीवितार्थी विडाल ने चूहे की बात सुनकर कहा, "सज्जन इस प्रकार देर में मित्रों का कार्य नहीं करते। मुझे छुड़ाने में शीघ्रता करो, जिससे दोनों का हित हो। या, तुम पहले वैर को याद करके देर कर रहे हो। देखो, इससे मेरी आयु का नाश हो जायगा। मैंने अज्ञान से जो गलती की हो, उसे क्षमा करो।" यह सुनकर बुद्धिमान् चूहे ने विडाल से कहा, "मैंने आपका मतलब समझ लिया, पर आप भी मेरा स्वार्थ समझ लें। जो शत्रु से भयभीत होता है, उस मित्र की भी रक्षा करनी चाहिए, जैसे हाथी की साँप के फन से। बलवान् से सन्धि करके जो अपनी रक्षा नहीं करता, उससे उसका अनर्थ होता है, जैसे अपथ्य भोजन से। न कोई किसी का मित्र है, न कोई किसी का

सुहृद् है। अपने स्वार्थ से दूसरे के स्वार्थ को बाँधा जाता है, जैसे पालतू हाथी से जंगली हाथी को। जो काम हो चुका है, उसके लिए कोई करने वाले का मुँह नहीं देखता। अतः कर्ता को चाहिए कि काम को अटकाये रहे। उस समय भी आप उल्लू के डर से मुझे छोड़ते हुए तुरन्त भाग जा सकते हैं। मैं भी बहुत से फन्दों में से एक को बाकी रखकर तभी उसे काटूँगा, आप निश्चिन्त रहें।" इस प्रकार दोनों में सन्धि हो गई। पर रात बीतने पर बिडाल को बड़ा डर हुआ। उसका चेहरा बिगड़ गया। उसने देखा कि वह निषाद अपने कुत्तों से घिरा हाथ में छुरा लिये आ रहा है। उसने चूहे से कहा कि अब तुम क्या करोगे।

चूहे ने आखिरी फन्दा भी काट दिया। तब बिडाल कूदकर पेड़ की ऊँची शाखा पर चढ़ गया और चूहा नीचे बिल में घुस गया। चाण्डाल अपना जाल समेट कर चला गया। तब बिडाल ने चूहे से कहा, "क्या तुम अब भी मुझसे डरते हो? बिल से बाहर क्यों नहीं आते? मेरे जो मित्र और बान्धव हैं, वे सब तुम्हारी पूजा करेंगे। तुम मेरे शरीर, घर और सब वस्तुओं के स्वामी हो। तुम मेरे अमात्य बनो और पिता की तरह आज्ञा दो। तुम मुझसे भय न करो। तुम बुद्धि में शुक्र के समान हो। मैं बलयुक्त हूँ। तुम्हारे मंत्र-बल से मुझे जय मिलेगी।" उसके बचन सुनकर चूहे ने कहा, "आपका कहना ठीक है। पर बुद्धिमान् को चाहिए कि अपने मित्र को जाने और शत्रु को भी पहचाने। यहाँ शत्रु रूप में मित्र और मित्र रूप में शत्रु देखे जाते हैं। कोई जन्म से किसी का शत्रु या मित्र नहीं है। शक्ति-बल से लोग शत्रु और मित्र बनते हैं। स्वार्थ के कारण ही शत्रु मित्र बन जाते हैं। यहाँ न स्थिर मैत्री है, न टिकाऊ सौहार्द है। काल के फेर से मित्र शत्रु बन जाता है और शत्रु, मित्र।" आपद् ग्रस्त राजा के लिए यह जानना अत्यन्त आवश्यक था कि कौन मेरा मित्र और कौन मेरा शत्रु है। स्वार्थ के कारण दोनों का रूप बदल जाता है। शत्रु और मित्र का यह परिवर्तन अथर्ववेद के मन्त्र में भी कहा गया है। राजशास्त्र के इस गठीले सिद्धान्त पर बाद के

आचार्यों ने काफी विचार किया।

राजा को चपलबुद्धि नहीं होना चाहिए और न कार्य करने में ही चपल होना चाहिए। चपलता बड़ा दोष है। यह लोक अर्थार्थी है। कोई किसी का प्रिय नहीं। अर्थ, युक्ति या स्वार्थ के कारण ही सब सगे बन जाते हैं। राजा को चाहिए कि इन छोटी बातों को भी पहचाने। चूहे ने कहा, "तुम मेरे स्वाभाविक शत्रु हो। अब मेरा तुम्हारा समागम नहीं हो सकता। दो मां जाए भाइयों में या पति-पत्नी में भी निष्कारण प्रीति नहीं होती। मेरे और तुम्हारे बीच में इसके सिवाय प्रीति का कारण और क्या है कि तुम खाने वाले हो और मैं तुम्हारा खाद्य हूँ। सन्धि और विग्रह की नीति में उनके रूप क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं। जब तक हम में स्वार्थ था, तब तक मैत्री थी। वह तो उसी के साथ विदा हो गई। सन्धि-विग्रह के क्षेत्र में जो आज ही मित्र है, वह आज ही शत्रु बन जाता है। और फिर उसी दिन पलट कर मित्र हो जाता है। स्वार्थों की ऐसी चपलता होती है। और, वे जल्दी-जल्दी बदल जाते हैं।

"तुम मेरे घोर शत्रु हो। केवल स्वार्थ की एकता से मित्र बन गये थे। अब वह बात नहीं रही। मैं इस विषय के शास्त्रों का तत्त्व जानकर फिर तुम्हारे फन्दे में कैसे फँस सकता हूँ? मैं तुम्हारे पराक्रम से मुक्त हुआ और तुम मेरे पराक्रम से। एक दूसरे का वह अनुग्रह समाप्त हो गया। अब समागम नहीं हो सकता? अब मुझे खा लेने के सिवाय तुम्हारा मुझसे और क्या काम बन सकता है? मैं अन्न हूँ, तुम खाने वाले हो। मैं दुर्बल हूँ, तुम बलवान् हो। मेरे और तुम्हारे बीच में बल की विषमता है, इसलिए सन्धि नहीं हो सकती। मैं तुम्हारी बुद्धि की तारीफ करूँगा। जो इतनी आसानी से अपने लिए भक्ष्य पा लेना चाहते हो। बन्धन से छूटने के बाद तुम्हें भूख लगी है, सो तुम शास्त्र की दुहाई देकर मुझे खा लेना चाहते हो। तुम वहीं से मेरी कुशल मनाओ।" (अ० १३७)

प्राचीन राजशास्त्र में 'आत्मरक्षितकम्' नामक एक प्रकरण था।

उसका सारांश यहाँ चूहे के मुख से कहलवाया गया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी यह प्रकरण है, पर उसका गठन इससे कुछ भिन्न है।

: ८३ :

शत्रु में अविश्वास का दृष्टान्त

(राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़िया की कहानी)

पालित मूशक और लोमश विडाल के ऊपर कहे दृष्टान्त में यह विस्तार से समझाया गया है कि आदिकाल से जो अपना शत्रु है, किसी कारणवश वह अपना मित्र भी हो जाय, तो भी उसका विश्वास नहीं करना चाहिए।

अब एक दूसरा दृष्टान्त इसलिए दिया जाता है कि यदि किसी विशेष कारण से शत्रुता या अविश्वास आ जाय, वहाँ परस्पर कैसा व्यवहार करना चाहिए। राजा विश्वास करे, या न करे ? अविश्वास से शत्रु को किस प्रकार वश में किया जाय ?

पञ्चाल की राजधानी काम्पिल्य नगर में राजा ब्रह्मदत्त राज्य करते थे। उनके महल में पूजनी नामक चिड़िया ने चिरकाल से घोंसला बना रक्खा था। वह पक्षी योनि में होने पर भी सर्वज्ञ थी और सबकी बात समझती थी। उस चिड़िया के और राजा के एक साथ ही पुत्र हुए। वह समुद्र तीर पर जाकर अपने पुत्र और राजा के पुत्र की पुष्टि के लिए दो फल ले आई। उसने एक अपने पुत्र को और दूसरा राजपुत्र को दे दिया। उन फलों में अमृत जैसा स्वाद था।

एक दिन ऐसा हुआ कि धात्री की गोद में बैठे हुए राजपुत्र ने खेल-खेलमें उस चिड़िया के बच्चे को मार डाला। इससे पूजनी को बहुत दुःख हुआ। वह आँखों में आँसू भर कर विलाप करने लगी। उसने कहा, "क्षत्रिय के साथ कोई प्रीति और मेल नहीं करना चाहिए। मार-काट ही उसका

कर्म है। मैं भी इस कृतघ्न से वदला लूँगी।" यह कहकर उसने अपने पंजों से राजपुत्र की आँखें फोड़ डालीं, और तव राजा से कहा प्रतीकार कर देने पर भी शुभाशुभ कर्म मिटता नहीं है। पुत्र या पौत्र में उसका फल अवश्य जाता है।

ब्रह्मदत्त ने कहा, "तुम्हारे साथ जैसा हमारे यहाँ व्यवहार हुआ, वैसा तुमने भी कर दिया, इसलिए विश्वास के साथ तुम यहाँ रहो।" पूजनी ने उत्तर दिया, "एक वार अपराध करने पर फिर वहीं रहना ठीक नहीं। कितनी भी सान्त्वना की जाय, वैर कभी शान्त नहीं होता। एक दूसरे के प्रति वैर करनेवालों में सन्धि नहीं होती। पूर्वापकारीका मित्र अविश्वासी हो जाता है। पहले जहाँ आदर हो, सम्मान हो, बाद में अनादर हो जाय, वहाँ नहीं रहना चाहिए। मैं तुम्हारे यहाँ वहुत दिनों तक सुख से रही, अव वैर उत्पन्न हो गया। अतः मैं जाती हूँ।"

यहाँ कहानी तो छोटी ही है, किन्तु इसके वाद करीव अस्सी श्लोकों में चिड़िया और राजा का संवाद दिया हुआ है, जिसमें अविश्वास और वैर-संवंधी राज-सिद्धान्त का विशद वर्णन है। ब्रह्मदत्त ने पूजनी को अपने यहाँ रखने के लिए कालवाद के तर्कों का आश्रय लिया, किन्तु पूजनी ने उसका खण्डन किया। उसने राजा को यह भी उपदेश दिया कि क्षत्रिय को चाहिए कि अपने अपकार और वैर का वदला ले। राजनीति का यही मुख्य मन्त्र है कि राजा अपने मन में अविश्वास का व्यवहार रक्खे।

यह कणिक भारद्वाज के राजशास्त्र से संवंधित सिद्धान्त था। कणिक भारद्वाज की उग्र राजनीति पढ़ते हुए ऐसा जान पड़ता है मानों यूरोप की राजनीति में विस्मार्क या गैरीवाल्दी के सिद्धान्त पढ़ रहे हों। कणिक भारद्वाज की राजनीति का आधार शोणित और शस्त्राघात था। उनके मत की विशद व्याख्या अध्याय १३८ की पुष्पिका में गई है। उसकी संज्ञा 'कणिक षष्टि' भी है, जिससे ज्ञात होता है कि उसमें मूलतः ६० श्लोक थे। कणिक नामक आचार्य ने सौवीर देश के राजा शत्रुंतप को अपनी उग्र नीति का उपदेश दिया था। राजा को नित्य उद्यतदण्ड होना चाहिए, जिससे उसका

पौरुष प्रकट हो। पर वह शत्रु के छिद्र की खोज में रहे और जहाँ छिद्र मिले, उस पर प्रहार करे। सदा दण्ड का प्रयोग करने से लोग डरते हैं। अतः सब भूतों का दण्ड से शासन करे। पण्डित लोग दण्ड को प्रधानता देते हैं। साम, दान, और दण्ड में दण्ड ही प्रधान है। राजधानी का मूल छिन्न हो जाने पर राज्य का उच्छेद हो जाता है, जैसे वृक्ष-मूल के कट जाने से सब शाखाएँ सूख जाती हैं। आपत्ति के समय विना शंका के सुमन्त्र, सुन्दर पराक्रम, सुन्दर युद्ध और सुपलायन—इन चार नीतियों पर भली प्रकार विचार करना चाहिए। वाणी से विनीत रहे, किन्तु हृदय में छुरे के समान हो। मृदु वचन कहता हुआ काम और क्रोध से दूर रहे। अपने शत्रु के साथ संधि करके भी उसका विश्वास न करे। शत्रु को मित्र मानकर ऊपर से उसकी सान्त्वना करे, भीतर से नहीं। उससे सदा ऐसे उद्विग्न रहे, जैसे साँप वाले फन से। जिसकी बुद्धि विचलित हो, उसे अतीत की वात कहकर शान्त करे। जिसकी प्रज्ञा विगड़ी हुई है, उसे भविष्य की आशा दिलाकर शान्त करे और जो पण्डित है, उसे तात्कालिक युक्ति द्वारा वश में करे।

अञ्जलिवद्ध शपथ और सान्त्वना दे, तथा प्रमाणपूर्वक भाषण करे। शत्रु के भी आँसू पोंछे। जब तक समय न वदले, शत्रु को कन्धे पर बैठाकर ले जाय। जब देखे समय वीत गया, तब उसे ऐसे पटक दे जैसे कन्धे पर रक्खे हुए पानी के घड़े को पत्थर पर दे मारते हैं। तिन्दु की जलती लकड़ी के समान मुहूर्त्त भर जलना अच्छा है, पर भूसी की अग्नि के समान देर तक धुंधुआना अच्छा नहीं। विना प्रयोजन कृतघ्न के साथ किसी कार्य का सम्वन्ध न रक्खे। जिसका कुछ काम है, वह मुखापेक्षी बना रहता है। जिसका काम हो गया, वह उपेक्षा करने लगता है। इसलिए दूसरे के सब कर्मों को अटकाये रहे। कोयल, वराह, सुमेरु, शून्य घर, नट, अनुरक्त मित्र, इनके अच्छे गुणों का आचरण करे। कोयल के समान मीठी वाणी, वराह के समान क्रोध युक्त आक्रमण, सुमेरु के समान स्वर्णदान, शून्य घर के समान आश्रय, नट के समान रिझाना, अनुरक्त मित्र के समान हितपरायणता, ये सारे गुण राजा को अपनाने चाहिएँ।

प्रतिदिन शत्रु के घर जाकर उसके कुशल प्रश्न पूछे, चाहे अकुशल ही हो। आलसी, नपुंसक और अभिमानी, लोकनिन्दा से डरने वाले और इन्तजार ही करने वाले अर्थ प्राप्त नहीं कर सकते। शत्रु अपना छिद्र न जानने पावे, पर राजा शत्रु की कमजोरी जान ले। अपने सब अंगों को ऐसे समेट कर रक्खे, जैसे कछुआ अपने अंगों को सिकोड़ कर रखता है। वगुले की तरह अपने काम का ध्यान रक्खे। सिंह के समान पराक्रम करे। भेड़िये की तरह झपट्टा मारकर दूसरे को खा डाले। वाज की तरह वेग से वाहर निकल पड़े। पान, अक्ष, स्त्री, शिकार, गाना-वजाना—इनका युक्ति से सेवन करे। इनमें अधिक आसक्ति बुरी है। राजा घास-फूँस से भी धनुष की डोरी वना ले। जंगली जानवर की भाँति चौकन्ना होकर सोवे। अन्धेरे में अन्धा वन जाय और मौके पर वहरा वन जाय। देश और काल में अपना पराक्रम दिखलावे। देश और काल के वीत जाने पर विक्रम निष्फल होता है। काल और अकाल तथा बल और अवल को विचार कर और शत्रु के वल को जानकर अपनी नीति या युद्ध का प्रयोग करे। दण्ड से झुकाये हुए शत्रु को जो राजा वन्धन में नहीं लाता, वह मृत्यु के मुख में चला जाता है।

राजा को चाहिए कि कई तरह की विचित्र नीतियों का आश्रय ले। उस पर फूल तो खूव लगें, पर फल न आवें। कदाचित् फल आ भी जायें तो इतनी ऊँचाई पर लगें कि उनका पाना कठिन हो। ऊपर से देखने में फल पके हुए जान पड़ें, पर भीतर से कच्चे रहें। किसी के लिए भी वे फल झड़ें नहीं। राजा जनता की आशा को लम्वे समय के लिए टाल दे। जव उसका समय आने वाला हो, तो उसमें कोई विघ्न डाल दे। विघ्न के साथ कोई निमित्त जोड़ दे और निमित्त के साथ कोई हेतु लगा दे।

जव तक भय आया न हो, तभी तक भीत के समान आचरण करे। जव भय को आया हुआ देखे, तव भय-रहित होकर प्रहार करे।

विना जोखिम उठाये मनुष्य कल्याण की वात नहीं पाता। जोखिम उठाकर यदि उसके प्राण वच जाते हैं, तो वह अपना भला पा लेता है।

जो अनागत है, उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए। जो भय आ जाय, उसे दबाने का यत्न करना चाहिए। दबाये हुए भय की पुनः वृद्धि और क्षय सम्भव है। यह सोच कर यही कहता रहे कि अभी वह मिटा नहीं।

जिस सुख का समय आया हो, उसे छोड़ना बुद्धिमत्ता नहीं। और, जो सुख अभी आया नहीं है, उसकी आशा करना या उसके पीछे दौड़ना, यह भी बुद्धिमानी नहीं है।

जो शत्रु के साथ सन्धि करके विश्वास के साथ निश्चित हो जाता है, वह मानों पेड़ की फुनगी पर सोकर वहाँ से गिरने का उपक्रम करता है।

राजा को चाहिए कि मृदु या तीक्ष्ण कर्म से अपना उद्धार करे और समर्थ होने पर धर्म का आचरण करे।

जो शत्रुओं के शत्रु हैं, उनसे भी प्रीति न करे। शत्रु अपने ऊपर जो गुप्तचर नियुक्त करे, उनकी जानकारी अवश्य रहनी चाहिए।

अपने और शत्रु के गुप्तचरों को जानना चाहिए और धार्मिक संप्रदायों के अनुयायी और तपस्वियों को शत्रु के देश में गुप्तचर बनाकर भेजना चाहिए।

उद्यान, विहार, प्रपा, आवसथ, पानागार, वेश, तीर्थ और सभाओं में गुप्तचर धर्म का आचरण करते हुए पापी दिखलाई पड़ते हैं। उन्हें पहचान कर उनका दमन करे या उन्हें अपनी ओर मिला ले।

अविश्वसनीय का विश्वास नहीं करना चाहिए तथा विश्वसनीय में भी अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। अधिक विश्वास करने वाले को सर्वत्र भय बना रहता है। अतः बिना परीक्षा किये हुए, किसी का विश्वास नहीं करना चाहिए। अत्यधिक विश्वास उत्पन्न करके मौका निकाल कर फिर प्रहार करे।

जहाँ शंका न भी हो, उसमें भी शंका करनी चाहिए। जो अपने से डरता हो, उससे भी शंका करनी चाहिए।

संदिग्ध व्यक्ति से उत्पन्न भय राजा को समूल नष्ट कर देता है।

एकाग्रता, मौन, गेरुआ वस्त्र, जटा, मृगचर्म, इन से शत्रु में विश्वास उत्पन्न करके भेड़िये की तरह उसे खा जाय।

अपना पुत्र, भाई, पिता और मित्र भी यदि अपने काम में विघ्न डालता है, तो मरवा डालना चाहिए।

गुरु भी यदि अभिमानी हो, कार्य और अकार्य का ज्ञान न रखता हो और उत्पथगामी हो, तो दण्ड से उसका शासन करना योग्य होता है।

शत्रु के आने पर उसका स्वागत और अभिवादन करे और कुछ दान-दक्षिणा दे, फिर तेज चोंचवाले पक्षी की तरह उस पर टूट पड़े।

शत्रु के मर्म का भेदन किये विना, दारुण कर्म किये विना और प्रहार किये विना, किसी को परम लक्ष्मी नहीं मिलती।

कोई जन्म से शत्रु या जन्म से मित्र नहीं होता। मतलब से ही शत्रु और मित्र हुआ करते हैं।

शत्रु यदि गिड़गिड़ा कर भी वचन कहे, तो भी उसे छोड़ना नहीं चाहिए। किन्तु उसका पहला अपकार सोचकर उसका वध कर देना चाहिए।

राजा को उचित है कि संग्रह और अनुग्रह में सदा यत्न करता रहे और उसी प्रकार निग्रह या दमन भी करता रहे।

जब राजा अपने शत्रु पर प्रहार करना चाहता हो, तो उसे पहले मीठी बातें करनी चाहिएँ। प्रहार करने के बाद भी मीठा वचन कहे। और, उसका सिर काट लेने के बाद आँसू बहावे और शोक करे।

सम्मान और तितिक्षा से शत्रु को निमंत्रण दे तथा इस प्रकार उसके मन में आशा उत्पन्न करे।

शत्रु के साथ कभी सूखा वैर न करे। तैर कर नदी पार न करे। विना मतलब के काम से आयुष्य घटती है। वह गाय का सींग निगलने के समान है। इससे दाँत भी घिस जाते हैं, कुछ स्वाद भी नहीं मिलता।

धर्म, अर्थ, काम रूपी त्रिवर्ग के उपभोग में तीन तरह की पीड़ा होती है। फलों की स्वीकृति और दुःखों का वर्जन करना चाहिए।

ऋण, अग्नि और शत्रु इनका स्वल्प अंश भी बाकी नहीं रखना चाहिए, क्योंकि ये बार-बार बढ़ जाते हैं।

बचा हुआ ऋण बढ़ जाता है, नष्ट शत्रु भी पुनः बढ़ जाते हैं। सदा सोच-विचार कर और प्रमादरहित होकर काम करे। छोटा काँटा भी छोड़ा हुआ रह जाय तो पक जाता है।

राजा को उचित है कि मनुष्यों के वध से, मार्गों के दूषण से और खानों के विनाश से शत्रु के राष्ट्र का विनाश करे।

राजा गृध्र के समान दृष्टि रक्खे, बगुले के समान एकाग्रता रक्खे, कुत्ते की चेष्टा रक्खे और सिंह का पराक्रम करे। कौवे के समान सशंक रहे और साँप के समान आचरण करे, अर्थात् बिना डँसे भी फुँकारता रहे।

श्रेणी मुख्यों में फूट डालते समय, प्रिय जनों में अपने साले-संबंधियों का अनुनय करते समय, भेद और संघात का कार्य करते हुए, अपने अमात्यों की रक्षा करनी चाहिए कि कहीं वे अपने विरुद्ध न हो जायँ।

राजा यदि मृदु होता है, तो लोग उसका अनादर करते हैं। यदि तीक्ष्ण होता है, तो उससे डरने लगते हैं। इसलिए मृदुता के समय मृदु और तीक्ष्ण काल में तीक्ष्ण व्यवहार करना चाहिए।

मृदु राजा मृदुता से अधिक मृदु को जीत लेता है, मृदुता से दारुण को भी वश में कर लेता है। मृदु के लिए कुछ भी असाध्य नहीं। इसलिए मृदु व्यवहार सबसे अधिक तीक्ष्ण होता है।

जो समय पर मृदु और समय पर तीक्ष्ण होता है, वह अपने सब कार्य साध लेता है, शत्रुओं पर भी अधिकार कर लेता है।

पण्डित से वैर करके यह न समझ बैठे कि मैं उससे दूर हूँ, वह मेरा क्या कर लेगा। पण्डित की भुजाएँ लम्बी होती हैं। उसके साथ हिंसा की गई हो, तो वह भी हिंसा कर सकता है।

ऐसी नदी में नहीं तैरे, जिसे फिर तैर कर पार न कर सके। उस धन को न लें, जिसे शत्रु से न छीन सकें। उसे खोदे नहीं, जिसे जड़ तक

उखाड़ना संभव न हो। उस पर चोट न करे, जिसका मस्तक काट कर न गिरा दे।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय राजनीति में कणिक भारद्वाज अत्यन्त उग्र और कठोर दृष्टिकोण के प्रवर्तक थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भारद्वाज का नाम आया है। संभवतः वे ही आचार्य कणिक हों। शत्रु के साथ किसी भी प्रकार की सज्जनता या मैत्री का व्यवहार उन्हें सह्य न था। छल-छिद्र की नीति का प्रयोग भी वे शत्रु के सशरीर राष्ट्र के विनाश के लिए उचित मानते थे।

ज्ञात होता है कि कणिक भारद्वाज की राजनीति पूर्ण साम्राज्यवादी राजाओं की थी, जिसके अनुसार राजा लोग न्याय या अन्याय का विचार न करके दूसरे जनपदों का अपहरण करते हुए अपने साम्राज्य का मनमाना विस्तार करते थे। सभापर्व में साम्राज्य और संघों की तुलना करते हुए सम्राट को कृत्स्नभाग या सबको हड़प लेने वाला कहा गया है।
(सभापर्व १४।२)

अध्याय १३९ में एक ऐसी राज्य-स्थिति की कल्पना की गई है, जिसमें सभी कुछ बिगड़ गया हो। परम धर्म क्षीण हो गया हो, सब लोग मर्यादा का उल्लंघन करने लगे हों, धर्म अधर्म और अधर्म धर्म बन गया हो। मर्यादाएँ टूट गई हों, धर्म के बाँध हिल गये हों, राजा, चोर या दस्यु प्रजाओं का उत्पीड़न करने लगे हों, सब लोग विश्वास खोकर भयभीत हो गये हों, और एक दूसरे को ठगने लगे हों। मानों सारे देश में आग लग गई हो। ब्राह्मण और विद्वानों का समाज अभिपीड़ित हो। उस ओर मेघों की दृष्टि बंद हो गई हो और आपस में फूट पैदा हो गई हो? जीविका के सभी साधन दस्युओं के हाथ में चले गये हों। ऐसे बुरे समय के आने पर ब्राह्मण कैसे अपनी जीविका चलाएँ, और धर्मात्मा क्षत्रिय भी किस प्रकार जीवन यापन करे? (कथं च राजा वर्तेत लोके कलुषता गते। कथमर्थच्च धर्माच्च न हीयते परंतप ॥ १३९।८)

इस प्रश्न के उत्तर में प्रजाओं के योगक्षेम और सुवृष्टि को राज्य का मूल कहा गया है। अतः उस प्रकार का भयंकर समय आ जाने पर राजा और प्रजा दोनों यही कर सकते हैं कि अपने विज्ञान या बुद्धि से काम लें।

इसके समर्थन में विश्वामित्र की कहानी दी गई है कि भूख से पीड़ित होकर उन्होंने श्वपचों के गाँव में कुत्ते का मांस खाकर अपने प्राणों की रक्षा की। ऐसा करने में कोई पाप नहीं है, क्योंकि आत्मा की रक्षा मुख्य धर्म है। अपनी आत्मा सबसे बड़ा मित्र है। आत्माप्रिय और पूज्यतम है। उसकी रक्षा करना ही धर्म है। उसमें खाद्य-अखाद्य का विचार नहीं करना चाहिए। ऐसा विचार रखकर मनुष्य जीवन की रक्षा करे। यदि वह जीवित रहता है, तो फिर बहुत-से कल्याण जीवन में आते हैं।'

इसके उत्तर में प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि ब्राह्मण ऋषि के लिए कुत्ते का मांस-भक्षण ठीक मान लिया जाय, तो फिर दस्युओं के लिए और कौन-सी मर्यादा रहेगी। धर्म शब्द का अर्थ शिथिल हो जायगा। इसका समाधान यह कहकर किया गया है कि ऐसी परिस्थिति में शुद्ध शास्त्र की दुहाई देना ठीक नहीं, बल्कि बुद्धि से उस गांठ को खोलना चाहिए। इस विषय में अनेक प्रकार से बुद्धियों का विस्तार ऋषियों ने किया है, उनके अनुसार काम करने का मनुष्य को अधिकार है। राजा को उचित है कि अनेक प्रकार की प्रज्ञाओं से काम ले। लोक में जहाँ-तहाँ ऐसी प्रज्ञाएँ भरी हुई हैं। सब जगह उन्हें शास्त्र से [illegible] नहीं किया जाता। यह विचार-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त था। एक ओर शास्त्र है। दूसरी ओर मनुष्य की प्रज्ञा अपनी समझ-बूझ से चलती है। बुद्धि से उत्पन्न धर्म का पालन भी एक विधान है। विजयेच्छु लोग बुद्धि का आश्रय लेकर विजय प्राप्त करते हैं। धर्म की एक शाखा नहीं है, वह बहुत

एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत्।
जीवन्पुण्यमवाप्नोति नरो भद्राणि पश्यति ॥ (१३९।९३)

शाखाओं वाला महावृक्ष है। (नैकशाखेन धर्मेण राज्ञां धर्मो विधीयते) अपनी प्रज्ञा के अनुसार धर्म का पालन ठीक मार्ग है। नहीं तो किये हुए कर्म का लोग उलटा अर्थ लगा लेते हैं। कुछ व्यक्ति सम्यग् विज्ञानी होते हैं और कुछ मिथ्या विज्ञानी। जिसमें जैसी बुद्धि होती है, उसी के अनुसार वह वैसा करता है। धर्म के लुटेरे शास्त्र को भी चुरा लेते हैं। और, वे अर्थ को उलटे-पुलटे रूप में रखते हैं। शास्त्र में दोष निकालने वाले ऐसे व्यक्ति शास्त्र के चोर होते हैं। वे दूसरे की विद्या की निन्दा करके अपनी विद्या को ठीक बताते हैं। ऐसे लोग विद्या बेचने वाले बनिये हैं। वाणी की छुरी से वे विद्या के फल को निचोड़ लेते हैं। ऊपर जो कहा गया है वह बृहस्पति के लोकायत मत को लक्ष्य करके कहा गया है।[1] धर्म के निर्णय में शास्त्र का कुछ प्रमाण नहीं है। धर्म मनुष्य की निजी बुद्धि पर निर्भर है। पूर्वकाल में शुक्राचार्य के राजधर्म में शास्त्र और बुद्धि इन दोनों को प्रमाण माना गया था।

इस अध्याय में बुद्धि स्वातन्त्र्य पर जो इतना बल दिया गया है और धर्म-कर्म के निर्णय में उसकी सबसे अधिक दुहाई दी गई है, वह बाहर से आए हुए शक-कुषाण-वंशी राजाओं की राजनीति जान पड़ती है। मालवा के क्षत्रप, मथुरा और तक्षशिला के क्षत्रप यवन और यूनानी राजनीति के मानने वाले थे। उन्हीं के सिद्धान्तों का अध्याय १४० में प्रतिपादन ज्ञात होता है। किन्तु इस विषय में अधिक अन्वेषण की आवश्यकता है।

अध्याय १४१-१४५ में जो कपोत-कपोती के आतिथ्य धर्म का ज्वलंत दृष्टान्त है, वह भी उन्हीं की कहानियों से लिया गया जान पड़ता है। दृष्टान्त में कहा गया है कि पेड़ पर घोंसला बना कर रहते हुए कपोत-कपोती ने पेड़ के नीचे आए हुए एक बहेलिये को अपना अतिथि मानकर, उसकी क्षुधा निवृत्ति के लिए अपने शरीर का मांस दे दिया। इसके पुण्य फल से वे दोनों विमान में बैठकर स्वर्ग चले गए। यह आख्यान अभिप्राय

---

१. इति बार्हस्पतं ज्ञानं प्रोवाच मघवा स्वयम्। (अ० १४०।१७)

और भाषा शैली की दृष्टि से उसी युग का है जब आर्यशूर की जातक-माला लिखी गई। इसकी त्याग वृत्ति वैसी ही है जैसी दिव्यावदान के चन्द्रप्रभ राजा के शिरोदान की।

राजा के आपद् धर्म का एक दृष्टान्त जनमेजय की कहानी है जिसे ब्रह्म हत्या का पाप लगा था। ऋषि इन्द्रोत ने राजा से अश्वमेध यज्ञ कराया, जिससे वह पाप से मुक्त हो गया। (अ० १४८)

अध्याय १४९ में गृध्र-गोमायु संवाद के रूप में अनिर्वेद के सिद्धान्त का निरूपण किया गया है (अनिर्वेदः सदा कार्यो निर्वेदाद्धि कुतः सुखम्। १४९।६२)। कथा है कि एक ब्राह्मण बालक मर गया था, किन्तु शिव की कृपा से वह पुनः जीवित हो गया। ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रकरण में बौद्धों के विज्ञानवाद का निरूपण किया गया है। वह विज्ञान ही मानों मृतक-संजीवनी थी। गृध्र और गोमायु दोनों विज्ञानवाद के विद्वान् थे। (तयोर्विज्ञानविदुषोर्द्वयोः १४९।१०४)। विशेषतः सियार के वाक्य और तर्क विज्ञानवाद के समर्थन में ही थे। बौद्धों के 'शृगालोवाद सुत्तन्त' और शान्तिपर्व के अध्याय १४९ में वर्णित इन्द्र-शृगाल संवाद की सामग्री भी इस विषय में द्रष्टव्य है।

: ८४ :

प्रज्ञादर्शन में गुणों की मान्यता और दोष

अध्याय १५०-१५१ में एक बहुत ही मनोहर कहानी दी गयी है उसका उद्देश्य यही बताना है कि बलवान् शत्रु से लोहा लेकर भी दुर्बल राजा प्रज्ञा या बुद्धि के जोर से कैसे अपनी रक्षा कर सकता है। कहते हैं कि हिमालय में सेमल का एक बड़ा पेड़ था। उसके गुद्दे, शाखा और पत्ते सब सकुशल देखकर नारद ने पूछा कि पहाड़ की चोटियों और बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ फेंकने वाले बलवान् वायु के होते हुए तुम इतनी अच्छी

दशा में कैसे हो. सेमल ने कहा, "मैं बुद्धि के वल से अपनी रक्षा करता हूं।" यह सुनकर नारद ने वायु से चुगली खाई, जिसे सुनकर वायु क्रुद्ध हुआ और सेमल पर चढ़ाई करने के लिए उस जंगल में आया। यह देखकर सेमल ने सोचा, 'कोई दूसरा वृक्ष मेरे समान बुद्धिमान् नहीं है। मैं अपने बुद्धिबल से इस भय को पार करूँगा'।[1]

तव सेमल ने अपनी पत्तियाँ, टहनियाँ और शाखाएँ गिरा दीं। वह मोटे गुद्दों के साथ ठूंठ मात्र वन गया। उसने मुस्कुराकर वायु का मुकावला किया और वायु का अन्धड़ उसका कुछ न बिगाड़ सका। अच्छी नीति तो यही है कि दुर्वल वलवान् के साथ वैर न करे, किन्तु यदि मौका पड़ ही जाय तो बुद्धि से अपनी रक्षा करनी चाहिए।[2]

लोभ

प्रश्न यह उठाया गया है कि राजा के सवसे वड़े पापों में कौन वड़ा पाप है? उत्तर में कहा गया है कि लोभ सबसे बड़ा दुष्कर्म है। लोभ से क्रोध, लोभ से काम, लोभ से मोह, माया, अभिमान, अकड़, जुआ, लज्जा का परित्याग, श्री नाश और धर्म संक्षय, चिन्ता और अप्रज्ञता सभी कुछ लोभ से हो जाता है।

अन्याय, वितर्क, विकर्म, कूट विद्या आदि, रूप और ऐश्वर्य का मद, सव में अविश्वास, कुटिलता, सव में अयुक्तता और अभिद्रोह, पराये धन का हरण, परस्त्री पर कुदृष्टि, वाग्वेग, मानस वेग, निन्दा वेग, काम और भूख का वेग. दारुण मृत्यु, ईर्ष्या वेग, मिथ्या वेग, रस लोलुपता, श्रोत्र वेग, निन्दा और शेखी, मात्सर्य, दुष्कर्म, सव तरह का साहस, सव लोभ से उत्पन्न हो जाते हैं। बुड्ढा होता हुआ भी व्यक्ति इन्हें नहीं छोड़ता। जितना अधिक मिलता है, उतना ही अधिक लोभ वढ़ता है,

१. किं तु बुद्ध्या समो नास्ति मम कश्चिद्वनस्पतिः।
तदहं बुद्धिमास्थाय भयं मोक्ष्ये समीरणात्॥ (१५१।१६)

२. तस्माद्वैरं न कुर्वीत दुर्बलो बलवत्तरैः। (१५१।२७)

जिस प्रकार समुद्र का पाट बड़ी-बड़ी नदियों के जल से भी पूरा नहीं भरता। अतएव अपने आप को जीतकर लोभ को वश में करना चाहिए। शास्त्रों के पण्डित भी, बड़े लोगों के बड़े-बड़े संशयों को अपनी बुद्धि से काटने वाले व्यक्ति भी लोभ के जाल में फंस जाते हैं। ऐसे लोग अपने अपने झंडे लगाकर संसार को मूड़ लेते हैं।[1]

एक सनातन मार्ग को मेंटकर अपने युक्ति बल से वे धर्म की संस्था में राहें निकाल देते हैं। लोभ से ग्रस्त होकर वे संस्था को बेच डालते हैं। लोभ से ग्रस्त बुद्धि वाले लोगों में दर्प, क्रोध, मद, स्वप्न, हर्ष, शोक, अतिमानिता ये दोष भी आ जाते हैं।

इसी प्रसंग में प्रज्ञादर्शन के अनुयायी बुद्धिमान् व्यक्तियों के गुणों की भी एक लम्बी सूची दी गई है। जैसे शिष्टाचारप्रिय, दान्त, सुख-दुःख में समभाव वाले, सत्यपरायण, दाता, याचना रहित, दयावान, पितृ, देव और अतिथियों के प्रेमी, सर्वोपकारी, धीर, सर्वभूतहितकारी, सब कुछ डालने वाले, धर्म कार्यों में पारंगत और अविचल, असंभिन्न-वृत्त, अभय-दायक, अरौद्र, सत्पथ में स्थित, काम-क्रोध रहित, निरहंकारी, सुव्रत, स्थिर और मर्यादावान् व्यक्तियों के पास जाकर धर्म के विषय में प्रश्न करना चाहिए, क्योंकि वे भूमि या यश के लिए धर्माचरण नहीं करते। वह उनका स्वभाव ही हो जाता है। भय, क्रोध, चापल्य, शोक, धर्म का दिखावा, गुह्य, आदि उनमें नहीं होता। वे लोभ-मोह रहित होते हैं।[2]

(अ० १५

---

१. धर्मवैतंसिकाः क्षुद्रा मुष्णन्ति ध्वजिनो जगत्। (१५२।

२. शिष्टांस्तु परिपृच्छेथा यान्वक्ष्यामि शुचिव्रतान्।
येषु वृत्तिभयं नास्ति परलोकभयं न च ॥२०॥
नामिषेषु प्रसङ्गोऽस्ति न प्रियेष्वप्रियेषु च।
शिष्टाचारः प्रियो येषु दमो येषु प्रतिष्ठितः ॥२१॥

अज्ञान

लोभ का वर्णन करने के बाद कहा गया है कि उसी का दूसरा रूप अज्ञान है।[1]

अज्ञान के लक्षण ये कहे गए हैं—

राग, द्वेष, मोह, हर्ष, शोक, अभिमानिता, काम, क्रोध, दर्प, तन्द्रा, आलस्य, इच्छा, द्वेष तथा दूसरे की बढ़ती से जलन।

लोभ से सब दोष आ जाते हैं, इस लिए लोभ का त्याग करना चाहिये। जनक, युवनाश्व, वृषादर्भि एवं प्रसेनजित् ये राजा अपनी निर्लोभता से स्वर्ग के अधिकारी हुए।

दम-प्रशंसा

अ० १५४ में प्रश्न उठाया गया है कि लोक में अनेक दर्शन हैं और धर्म के अनेक पक्ष है, उन सबमें उत्तम कौन है ?[2] इसका सुनिश्चित

सुखं दुःखं परं येषां सत्य येषां परायणम्।
दातारो न गृहीतारो दयावन्तस्तथैव च ॥२२॥
पितृदेवातिथेयाश्च नित्योद्युक्तास्तथैव च।
सर्वोपकारिणो धीराः सर्वधर्मानुपालकाः ॥२३॥
सर्वभूतहिताश्चैव सर्वदेयाश्च भारत।
न ते चलयितुं शक्या धर्मव्यापारपारगाः ॥२४॥
न तेषां भिद्यते वृत्तं यत्पुरा साधुभिः कृतम्।
न त्रासिना न चपला न रौद्राः सत्पथे स्थिताः ॥२५॥
ते सेव्याः साधुभिर्नित्यं येष्वहिंसा प्रतिष्ठिता।
कामक्रोधव्ययेता ये निर्ममा निरहंकृताः।
सुव्रताः स्थिरमर्यादा तानुपास्व च पृच्छ च ॥२६॥
(अ० १५२)

1. अज्ञानं चातिलोभश्चाप्येकं जानीहि पार्थिव। (१५३।९)
2. महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत।
किं स्वदेवेह धर्माणामनुश्रेष्ठतमं मतम् (।।१५४।३।।)

उत्तर दिया गया है कि दम या विषयों से इन्द्रियजय यही श्रेष्ठ धर्म पथ है—

धर्मस्य विधयो नैके ते ते प्रोक्ता महर्षिभिः।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम् ॥ (१५४।६)

निश्चित दर्शन वाले वृद्ध लोग दम को ही निःश्रेयस या मोक्ष हैं। विशेषतः ब्राह्मण के लिए दम ही सनातन धर्म है। अदान्त की क्रिया सिद्ध नहीं होती। दान, यज्ञ और स्वाध्याय सभी से बढ़कर दम दम तेज की वृद्धि करता है। दम परम पवित्र है। लोक में दम के और धर्म नहीं है। दम से महान् धर्म प्राप्त होता है। दान्त व्यक्ति से सोता और सुख से जागता है। वह सुखपूर्वक लोक में विचरण है और उसका मन प्रसन्न रहता है। चारों आश्रमों के लिए दम उत्तम व्रत कहा है। दम के लक्षण इस प्रकार है—

क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य, आर्जव, इन्द्रियों का निग्रह, मृदुता, ह्री, अचंचलता, अकृपणता, संतोष, प्रिय वचन, असंशय एवं अ इन सबका सम्मिलित नाम दम है (एषां समुदयो दमः)।

दमयुक्त व्यक्ति इन दोषों से अपने को बचाता है—काम, लोभ, दर्प, स्तम्भ और विकत्थन, मोह, ईर्ष्या एवं अपमान।

दान्त व्यक्ति समुद्र के तुल्य होता है। उसके चित्त को कभी नहीं किया जा सकता। मैत्र, शीलसंपन्न, अच्छे सहायकों से युक्त, संगत से मुक्त, सुवृत्त, शीलसंपन्न, प्रसन्नात्मा, आत्मविद् व्यक्ति इस में सम्मान और परलोक में सद्गति पाता है।

इसी के साथ दम मार्ग को ग्रहण करने वाले वनवासी मुनि के का वर्णन किया गया है। उसे भूतों का भय नहीं और भूतों को भय नहीं होता। सब कर्मों का संन्यास करके, तप का संन्यास, विद्याओं का संन्यास और सर्वस्व का संन्यास करने वाला कामों की ओर पुनः न लौटकर यहाँ सम्मान और पश्चात् स्वर्ग करता है। दम का केवल एक ही दोष है, अर्थात् उसको दान्त की

कर उसे लोग अशक्त मान लेते हैं। इसमें एक बड़ा गुण भी है कि क्षमावान् के लिये अधिक-से-अधिक लोग सुलभ हो जाते हैं। दान्त व्यक्ति जहाँ रहता है, वहीं अरण्य और आश्रम बन जाता है। (अ० १५४)

तपःप्रशंसा

दम के प्रसंग में तप की महिमा का वर्णन किया गया है। प्रजापति ने इस विश्व को तप से ही बनाया। उन ऋषियों ने तप से ही वेदों को प्राप्त किया। सिद्ध लोग तप से ही तीनों लोकों को देखते हैं, और औषधियाँ, तीनों विद्याएँ तप से ही सिद्ध होती हैं। सब साधनों का मूल तप है।

जो दुष्प्राप्य हो, जो समझने में बुद्धि के लिए दुर्गम हो, जो कठिनाई से वश में आने योग्य हो, और मनके उत्साह से बाहर का हो, वह सब तप से प्राप्त किया जाता है। तप की शक्ति से बाहर कुछ नहीं है।

यद्यपि तप के बहुत से मार्ग हैं, किन्तु निवृत्ति-पूर्वक जीवन एवं अनशन से बढ़कर कोई तप नहीं। अहिंसा, सत्यवचन, दान और इन्द्रिय-निग्रह ये तप हैं, किंतु अनशन से बढ़कर नहीं। ऋषि, देव, पितर, मनुष्य और पशु तथा और भी जो चराचर प्राणी हैं, सब तपपरायण होकर तप से ही सिद्धि प्राप्त करते हैं। तप से देवत्व भी मिल सकता है।

सत्य की प्रशंसा

इस प्रसंग में तप के अनन्तर सत्य के विषय में प्रश्न किया गया है। सत्य का क्या लक्षण है और उससे किस फल की प्राप्ति होती है। सन्तों का धर्म सत्य है। सत्य ही सनातन धर्म है। चारों वर्णों की अविकारित स्थिति सत्य से ही प्राप्त होती है। सत्य ही धर्म, तप और योग है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य ही परम यज्ञ है। सत्य में सब प्रतिष्ठित हैं। लोक में सत्य के १३ प्रकार हैं—

सत्य, समता, दम, अमात्सर्य, क्षमा, ह्री, तितिक्षा, अनसूया, त्याग, ध्यान, आर्यत्व, स्थिर धृति, एवं अहिंसा। सत्य सदा अव्यय और अविकारी रहता है। योग से सत्य की प्राप्ति होती है। सत्य की परिभाषा में आने वाले दूसरे गुण अमात्सर्य, दान, धर्म में संयम, प्रशान्त-वचन,

ह्री, तितिक्षा, क्षान्ति, स्नेह का त्याग, विषयों का त्याग, रागद्वेष का त्याग, वीतराग, शुभाशुभ कर्मों का निराकरण, सदा क्षमा और सत्य हैं। पण्डित ही भय और क्रोध से ऊपर उठ कर धृति प्राप्त करता है। मन, कर्म, और वाणी से सब भूतों में अद्रोह का और अनुग्रह का भाव, यह सज्जन का लक्षण है। सत्य की परिभाषा में आने वाले गुणों का अन्त नहीं है। अतः ब्राह्मण, पितृगण और देवता सभी सत्य की प्रशंसा करते हैं। सत्य से बड़ा धर्म नहीं है और झूठ से बड़ा पाप नहीं है। धर्म की टेक सत्य है। इसलिए कभी सत्य का लोप नहीं करना चाहिए।[1] दान, यज्ञ, व्रत, अग्निहोत्र और वेद ये सब सत्य के रहने से ही पास आते हैं।

क्रोधादि दोष निवृत्ति

क्रोध, काम, शोक, मोह, विवित्सा, परनिन्दा, मद, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, कुत्सा, असूया, कृपा, ये तेरह दोष मनुष्य की नैतिक हानि करते हैं। इससे दुःख और पाप होता है।

दोषों की उत्पत्ति के विषय में कहते हैं कि लोभ से क्रोध होता है। पर दोषों से क्रोध बढ़ता है। क्षमा से शान्त होता है। श्री से लोभ की निवृत्ति हो जाती है। संकल्प से काम होता है। सेवन से काम बढ़ता है। तत्त्व-ज्ञान से वह दूर होता है। अल्पबुद्धि पुरुषों को शास्त्रों में विरोध लगता है। कामना से वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा बढ़ जाती है, जिसकी निवृत्ति तत्त्व-ज्ञान से ही होती है। प्रीति से शोक होता है। वियोग उस शोक का कारण बन जाता है। जब प्रीति के लिए कोइ अर्थ नहीं रहता, तो व्यक्ति नष्ट हो जाता है। लोभ और क्रोध से अपने प्राण दूसरे के वश में हो जाते हैं। सब भूतों में दया और निर्वेद से अत्यन्त परवशता दूर होती है। सत्य के त्याग से मात्सर्य उत्पन्न दूर होता है और मनुष्य का मन अहित में लग जाता है। साधुओं की सेवा से इसकी निवृत्ति हो जाती है।

१. नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्॥ (१५६।२४)

कुल, ज्ञान और ऐश्वर्य से शरीरधारियों में मद उत्पन्न हो जाता है। इन्हीं के शुद्ध विज्ञान से मद चला जाता है। काम और संघर्ष से ईर्ष्या होती है। प्रज्ञा के उदय से ईर्ष्या हट जाती है। द्वेषपूर्ण असंगत वाक्यों से कुत्सा उत्पन्न हो जाती है। उसका निराकरण उपेक्षा से हो जाता है। यदि अपकारी बलवान् का प्रतिकार नहीं किया जाता तो असूया होती है और करुणा के भाव से उसकी निवृत्ति होती है। कृपणों या दीनों को सदा देखते रहने से कृपा उत्पन्न होती है। धर्मनिष्ठा से वह शान्ति हो जाती है। इन्हें ही जीतने से पाण्डवों की विजय और न जीतने से कौरवों की हार हुई।

नृशंस या निष्ठुर व्यक्ति के लक्षण

अध्याय १५८ में नृशंस व्यक्ति के लक्षण बताये गये हैं। युधिष्ठिर ने प्रश्नारम्भ करते हुए कहा कि मैंने दयालु या कृपावान के विषय में तो सुना, किन्तु नृशंस व्यक्ति के लक्षण नहीं सुने। भीष्म ने उत्तर में किसी बहुत ही भयंकर व्यक्ति का चरित्र-चित्रण करते हुए उसे नृशंसता का नमूना बताया।

जो मनोभावना को छिपाकर रखता है और जिसके कर्म से उसका उद्देश्य जाना जाता है, जो आक्रोश करता है, जो दूसरों को बन्धन में डालता है और दूसरे भी जिसे बन्धन में डालते हैं, जो अपने दान का बखान करता है, जो सबसे टेढ़ा बना रहता है, जो क्षुद्र, शठ और अपकारी, असंभोगी, अभिमानी, व्यसनी और शेखीखोर, सब पर शंकाशील, कठोर, मूर्ख और कृपण होता है, जो अपने वर्ग की प्रशंसा करता है, जो आश्रमों से द्वेष करता है, जो धर्मों का संकर या वर्णसंकर करता है, जो सदा हिंसामय आचरण करता है, जिसमें कोई विशेष गुण नहीं होता, जिसमें बहुत तरह का झूठ भरा हो, जो बहुत लोभी, निष्ठुरकर्मा, जो धर्मशील गुणवान् को पापी समझता है, जो अपने स्वभाव के अनुसार किसी का विश्वास नहीं करता, जो पराए दोषों और रहस्यों का भण्डाफोड़ करता है, और उनके कार्यों में विघ्न डालता है, जो अपने उपकारी को ठगिया समझता

हैं, उपकारी को धन देकर संताप करता है, जो स्वयं अच्छे भोजन करे दूसरों को नहीं देता, ऐसे व्यक्ति को नृशंस कहते हैं। ऐसे नृशंस व्यक्ति को सदा दूर रक्खे और आप उससे दूर रहे। (अ० १५८)

अ० १५९ में अनेक प्रकार के आचार-स्खलन, पाप और उनके प्रायश्चित्तों का वर्णन मानव धर्मशास्त्र अध्याय ११ के आधार पर किया गया है। यहाँ अ० १५० से १५८ तक सत्य, तप अक्रोध, अलोकादि गुणों की जो प्रशंसा और कुछ पापों की निन्दा पायी जाती है, वह प्रज्ञा दर्शन का विषय था। यह आवश्यक समझा जाता था कि प्राज्ञ या पण्डित को न केवल इस विषय का ज्ञान होना चाहिए। बल्कि ये गुण उसके जीवन में भी आने चाहिएं। तभी वह स्वयं आपत्ति से बच कर लोगों को बचा सकता है। इसी कारण यह प्रकरण आपद्धर्म के अंत में संकलित कर दिया गया।

नृशंस व्यक्ति का घोर रूप बता कर तलवार की उत्पत्ति का लम्बा वर्णन किया गया है। भीष्म और युधिष्ठिर को संवाद के पुछल्ले के रूप में माद्रीपुत्र नकुल ने प्रश्न किया कि तलवार की उत्पत्ति कैसे हुई? भीष्म ने बताया कि सब हथियारों में तलवार बढ़कर है। उसकी उत्पत्ति के विषय में ऐसा कहा जाता है कि पूर्व युग में देवासुरों में घोर युद्ध हुआ। उसमें देवों की बुरी हालत हुई। तब ब्रह्मा ने तलवार का दर्शन किया, जो ३२ अंगुल बड़ी तलवार थी। वह निस्त्रिंश कहलायी। ब्रह्मा ने उसे शंकर को दिया। रुद्र ने उसे लेकर जो हड़कम्प मचाया उससे चारों ओर काई-सी फट गई और असुरों का बुरा हाल हो गया। तब रुद्र ने उसे विष्णु को दिया कि वे उससे संसार की रक्षा और पालन कर सकें। उन्होंने उसे मारीचि को दिया। मरीचि ने ऋषियों को, ऋषियों ने इन्द्र को, इन्द्र ने लोकपालों को, लोकपालों ने सूर्यपुत्र मनु को, मनु ने क्षुप को, क्षुप ने इक्ष्वाकु को, इक्ष्वाकु ने पुरूरवा को, उसने आयु को, आयु ने नहुष को, नहुष ने ययाति को, ययाति ने पूरु को, पूरु ने आमूर्तरयस को, उसने भूमिशय को, उसने दुष्यन्त पुत्र भरत को, भरत ने ऐडविड को, ऐडविड ने धुन्धुमार को, धुन्धुमार

काम्बोज को, काम्बोज ने मुचुकुन्द को, मुचुकुन्द ने मरुत्त को, मरुत्त ने रैवत को, रैवत ने युवनाश्व को, युवनाश्व ने रघु को, रघु ने हरिणाश्व को, हरिणाश्व ने शुनक को, शुनक ने उशीनर को, उशीनर ने भोजवंशी यादवों को, यादवों ने शिवि को, शिवि ने प्रतर्दन को, प्रतर्दन ने अष्टक को, उसने रुशदश्व को, रुशदश्व ने भरद्वाज को, उसने द्रोण को, द्रोण ने कृप को, और कृप से उसे आप ने पाया। (अ० १६०)

यहां लेखक ने यह ध्यान रक्खा है कि तलवार की उत्पत्ति में ब्रह्मा, शिव और विष्णु तीनों देवों ने भाग लिया और उसकी परम्परा जीवित रखने में सूर्यवंश, चन्द्रवंश, पूरुवंश, यदुवंश के राजाओं एवं भरद्वाज, द्रोण, कृपाचार्य आदि क्षत्र-ब्राह्मणों ने भाग लिया और अन्त में वह तलवार युधिष्ठिर के हाथ में आयी, जिससे धर्मराज्य की स्थापना हुई।

राजधर्म प्रकरण का लगभग अन्त करते हुए एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठाया गया कि त्रिवर्ग में कौन छोटा और कौन बड़ा है? (अ० १६१) इस पर भीष्म चुप रहे, पर विदुर ने धर्म को त्रिवर्ग में श्रेष्ठ बताया। धर्म से ऋषियों ने इस लोक को पार किया। धर्म में ही यह लोक प्रतिष्ठित है। धर्म से देवताओं ने स्वर्ग पाया। धर्म में ही अर्थ भी संनिविष्ट है। धर्म को मनीषी श्रेष्ठ, अर्थ को मध्यम और काम को अधम कहते हैं।

इसके बाद अर्जुन ने अर्थ की प्रशंसा की। यह भूमि कर्मभूमि है, यहाँ वार्ता या अर्थशास्त्र प्रशंसनीय है (कर्मभूमिरियं राजन् इह वार्ता प्रशस्यते)। कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और विविध शिल्प ये सब अर्थ के अधीन हैं। बिना अर्थ के धर्म, काम नहीं हो सकते। विजयी अर्थवान् व्यक्ति ही धर्म की आराधना कर सकता है। वही काम का उपभोग भी कर सकता है। धर्म और काम दोनों अर्थ के अवयव हैं। अर्थ सिद्धि से दोनों की पूर्ति होती है। अर्थसंपन्न व्यक्ति की लोग ब्रह्मा की तरह पूजा करते हैं। लोग अपने-अपने रास्ते पर चलते हैं। कोई अर्थ चाहते हैं, कोई स्वर्ग।

अर्जुन की बात का नकुल और सहदेव ने भी समर्थन किया। तब

भीम बोले कि मेरी सम्मत्ति में काम त्रिवर्ग में सबसे बड़ा है। विना काम के कोई अर्थ नहीं चाहता। विना काम के कोई धर्म की इच्छा नहीं करता। काम से ही युक्त होकर ऋषि तपस्या में लगे कि इससे स्वर्ग के भोग से सुखी होंगे। काम से संयुक्त मनुष्य स्वाध्याय करते हैं, यज्ञ, दान करते हैं एवं समुद्र यात्रा पर चले जाते हैं। काम के अनेक रूप हैं। सब कुछ काम का ही विस्तार है। न पहले कभी था, न है और न भविष्य में काम से बढ़कर कुछ होगा। काम ही धर्म, अर्थ का आश्रय है। जैसे दही से नवनीत निकलता है, वैसे ही धर्म और अर्थ का फल काम है। खली से तेल अच्छा है। मठ्ठे से घृत अच्छा है। काष्ठ से फूल और फल अच्छे हैं, वैसे ही धर्म, अर्थ से काम अच्छा है।

काम की चोट बड़ी गहरी होती है। सुन्दर स्त्रियों के रूप में काम का धावा होने पर कोई ठहर नहीं पाता। मेरी तो ऐसी सम्मति है, पर अच्छा तो यह है कि त्रिवर्ग का एक साथ संतुलित सेवन किया जाय। यह सुनकर युधिष्ठिर कहा, "शास्त्रों की राय अलग-अलग है। मैं समझता हूँ कि जो धर्म, अर्थ, काम इन तीनों में नहीं फँसता, उसका जीवन अच्छा है—

यो वै न पापे निरतो न पुण्ये
नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे।
विमुक्तदोषः समलोष्टकाञ्चनः
स मुच्यते दुःखसुखार्थसिद्धेः॥ (१६१।४२)

पाप और पुण्य को, मिट्टी के ढेले और सोने को एवं धर्म, अर्थ और काम को एक सा समझने वाला व्यक्ति अच्छा है। पर उसे दोषों से रहित होना चाहिए। इसके बाद उन्होंने भीष्म की अर्थ युक्त वाणी की प्रशंसा की। (अ० १६२)

कृतघ्न की निन्दा

राजनीति शास्त्र के अन्त में एक ऐसे व्यक्ति के विषय में प्रश्न किया गया, जिसमें नीति और आचार के सभी दोष होते हैं और जो आगे-पीछे

गुप्त-प्रकट सभी तरह से हिंसा और प्रहार करता है। ऐसे व्यक्ति की राजनैतिक संज्ञा कृतघ्न है। कोई भी ऐसा दोष नहीं जो कृतघ्न में न पाया जाता हो। कृतघ्न के लक्षण विस्तार से कहे गए हैं।

इसके विपरीत कुलीन, वाक्य-सम्पन्न, ज्ञान-विज्ञान में निपुण, मित्रज्ञ, कृतज्ञ, सर्वज्ञ, शोक-रहित, माधुर्ययुक्त, सत्यसंध, जितेन्द्रिय, व्यायामशील, रूपवान्, गुण-सम्पन्न, दोषविहीन, खेदरहित, यथाशक्ति कार्य करनेवाले, शास्त्रों के अर्थ में निपुण, कार्य-परायण, विश्वस्त, बन्धुवत्सल, मिट्टी और सोने को समान माननेवाले, अभिमान-रहित, स्वाम्यर्थपरायण—ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों से राजा को संधि करनी चाहिए और ढूँढ ढूँढ़कर उनका संग्रह करना चाहिए। सदा शास्त्रों पर आरूढ़ रहने वाला, जितक्रोध, बलवान्, रणप्रिय, क्षमायुक्त, शील-सम्पन्न पुरुष संधि के योग्य है।

अन्त में कृतघ्नता की चरम सीमा दिखाने के लिए एक कहानी कही गई। मध्य देश का कोई ब्राह्मण उत्तर दिशा में म्लेच्छों के देश में गया। वहाँ वह शबरों के ग्राम में बस गया। वहाँ दस्युराज से उसे धन और जीविका मिल गई। फिर कभी समुद्र की ओर जाने वाले एक सार्थ के साथ वह पूर्व दिशा में समुद्र के तट पर रहने वाले किसी दिव्य पक्षी के घर पहुँचा और उससे अपनी निर्धनता का हाल कहा। पक्षी ने उसे अपने मित्र एक महात्मा राक्षस के यहाँ भेज दिया और यह भी कहा कि राक्षस उसे बहुत धन देगा। ऐसा ही हुआ। उस धन को लेकर वह पक्षिराज के पास आया। वहाँ मार्ग में भोजन के लिए मांस की लिप्सा से उसने पक्षिराज को भी मार डाला। अपने मित्र का वध सुनकर राक्षस को बहुत दुःख हुआ और उसने ब्राह्मण के बहुत से टुकड़े करवा कर उसका मांस दस्युओं को दे दिया। पर दस्युओं ने कृतघ्न का मांस नहीं खाया तथा कीड़ों ने भी उसे नहीं छुआ। तब देवों की गौ सुरभि के फेन से पक्षिराज जीवित हो गए और उनके कहने से देवराज इन्द्र ने ब्राह्मण को भी अमृत छिड़क कर जीवित कर दिया। पक्षीराज ने वह सुवर्ण और धन उस कृतघ्न ब्राह्मण देकर उसे उसके घर भेज दिया। इस कहानी में कृतघ्न व्यक्ति के

पाप की पराकाष्ठा दिखाई गई है। इस प्रकार राजधर्म से संबंधित आपद्-धर्म का प्रकरण समाप्त हुआ।

जो लोभी, क्रूर, धर्मत्यागी, कपटी, शठ, क्षुद्र, पापाचारी, सब पर सन्देह करने वाला, आलसी, दीर्घसूत्री, कुटिल, निन्दित, गुरुपत्नीगामी, संकट के समय साथ छोड़कर चल देने वाला, दुरात्मा, निर्लज्ज, सब ओर पाप पूर्ण दृष्टि डालने वाला, नास्तिक, वेदों की निन्दा करने वाला, इन्द्रियों को खुला छोड़कर जगत् में इच्छानुसार विचरने वाला, झूठा, सबके द्वेष का पात्र, अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर न रहने वाला, चुगलखोर, अपवित्र बुद्धि वाला, ईर्ष्यालु, पापपूर्ण विचार रखने वाला, दुष्ट स्वभाव वाला, मन को वश में न रखने वाला, नृशंस, धूर्त, मित्रों की बुराई करने वाला, सदा दूसरों के धन को लेने की इच्छा रखनेवाला, यथाशक्ति देने वाले पर भी संतुष्ट न रहने वाला, मन्दबुद्धि, मित्र को भी सदा धैर्य से विचलित करने वाला, असावधान, बेमौके क्रोध करने वाला, अकस्मात् विरोधी होकर कल्याणकारी सुहृदों को भी त्याग देने वाला, अनजान में थोड़ा-सा भी अपराध बन जाने पर मित्र का अनिष्ट करनेवाला, पापी, अपना काम बनाने के लिए ही मित्रों से मेल रखने वाला, वास्तव में मित्रद्वेषी, मुख से मित्रता की बातें करके भीतर से शत्रु भाव रखने वाला, कुटिल दृष्टि से देखनेवाला, विपरीतदर्शी, भलाई से कभी पीछे न हटने वाले मित्र को भी त्याग देने वाला, शराबी, द्वेषी, क्रोधी, निर्दयी, क्रूर, दूसरों को सताने वाला, मित्र-द्रोही, प्राणियों की हिंसा में तत्पर रहने वाला, कृतघ्न तथा नीच हो, संसार में ऐसे मनुष्य के साथ कभी सन्धि नहीं करनी चाहिए।

[शान्तिपर्व का आपद्धर्म पर्व समाप्त हुआ]

: ८५ :

मोक्षधर्म पर्व

(अ० १६८–३५३)

मोक्षधर्म का अर्थ और विभिन्न दृष्टियां

शान्तिपर्व का तीसरा भाग मोक्षधर्म पर्व के नाम से प्रसिद्ध है। यह परिमाण में राजधर्म और आपद्धर्म को मिलाकर दोनों से बड़ा है। यह शान्तिपर्व का हीरक है। इसके १८६ अध्यायों में धर्म और दर्शन की सामग्री का अपरिमित भण्डार है। उसके तीन स्तर हैं। पहले स्तर में कई नास्तिक मतों का उल्लेख है, जिनका वर्णन बौद्ध साहित्य में मिलता है, जैसे नियतिवाद, अक्रियावाद। इसी के साथ ब्रह्ममूलक आस्तिक दर्शन का भी विस्तार से विवेचन है। दूसरे स्तर के कितने ही अध्यायों में सांख्य और योग, इन दो दर्शनों का वर्णन है। तीसरे में पञ्चरात्र, भागवत या नारायण-धर्म का वर्णन है। (अ० ३२१–३५३)

उस युग की शैली यह थी कि अनेक आचार्य मोक्ष-प्राप्ति के लिये अपना-अपना मत प्रकट करते थे और अपने शिष्यों में उसका प्रचार करते थे। उनका तथाकथित उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति था। इसीलिए उन्हें मोक्ष-धर्म शीर्षक के अन्दर संगृहीत किया गया है। मोक्ष की ही संज्ञा परम गति थी। यह उल्लेखनीय है कि पाणिनि ने इन मतों का वर्गीकरण करते हुए इन्हें आस्तिक, नास्तिक और दैष्टिक (=नियतिवाद) मति कहा है। मति को ही दृष्टि या दिट्ठि कहा जाता था। दृष्टि का अर्थ दृष्टिकोण अर्थात् मोक्ष या जीवन के विषय में एक अभिमत या ज्ञापन है। यह भी स्मरणीय है कि इस प्रकार के सैकड़ों मत थे और उनमें परस्पर आदान-प्रदान भी खूब रहता था। अतः एक-एक आचार्य की दृष्टि के अन्तर्गत एक मुख्य मत के अतिरिक्त कई अवान्तर मतों का संस्पर्श भी रहता था।

इन सिद्धान्तों में से कुछ के बारे में नीचे बताया जा रहा है।

लोकपर्याय वाद

लोक में सब घटनाएं बारी-बारी से होती हैं। यही लोकपर्याय

वृत्तान्त है, जिसे हम अपने चारों ओर घटित होता हुआ देखते हैं। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आता है। हम देखते हैं कि कोई दुःख में फंसा है और कोई सुख में लाहालोट हो रहा है, पर इसका कोई निश्चित कारण नहीं बताया जा सकता। आत्मा भी अपना नहीं है और कभी हो भी सकता है। ऐसे ही सारी पृथ्वी कभी अपनी होती है, कभी दूसरे की। बुद्धि, तप, समाधि, ज्ञान, श्रुत इन्हें प्राप्त करके भी विवाद या दुःख हो सकता है। इस प्रकार की बुद्धि रखने से मुझे न हर्ष होता है, न शोक। मैं मानता हूं कि इस जीवन में संयोग और वियोग, संचय और व्यय दोनों अवश्यंभावी हैं। जैसे पानी में तैरते दो काठ मिलकर अलग हो जाते हैं, वैसे ही प्राणी मिलते हैं और विछुड़ते हैं। इसलिये पुत्र-पौत्र, बन्धु-बान्धवों से स्नेह नहीं करना चाहिए, क्योंकि एक-न-एक दिन उनसे अलग होना पड़ेगा। यह जीव किसी अदृष्ट स्रोत से आया है और अदृष्ट में ही जा मिलेगा।[1]

हम देखते हैं कि सुख-दुःख-समत्व, हर्ष-शोक-समत्व और अव्यक्त आदि के जो सिद्धान्त गीता में हैं, वे लगभग यही हैं। तृष्णा से दुःख होता

---

१. हृष्यन्तमवसीदन्तं सुखदुःखविपर्यये।
आत्मानमनुशोचामि यो ममेष हृदि स्थितः॥
आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम ॥१३॥
यथा मम तथान्येषामिति बुद्ध्या न मे व्यथा।
एतां बुद्धिमहं प्राप्य न प्रहृष्ये न च व्यथे ॥१४॥
यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेतायां तद्वद् भूतसमागमः ॥१५॥
एवं पुत्रपौत्राश्च ज्ञातयो बान्धवास्तथा।
तेषु स्नेहो न कर्तव्यो विप्रयोगो हि तै ध्रुवम् ॥१६॥
अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।
न त्वासौ वेद न त्वं तं कः सन्कमनुशोचसि ॥१७॥

है। इससे सूचित होता है कि तृष्णा को दुःख मानने का मत भी इसके साथ था, जिसे बुद्ध ने स्वीकार किया।

यहां आगे कहा गया है, सुखके अनन्तर दुःख और दुःख के अनन्तर सुख आता है। न नित्य कोई व्यक्ति सुखी देखा जाता है, न नित्य दुःखी ही। मित्रों से सदा सुख और शत्रुओं से सदा दुःख नहीं होता। प्रज्ञा से सब अर्थ मिल जाय और धन से सुख मिल जाय, यह भी निश्चित नहीं है।[1] ऐसा जान पड़ता है, यहाँ इस मत में प्रज्ञावाद पर भी एक हलकी चोट की गई है। इस मत के अनुयायी प्रज्ञा के लिए कुछ आस्था रखते थे, पर उसको भी लोक के घूमते हुए पहिये के अनुसार ही स्थान देते थे। प्रज्ञा कभी काम बनाती है, कभी नहीं। बुद्धि से धन मिलता है और मूर्खता से दरिद्रता ही, यह भी निश्चित तथ्य नहीं है। इसे तो लोकपर्याय ही कहा जा सकता है। ज्ञात होता है यह लोकपर्याय कालपर्याय का ही एक पुछल्ला था, जिसके दृष्टान्त लोक जीवन में भरे पड़े हैं। हो सकता है, इसके प्रतिपादन में लोकायत आचार्यों का भी कुछ हाथ हो। जो होने वाला सुख है, वह बुद्धिमान् और मूढ को, शूर और कायर को, जड़ और कवि को, दुर्बल और बलवान् को स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। बछड़ा, ग्वाला, स्वामी, ये चारों गाय को अपनी मानते हैं, पर जो उसका दूध पीये, गाय उसीकी हैं। ऐसे ही जीवन में सुख-संपत्ति की

---

१. सुखात्संजायते दुःखमेवमेतत्पुनः पुनः।
सुखस्यान्तरं दुःखं दुःखस्यान्तरं सुखम् ॥१८॥
सुखात्त्वं दुःखमापन्नः पुनरापत्स्यसे सुखम्।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥१९॥
नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः।
न च प्रज्ञालमर्थानां न सुखानामलं धनम् ॥२०॥
न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥२१॥

सामग्री है। जो बहुत मूढ हैं, वे सुखी रहते हैं। जो बहुत बुद्धिमान् हैं, वे भी सुखी हैं।[1] लेकिन जो बीच में हैं, उन्हें दुःख व्याप्तता है। मूढ सदा मौज करते हैं, जैसे देवता स्वर्ग में। हृदय का अपराजित भाव इस मत की विशेषता थी। दुःख हो या सुख, हर्ष या शक्ति हो, मनुष्य को चाहिए कि अपने हृदय का अपराजित भाव न खोये और जो परिस्थिति आवे उसका सामना करे।[2] इसी मत के साथ तृष्णाक्षय का भी सिद्धान्त था। तृष्णाक्षय से महत् दिव्य सुख या मोक्ष की प्राप्ति होती है। पूर्व जन्म का किया हुआ कर्म इस जन्म में अवश्य फल देता है और उसी से सुख-दुःख और प्रिय-अप्रिय प्रसंग आते हैं। जब व्यक्ति कछुए के समान इन्द्रियों को विषयों से समेट लेता है, तब वह आत्मज्योति आत्माराम बन जाता है। ममत्व परिताप का कारण है। जब वह किसी से भय नहीं करता और लोग उससे भय नहीं करते, जब वह इच्छा और द्वेष नहीं करता, तब ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को प्रशान्तात्मा कहते हैं।[3]

---

१. बुद्धिमन्तं च मूढं च शूरं भीरुं जडं कविम्।
दुर्बलं बलवन्तं च भागिनं भजते सुखम् ॥२२॥
धेनुर्वत्सस्य गोपस्य स्वामिनस्तस्करस्य च।
पयः पिबति यस्तस्या धेनुस्तस्येति निश्चयः ॥२३॥
ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः।
ते नराः सुखमेधन्ते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥२४॥

२. सुखं वा यदि वा दुःखं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥३०॥

३. यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥३६॥
पूर्वदेहकृतं कर्म शुभं वा यदि वाशुभम्।
प्राज्ञं मूढं तथा शूरं भजते यादृशं कृतम् ॥३७॥
एवमेव किलैतानि प्रियाण्येवाप्रियाणि च।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥३८॥

ज्ञात होता है कि लोक-पर्याय मत के अन्तर्गत कई अवान्तर मत थे। उन्हीं में तृष्णाक्षय और मन को सब ओर से आशारहित करने या नैराश्य का मत भी था। पिंगला वेश्या ने अपने आप को इसका दृष्टान्त बताया था! निराश व्यक्ति सुख से सोता है, नैराश्य परम सुख है। आशा को अनाशा बनाकर पिङ्गला सुख से सोती थी। (अ० १६८)

मृत्यु और अमृत का दृष्टिकोण
(अ० १६९)

इस जीवन में सबसे बड़ी घटना मृत्यु है। वह आती है और बाघ की तरह उठा ले जाती है।[1] जरा और व्याधि का अन्त मृत्यु में होता है। उससे बचने के लिए अमृत की साधना ही एक मात्र उपाय है। अमृत की साधना ही जीवन का परम फल हैं। मृत्यु के निश्चित होने से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि कल का काम आज करे और तीसरे पहर का प्रातः काल करले, क्यों कि मृत्यु किसी की बाट नहीं देखती। मृत्यु और अमृत दोनों इसी मानव-देह में देखे जाते हैं। मोह से मृत्यु और सत्य से अमृत की प्राप्ति होती है।[2] बौद्ध लोग भी जरा, रोग और मृत्यु इन तीनों भयों से सावधान करके निर्वाण सुख की प्राप्ति का उपदेश देते थे। वस्तुतः अमृत-मृत्युवाद वैदिक सिद्धान्त था। देवता मृत्यु से ऊपर उठकर

यदा संहरते कामान्कर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
तदात्मज्योतिरात्मा च आत्मन्येव प्रसीदति ॥४०॥
किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम्।
तदेव परितापार्थं सर्वं संपद्यते तदा ॥४१॥
न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म संपद्यते तदा ॥४२॥

१. व्याघ्रः पशुमिवादाय मृत्युरादाय गच्छति ॥१८॥
२. अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।
मृत्युमापद्यते मोहात्सत्येनापद्यतेऽमृतम् ॥२८॥

अमर हो गये हैं। मानव को भी सत्य और यज्ञ, ब्रह्मचर्य और संयम से अमर बनना चाहिऐ। उसी प्राचीन बीज से इस दृष्टिकोण का जन्म हुआ था। इस दिट्ठि या मत के साथ किसी का विवाद न था। उद्योगपर्व (अ० ४२।४) में सनत्सुजात ने भी इस दृष्टिकोण को माना है। वहां प्रमाद को मृत्यु और अप्रमाद को अमृत का पद माना गया है, जैसा धम्मपद के अप्रमाद वग्ग की पहली गाथा में आया है। जिसकी वाणी और मन संयत रहते हैं, जो तप, त्याग और योग में निरत रहता है, वह सब कुछ या अमृत पद पा लेता है।

आकिंचन्य मत

(अ० १७०)

आकिंचन्य का अर्थ है, सब प्रकार अकिंचन बन जाना। पालि में इसे आकिञ्चञ्ञ कहा गया है। जब मनुष्य का मन संसार के सब पदार्थों से अपने को खींच लेता है, तब उसे आकिंचन्य व्रतधारी कहा जाता है। वानप्रस्थ और संन्यासियों के लिए यह जीवन का एक प्रकार था। इसके लिए व्यक्ति को अकामात्मा बनना चाहिए।[1]

अकिंचन वृत्ति धारण करने से मनुष्य सुख पाता है। अकिंचन सुख से सोता और सुख से जागता है। लोक में आकिंचन्य हितकर, सुखकर और अनामय प्रकार है। मेरी दृष्टि में शुद्ध आकिंचन्य के समान तीनों लोकों में और कुछ नहीं है। आकिंचन्य और राज्य को पलड़ों में रखकर तोला गया तो आकिंचन्य ही भारी निकला।[2] यहां स्पष्ट रूप से उसे दारिद्रता कहा गया

---

१. न वै चरसि यच्छ्रेय आत्मनो वा यदीहसे।
अकामात्मापि हि सदा धुरमुद्यम्य चैवहि ॥ ६ ॥

२. अकिंचनः परिपतन्सुखमास्वादयिष्यसि।
अकिंचनः सुखं शेते समुत्तिष्ठति चैव हि ॥ ७ ॥
आकिंचन्यं सुखं लोके पथ्यं शिवमनामयम्।
अनमित्रमथो ह्येतद्दुर्लभं सुलभं सताम् ॥ ८ ॥

है, पर वह अपनी इच्छा से चुनी गई दरिद्रता है, विवशता से आई हुई निर्धनता नहीं। आकिंचन्य का मूल अपरिग्रह व्रत था। राजा के लिए तो धन का नाश या मृत्यु भी संभव है, पर अकिंचन के लिए कोई भय या क्लेश नहीं होता। जो अपनी भुजा का तकिया बनाकर बिना बिछावन के सोता है, स्वर्ग के देवता भी उससे सिहाते हैं। आकिंचन्य धर्म का मूल त्याग कहा गया है, जो यथार्थ है। शम्याक नामक ब्राह्मण का त्यागमूलक आकिंचन्य के विषय में ऐसा मत था।

नियतिवाद
(अ० १७१)

अध्याय १७१ में मङ्कि ऋषि के नियतिवाद का विस्तार से वर्णन है। मङ्कि को ही बौद्ध और जैन ग्रन्थों में मंखलि गोसाल कहा है। पाणिनि ने इन्हें मस्करी कहा है। नियति को दिष्टवाद भी कहा जाता था, जिसे पाणिनि ने दैष्टिक मत कहा है। दिष्ट का सीधा अर्थ था भाग्य। 'दिष्टया वर्धते भवान्' इस प्राचीन उक्ति में वही दिष्टि शब्द है। दैष्टिक आचार्य पुरुषार्थ के विरोधी थे। वे भाग्य को ही सब कुछ मानते थे। पतंजलि ने मस्करी शब्द की व्याख्या इसी प्रकार की है—मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः (६।१।१५४)। निर्वेद या शम या शान्ति का सिद्धान्त इस दर्शन में मुख्य था। बौद्ध और जैन साहित्य में मंखलि के मत का वर्णन है, किन्तु शान्तिपर्व के इस अध्याय में वह कहीं अधिक विस्तार से पाया जाता है। यहां कहा गया है कि इस दर्शन के पाँच सिद्धान्त मुख्य थे, अर्थात्

१. सर्वसाम्य—सब अवस्थाओं में समत्व,

अकिंचनस्य शुद्धस्य उपपन्नस्य सर्वशः।
अवेक्षमाणस्त्रींल्लोकान्न तुल्यमुपलक्षये ॥ ९ ॥
आकिंचन्यं च राज्यं च तुलया समतोलयम्।
अत्यरिच्यत दारिद्र्यं राज्यादपि गुणाधिकम् ॥१०॥

२. अनायास—सब प्रकार के पुरुषार्थ का निराकरण,

३. सत्य वाक्य,

४. निर्वेद—शम या शान्ति,

५. अविवित्सा—अलोभ या अलिप्सा।

अथवा किसी वस्तु को पाने की इच्छा न करना और अपने को आकिंचन्य मनोवृत्ति में डाल लेना।[1]

कहानी है कि एक बार मंङ्कि ऋषि ने खेती करने के लिए दो बैल खरीदे। उन्हें देख कर मार्ग में बैठा हुआ ऊंट भड़क गया और उन्हें टाँग कर भाग निकला। इससे बिलख कर मङ्कि ने कहा—शुद्धं हि दैवमेवेदमतो नैवास्ति पौरुषम्। केवल दैव ही सब कुछ है, हठपूर्वक किए पुरुषार्थ से कोई लाभ नहीं।

जो सुख चाहे, उसे निर्वेद की साधना करनी चाहिए। जिसके पास निर्वेद है, वह सुख से सोता है। अर्थ-साधन के प्रति निराश व्यक्ति और निर्वेद-प्राप्त व्यक्ति सुख से सोता है।[2]

जनक के राजमहल से वन की ओर प्रस्थान करते हुए शुकदेव ने ठीक कहा था। जो सब कामों को प्राप्त कर ले या जो सब कामों को छोड़ दे, उन दोनों में त्यागी बड़ा है। जितने लोभ हैं, उनका पार पहले कोई नहीं पा सका। शरीर के रहते मन्द पुरुष की तृष्णा बढ़ती रहती है। सब विवित्सा या लिप्साओं से मनको हटाकर शम और निर्वेद में लगाना चाहिए। कितनी ही बार लिप्सा ने तुझे ठगा है, फिर भी निर्वेद नहीं प्राप्त करता?

---

१. सर्वसाम्यमनायासः सत्यवाक्यं च भारत।
निर्वेदश्चाविवित्सा च यस्य स्यात्स सुखी नरः॥ २॥
एतान्येव पदान्याहुः पञ्च वृद्धाः प्रशान्तये।
एष स्वर्गश्च धर्मश्च सुखं चानुत्तमं सताम्॥ ३॥

२. तस्मान्निर्वेद एवेह गन्तव्यः सुखमीप्सिता।
सुखं स्वपिति निर्विण्णोनिराशश्चार्थसाधने॥१४॥

व्यक्ति को वित्तकामुक होकर लोभयुक्त नहीं होना चाहिए। पूर्व के और बाद के लोग कामनाओं का अन्त नहीं पा सके।[1] मैं सब कार्यों का त्याग करके अब प्रतिबुद्ध हो गया हूं। हे काम, मुझे ज्ञात है कि तुम संकल्प से उगते हो। मैं अब संकल्प न करूंगा, तो तुम्हारा मूल नष्ट हो जायगा। हे काम, पाताल के समान तुम्हारा गड्ढा भरना कठिन है। अब मैं क्षमाहीन को क्षमा करूंगा और हिंसकों के प्रति अहिंसा बरतूंगा। द्वेषरहित होकर अप्रियों के लिए भी प्रिय वचन कहूंगा। अब मैंने निर्वेद, निर्वृति, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा एवं सर्वभूतदया इन नियमों की शरण ले ली है।[2]

१. अहो सम्यक्शुकेनोक्तं सर्वतः परिमुच्यता।
प्रतिष्ठता महारण्यं जनकस्य निवेशनात् ॥१५॥
यः कामान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैनान्केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥१६॥
नान्तं सर्वविवित्सानां गतपूर्वोऽस्ति कश्चन।
शरीरे जीविते चैव तृष्णा मन्दस्य वर्धते ॥१७॥
निवर्तस्व विवित्साभ्यः शाम्यनिर्विद्य मामक।
असकृच्चासि निकृतो न च निर्विद्यसे तनो ॥१८॥
मा मां योजय लोभेन वृथा त्वं वित्तकामुक ॥१९॥
न पूर्वे नापरे जातु कामानामन्तमाप्नुवान्।
त्यक्त्वा सर्वसमारम्भान्प्रतिबुद्धोऽस्मि जागृमि ॥२२॥
२. काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि ॥२५॥
यही श्लोक बुद्ध के मुख से धम्मपद में कहलाया गया है। दे० तण्हावग्ग, धम्मपद ३३४-३५९।
पातालमिव दुष्पूरो मां दुःखैर्योक्तुमिच्छसि।
नाहमद्य समावेष्टुं शक्यः काम पुनस्त्वया ॥३९॥
क्षमिष्येऽक्षममाणानां न हिंसिष्ये च हिंसितः।
द्वेष्यमुक्तः प्रियं वक्ष्याम्यनादृत्य तदप्रियम् ॥४३॥

इससे स्पष्ट है कि इन सबका अन्तर्भाव मंखलि के निर्वेदमूलक धर्म में था। इन्हें ब्रह्मप्राप्ति का लक्षण माना जाता था।

अब मैं शान्त भाव से निर्वाण-सुख को प्राप्त हो गया हूँ। लोक में जितने काम सुख हैं, वे तृष्णाक्षय से उत्पन्न होने वाले सुख की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, अहंकार इन छह को वश में करके मेरा मन अब ऐसे सुखी है जैसे कोई यक्ष अपनी अमृत से घिरी ब्रह्मपुरी में सुखी होता है।

इस प्रकार के विचारों से मङ्कि को निर्वेद प्राप्त हुआ और सब कामों के त्याग से उसे ब्रह्म सुख प्राप्त हुआ। इस विषय में जनक का अनुभव भी प्रसिद्ध था—'मेरे पास यद्यपि अनन्त धन है, फिर भी मैं अकिंचन हूं। मेरा विश्वास है कि सारी मिथिला के भस्म हो जाने पर भी मेरा कुछ नहीं बिगड़ता।'

इस विषय में राजा नहुष के गुरु बोध्य ऋषि की शिक्षा का भी उल्लेख किया जाता था। महाभारत के अनुसार धृतराष्ट्र नियतिवादी थे और मत्स्य पुराण में नहुषपुत्र ययाति को नियतिवादी कहा गया है (मत्स्य पु० ४२।४, १२)। अतः यह समीचीन है कि ययाति ने अपने पिता के राजकुल में ही नियतिवाद की व्याख्या सुनी होगी। इसका निष्कर्ष यह ज्ञात होता है कि मंखलि गोसाल के समय के बहुत पहले से दिष्टिवादी दर्शन की परम्परा चली आती थी, जिसे मंखलि ने बहुत कुछ पल्लवित किया।

नहुष ने प्रश्न किया, "निर्वेद से शान्ति मिलती है, शान्ति से प्रज्ञा तृप्त हो जाती है, इसलिए शम का उपदेश दीजिये।" बोध्य ने कहा, "मेरा यही नियम है कि मैं किसी को कुछ आज्ञा नहीं देता, किन्तु मेरा जीवन ही उपदेश है। मैंने अपने लिए छह गुरु बनाये—पिङ्गला वेश्या, कुरई पक्षी, सर्प, सारङ्ग, इषुकार तथा धान कूटने वाली कुमारी। इनके कर्म को देखकर मुझे जो सीखना था मैंने सीख लिया।"

इस प्रकार मङ्कि ऋषि, शुकदेव और बोध्य के दृष्टान्तों से नियतिवाद नामक दिट्ठि या दार्शनिक सिद्धान्त का विवेचन किया गया है।

इन मतों का संयोग

श्वेताश्वतर उपनिषद् और मोक्षधर्म पर्व में इस प्रकार के अनेक उपदेष्टा आचार्य हैं। उनके लिए कई संज्ञाएं थीं, आचार्य, ऋषि, विप्र, ब्राह्मण, गणिन्, गणाचार्य, तपस्वी, प्राज्ञ, आदि। उनके मतों के लिए भी कई शब्द प्रयुक्त होते थे, जैसे मति, वाद, कारण, बुद्धि, प्रज्ञा, विद्या, मत, दिट्ठि या दृष्टि या धर्म, उपदेश, व्रत, आदि। उन सबका एक समान उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति था, किन्तु उसके मार्ग अलग-अलग थे। परम गति, महत सुख, दिव्य सुख, अमृत सुख, परिनिर्वाण, परम शान्ति ये सब समानार्थक हैं।

तीसरी उल्लेखनीय वात यह थी कि इन आचार्यों के जो विभिन्न मत थे, वे एकांगी न थे। इसका तात्पर्य यह है कि एक आचार्य अपने मत विशेष का प्रतिपादन करते हुए, दूसरे कई अवान्तर मतों को भी स्वीकार करता था और उनका उपदेश देता था। इस प्रकार का आदान-प्रदान कई मतों के संयोग से प्राप्त होता था। इस प्रकार उस युग में दार्शनिक मतों का एक ताना-वाना ही बुन गया था। सैकड़ों आचार्य और उनकी शताधिक मति या दिट्ठियां थीं। बौद्ध साहित्य में इसके लिए ब्रह्मजाल शब्द प्रयुक्त हुआ। वहां ब्रह्म का अर्थ, ज्ञान, मत या मोक्षधर्म है। ब्रह्मजाल सुत्त में अनेक दिट्ठियों का उल्लेख है। ऐसे ही उत्तराध्ययन सूत्र में २०० से अधिक दिट्ठियों का उल्लेख आया है।

यदि मोक्षधर्म पर्व की इस सामग्री का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय, तो हमें उनका परिचय प्राप्त हो सकता है। उदाहरण के लिए बुद्ध ने कर्म, प्रज्ञा, तृष्णाक्षय, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु आदि कितनी ही दिट्ठियों का उपदेश दिया है, जो उनके धर्म का अंग बन गई थीं।

इन दिट्ठियों का सबसे स्पष्ट उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में पाया जाता है। वह मोक्षधर्म पर्व की सामग्री को समझने की सबसे अच्छी कुंजी है! उसके अनुसार ये विभिन्न दृष्टिकोण इस प्रकार थे—

१. काल
२. लोकपर्याय
३. स्वभाव
४. नियति
५. यदृच्छा
६. भूत
७. योनि
८. पुरुष
९. (योनि और पुरुष का) संयोग
१०. आत्म या जीव
११. देव
१२. शक्ति और प्रकृति और उसके गुण।

यदि इस सूची का मोक्षधर्म की सामग्री से मिलान किया जाय, तो प्राचीन भारतीय दर्शन का एक विलुप्त दर्शन हाथ लग जाता है। उपनिषद् के लेखक ने स्वयं ही कह दिया है कि इन मतों का परस्पर संयोग भी उस युग के दर्शनिक चिन्तन की एक सच्चाई थी। इसकी स्पष्ट व्याख्या मोक्षधर्म से प्राप्त होती है।

उदाहरण के लिए कालवाद के अन्तर्गत और भी कई मत थे जिनका परस्पर समझौता हुआ था। कालवाद के मुख्य आचार्य व्यास जी थे। क़िन्तु उनके समान धर्म के आचार्य और उनके अनुयायी और भी कई अवान्तर मतों को स्वीकार करते थे, जैसे लोकपर्याय, सुख-दुःखपर्याय, तृष्णाक्षय, पूर्व देहकृत कर्म, इन्द्रिय दमन, ममत्व परित्याग, हर्ष, शोक, भयाभय, प्रियाप्रिय का परित्याग भी एक दिट्ठी ही थी। कर्मणा, मनसा, वाचा पाप का परित्याग, पिंगला की शान्ति, वुद्धि का दृष्टान्त (जिसके उदाहरण स्वरूप पिंगला का अनुभव इसी दिट्ठि में स्वीकार किया गया), अकामता, नैराश्यवाद, या नैराश्यमति। इस प्रकार कई-कई हेतु-मत प्रभासित तैरते हुए एक एक वाद या आचार्योपदेश के साथ जुड़ जाते थे। इस स्थिति का उल्लेख ऊपर अध्याय १६८ की व्याख्या में आया है। और अन्य अध्यायों में भी यह चरितार्थ होती है। इस प्रकार से मोक्षधर्म का अध्ययन शुष्क या नीरस विषय नहीं रह जाता है। किन्तु इसके द्वारा हम प्राचीन आश्रमों के सरस वातावरण में पहुंच जाते हैं, जहां आचार्य वक्ता और उनके अनेक शिष्य श्रोता थे।

अध्याय १६९ में कालवाद का विवेचन है। व्यास जी इस मत के प्रमुख उपदेष्टा थे। प्रज्ञादर्शन से इस दर्शन का मेल था। प्राज्ञ वह था, जो मोक्षधर्म में कुशल हो। अर्थात्, उसके अर्थों की स्पष्ट व्याख्या कर सके। प्रज्ञा दर्शन को तो प्रायः सभी आचार्य मानते थे। अध्याय १७३ में प्रज्ञा की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। लोकतत्त्व या लोक विधान या लोक धर्म का सर्वव्यापी आधार प्रज्ञा या समझ-बूझ है, जो जन-जन में पाई जाती है। इसी वाद के अन्तर्गत कुछ अवान्तर मत इस प्रकार थे। जन्म के साथ जरा और व्याधि तथा मृत्यु का संयोग, जीवन में मृत्यु के भय से बचने के लिए अमृत प्राप्ति की आवश्यकता, चार आश्रमों के अनुसार जीवन, दीर्घसूत्रता का त्याग एवं तात्कालिक कर्म संपादन, मृत्यु का अनिवार्य आक्रमण, देह की देवगोष्ठ के रूप में कल्पना, अरण्य निवास या मुनिवृत्ति, जीवन के प्रति उदासीनता, सत्य के मार्ग से अमृत प्राप्ति, शान्ति या शम का दृष्टिकोण, ब्रह्मयज्ञ निरत मुनिजीवन (तु० ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः), त्याग और आत्मनिष्ठ धर्म, क्रिया या कर्म का उपरम, इत्यादि।

अध्याय १७० में जिस आकिञ्चन्य या मोक्ष मार्ग का वर्णन किया गया है, उसकी व्याख्या बहुत आकर्षक थी। उसके पहल या कोण और कई अविरोधी दिट्ठियों से मिले हुए थे, जैसे आकिञ्चन्यवादी आचार्य सुख-दुःख-पर्याय, अकामता, या निःस्पृहता या अनीहा का मत स्वीकार करते थे। उनका कहना था कि आकिञ्चन्य से मृत्यु का निराकरण होता है। त्याग द्वारा परम सुख या मोक्ष की प्राप्ति संभव है (इसी की एक धारा अध्याय १६८ के लोकपर्यायवाद में है)। अकिञ्चनत्व की चरम सीमा दिगम्बर व्रत में देखी जाती है।

अध्याय १७१ में जिस दार्शनिक मत का वर्णन है, वह श्वेताश्वतर सूची का नियतिवाद था। इसे दैष्टिक मत भी कहते थे। उसमें कई अवान्तर मतों का अन्तर्भाव हो गया था, जैसे शुद्ध दैववाद या भाग्यवाद, पौरुष या पुरुषार्थ का निराकरण, निर्वेद का दृष्टिकोण, अलोभी या अलिप्सा, धनेहा का परित्याग, अनासक्तिभाव, अकामता, सुख-दुःख-पर्याय, यदृच्छा-

वाद, निर्वृत्ति, तृप्ति, शान्ति या शम, सत्य, क्षमा और सर्वभूतदया, केवल सुख (परिनिर्वाण), तृष्णाक्षय सुख, तु० लोकपर्याय (अ० १६८)। मंकि के निर्वेद सिद्धान्त और जनक के आकिञ्चन्य सिद्धान्त को नियतिवाद का अंग माना गया। बोध्य ऋषि का निर्वेद के विषय में जो मत था वह इस दिट्ठी का अंग बन गया। बोध्य ऋषि की प्रज्ञा या दिट्ठी सममूलक थी और उसमें निर्वेद की भी स्वीकृति थी। बोध्य ऋषि के छह गुरु और इसके दृष्टान्त भी उल्लेखनीय हैं।

स्वभाववाद

उपनिषद् की मत सूची में स्वभाववाद का उल्लेख है, जिसका विशद वर्णन मोक्षधर्म, अध्याय १७२ में आया है। इनके अनुसार संयोग और वियोग, संचय और विनाश, ये स्वभाव से होते हैं, जैसे काल और लोक अपने स्वभाव से हैं। स्वभाव की ही व्याख्या कालपर्याय और लोकपर्याय में कही गई है। भूतवाद और यदृच्छावाद का भी इस मत से घनिष्ठ संबंध था। पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों से यह भौतिक विश्व और शरीर बना है। इनके अतिरिक्त यहां जीव जैसा चैतन्य तत्त्व नहीं है। स्वभाववादी भौतिकवादी जान पड़ते हैं। यदृच्छावाद की झलक भी इस मत में थी। इस विश्व में कोई कार्य-करण का नियम नहीं है। अकारण जो स्वेच्छा से घटित हो जाय वही ठीक है।

इस दिट्ठि का सबसे सटीक दृष्टान्त आजगर व्रत के रूप में प्रचलित था। इसके ११ श्लोक यहाँ दिये हैं, जिसे प्राचीन भारत का दासमलूका गीत कहा जा सकता है। इसे आजगरव्रतचरित, अर्थात् अजगर जैसी वृत्ति का रहन-सहन कहा गया है। स्वभाववाद के अन्तर्गत आजगरी दिट्ठी के कुछ लक्षण इस प्रकार थे। इसमें यदृच्छा से प्राप्त अल्प या बहुत भोजन से संतोष, पर्यङ्क या भूमि के शयन में समत्व, शाण या क्षौम वस्त्र की समानता, प्रासाद और अरण्यवास में समत्व, भय, कषाय, लोक-मोह से रहित होना और अशोक वृत्ति युक्त चित्त भी उचित था। हृदय के सुख-दुःख और धन-तृष्णा का परित्याग, सुख, असुख, अनर्थ, अर्थलाभ, रति, अरति,

मरण और जीवन ये सभी स्वभाव या विधि-विधान के अटल नियम से घटित होते हैं। भय, राग, मोह, दर्प से रहित होना, धृति, बुद्धि और शांति से युक्त होना, अनियत शयनासन, दम, नियम, व्रत, सत्य, शौच, अनियत मन का संयम, प्रिय सुख की दुर्लभता और अनित्यता, रोष और तृष्णा का त्याग, स्व-पर मत का विचार—ये इसके अवान्तर मत हैं।

: ८६ :

अवान्तर दृष्टियां

प्रज्ञादर्शन

इन मतों में प्रज्ञादर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उद्योगपर्व में विदुर-नीति प्रज्ञादर्शन का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अन्यत्र भी उसका छिट-फुट वर्णन आया है। वस्तुतः ये सभी आचार प्राज्ञ या धीर, विचरण या कुशल के कहे जाते थे। अध्याय १७३ में युधिष्ठिर ने स्पष्ट प्रश्न किया कि बन्धु-बान्धव, कर्म, धन, और प्रज्ञा इन सब में मनुष्य की प्रतिष्ठा का कारण क्या है ? जैसा स्पष्ट प्रश्न है, वैसा ही उत्तर भी दिया गया है—

प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां प्रज्ञा लाभः परो मतः।
प्रज्ञा नैःश्रेयसी लोके प्रज्ञा स्वर्गो मतः सताम् ॥ (१७३।१)

प्रज्ञा से लोक में भूतों को सम्मान मिलता है। प्रज्ञा परम लाभ माना गया है। प्रज्ञा मोक्षदायिनी है। जब बलि का ऐश्वर्य जाता रहा, तब प्रज्ञा ने ही उसका साथ दिया। प्रह्लाद, नमुचि और मंकि प्रज्ञा के दृष्टान्त माने जाते थे।[1] इससे सिद्ध है कि मंकि का नियतिवाद और प्रज्ञा-दर्शन इन दोनों में घनिष्ठ मेल था। जैसा हमने ऊपर कहा, प्रज्ञादर्शन को

१. प्रज्ञया प्रापितार्थो हि बलिरैश्वर्यसंक्षये।
प्रह्लादो नमुचिर्मङ्किस्तस्याः किं विद्यते परम् ॥१७३।३॥

समझौता अन्य सब मतों से हो जाता है। प्रज्ञावादी आचार्य मनुष्य योनि को श्रेष्ठ मानते थे। अध्याय १७३ से स्पष्ट है कि प्रज्ञावाद और योनिवाद इन दोनों का संयोग था। इन्द्र ने शृगाल का रूप रखकर इसी मत का प्रतिपादन किया कि सब योनियों में मनुष्य योनि उत्तम है। इस मत का भी कोई विरोधी न था। योनिवाद कर पृथक् उल्लेख श्वेताश्वतर की सूची में किया गया है। संभवतः शृगालोवाद सुत्तन्त का भी यही अभिप्राय था। संखपाल जातक में नागराज संखपाल ने भी मनुष्य योनि की प्रशंसा की है और काम-भोगों को अशाश्वत बताया है। उसका यह व्रत आजगर-व्रत से मिलता है।

प्रज्ञादर्शन के अन्तर्गत जीवन में धनोपार्जन का महत्त्व माना जाता था। धन के विना सांसारिक स्थिति नहीं बनती। अतः संसारिणी प्रज्ञा वही है, जो सत्य के मार्ग से उचित धन-संग्रह करे। इसी दृष्टि का आवश्यक परिणाम पाणिवाद मत था। देव के दी हुई दस अंगुलियां कर्म करने के लिए हैं। कहा है—

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः।
पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य वै।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते।
अपाणित्वाद्वयं ब्रह्मन् कण्टकान्नोद्धरामहे ॥ (१७३।१०-११)

इस लोक में जिनके हाथ हैं, उनके पास सफलता है। जैसे तुम धन चाहते हो, वैसे मैं उन्हें चाहता हूं जो हाथ वाले हैं। पाणिलाभ से बढ़कर कोई लाभ नहीं है। विना हाथ के तो चुभा हुआ काँटा भी नहीं निकाला जा सकता।

प्रिय वस्तु का लाभ पाणिवाद का अंग था और इस दर्शन में तृष्णा का भी उचित स्थान था। ये आचार्य सुख-दुःखपर्याय को भी मानते थे। इन्द्रिय संयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्र, दम, दान, स्पर्धिष्ठा या स्पर्धा का अभाव यजन, याजन ये एक ही मत के विशेष गुण थे।

इस मत के अन्तर्गत पाप योनि, पुण्य योनि, शृगाल योनि, मनुष्य योनि, विप्र योनि आदि अनेक योनियों के तारतम्य पर विचार किया जाता था।

इनसे यहां न कोई सुख है न दुःख है। जन्म से प्राप्त योनि दुःख-सुख का कारण है। मनुष्य धनी होकर राज्य चाहते हैं, राजा होकर देवत्व चाहते हैं और देवता बन कर इन्द्र का पद चाहने लगते हैं। सुख-दुःख जो आ पड़े उसे सहना चाहिए। उसकी शिकायत करना ठीक नहीं है। इन्द्रियों को ऐसे रोको जैसे पक्षी को पिंजड़े में। इन्द्रियों को वश में करना ही सबसे बड़ी प्रज्ञा है।

पुराकृत कर्म की महिमा

पूर्व जन्म में किये हुए कर्म इस जन्म में फल देते हैं, सुख-दुःख उन्हीं के परिणाम हैं। इसे ही लोक-पर्याय-विधान कहते हैं। पौर्वदेहिक कर्मों से सुख-दुःख का भोग मिलता है। यह भी दृढ़ मान्यता थी कि पूर्व कर्मों का संशोधन अनशन या उपवास से किया जा सकता है—

समुन्नमग्रतो वस्त्रं पश्चाच्छुध्यति कर्मणा।
उपवासैः प्रतप्तानां दीर्घं सुखमनन्तकम्॥ (१७४।१७)

उपवास ही ऐसा तप है, जिससे पाप कर्मों का मैल धुल जाता है।

: ८७ :

सृष्टि और प्रलय

अध्याय १७५ में सृष्टि और प्रलय का प्रश्न उठाया गया है। लोकों का निर्माण पद्मसृष्टि से हुआ है। इसी पुष्पक पर बैठकर ब्रह्मा महत् तत्त्व, अहंकार और पंचभूतों की रचना करते हैं। यही वैदिक मत है। इसी प्रसंग में विराट रूप का भी वर्णन किया गया है। इसका आरम्भ ऋग्वेद के पुरुष सूक्त से हुआ है और कालान्तर के साहित्य में अनेक प्रकार से

इसका वर्णन पाया जाता है। इसी मत में भूपद्म की कर्णिका से मेरु का विकास बताया गया है, जिसका वर्णन पुराणों में पल्लवित किया गया है। उसके चार तटान्तों से चतुर्विध सृष्टि का जन्म हुआ।

अध्याय १७६ में पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच तत्त्वों से विश्व की रचना का वर्णन है। इसके मूल में वैदिक समुद्र या सलिलवाद या जलसृष्टि का मत था। इसी से अग्नि, वायु, आकाश और पृथिवी का जन्म हुआ। मनु ने इसी को "अप एव ससर्जादौ" कहा है। रस, गन्ध और स्नेह की योनि तथा प्राणियों की योनि भूमि है।

इस पर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि वृक्षों के स्थावर शरीर में जीव है या नहीं। इसका समाधान यह कहकर किया गया है कि वृक्षों के शरीर में पांचों इन्द्रियों और चैतन्य का विकास होता है। प्राचीन दर्शन का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त था। वृक्षों में जीव है, इसका स्पष्ट उल्लेख यहां हुआ है। वृक्ष देखते, सुनते, सांस लेते और खाते-पीते हैं और चेतना के कारण पञ्च तत्त्वों के प्रभावों से प्रभावित होते हैं। उनके कोशों में जीवनी शक्ति का स्पन्दन है। वे सुख-दुःख का भी ग्रहण करते हैं। अतः उनमें जीव का होना निश्चित है—

ग्रहणात् सुखदुःखस्य छिन्नस्य च विरोहणात्।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥ (१७७।१७)

वे आहार लेकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं। उनमें पुष्प, फल और बीज का भी नियम है। उनके शरीर में त्वक्, मांस, अस्थियां, मज्जा और स्नायु इन सबके समूह रूप वृक्षों में तेज, जठराग्नि, क्रोध, चक्षु, ऊष्मा भी होती हैं। श्रोत्र, घ्राण, मुख, हृदय, कोष्ठ ये वृक्षों में भी हैं, जो आकाश के अंश हैं। श्लेष्मा, कफ, पित्त, स्वेद, वसा, शोणित और जल ये वृक्षों के शरीर में भी होते हैं।

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पञ्च प्राणों के भेद वृक्षों के शरीर में भी काम करते हैं। इष्ट, अनिष्ट, मधुर, कटु, स्निग्ध, रूक्ष, निर्हारीया बाहर निकालने वाला, संहत (या भीतर रहने वाला), विशद (स्पष्ट या उत्कट)

यों नव प्रकार के गन्धों की सुगन्धि वृक्षों में रहती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन पञ्च तन्मात्राओं का भी वृक्षों में निवास है। अनेक आचार्य इनमें मधुर, लवण, तिक्त, कषाय, अम्ल, कटु, इन रसों का भी अस्तित्व मानते हैं। इस प्रकार जिन बारह ज्योतियों का अनुभव वृक्षों को होता है, वे हैं—शुक्ल, कृष्ण, रक्त, नील, पीत, अरुण, ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चौरस, अणु, वृत्तवान्। जिन बारह गुणों का अनुभव वृक्षों को होता है, वे ये हैं—कठोर, चिक्कन, श्लक्ष्ण, पिच्छल, मृदु, दारुण, उष्ण, शीत, सुख, दुःख, स्निग्ध तथा विशद। आकाश का गुण शब्द यद्यपि एक है, किन्तु उसके भी सप्त स्वरादि अनेक भेद हैं। उन सबका परिचय वृक्षों को होता है।

वनस्पति जगत् के चैतन्य के विषय में इतना विस्पष्ट और सस्नेह-पूर्ण कथन अन्यत्र दुर्लभ है(श्लो० १०-३६)। इस मत के प्रतिपादक आचार्य स्थावर-जंगम विश्व में जीव या चैतन्य का विकास मानते थे। विराट् विश्व के प्रति यह दृष्टिकोण अतिशय अहिंसा के रूप में विकसित हुआ, जिसे हम जैन धर्म में पाते हैं।

अध्याय १७८ में शारीरिक ऊष्मा के मत का प्रतिपादन है, जो पञ्च प्राणों के रूप में पूरे शरीर में कार्य करती है। वस्तुतः यही प्राचीन वैश्वानर अग्नि थी। वैश्वानर विद्या का आरम्भ ऋग्वेद से ही हो गया था। प्राण और अपान के घर्षण से उत्पन्न ऊष्मा को अग्नि या वैश्वानर कहते थे। आमाशय में अन्न के पाचन का श्रेय इसी वैश्वानर अग्नि को है। इसे जठराग्नि भी कहा जाता है। गीता में वैश्वानर अग्नि को भगवान् का रूप कहा गया है—अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

प्राणापान समायुक्तं पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।

यम ने नचिकेता को इसी वैश्वानर विद्या का उपदेश दिया था।

जीवाक्षेप

अध्याय १७९ में यह प्रश्न उठा या गया है कि पञ्च तत्त्वों के अतिरिक्त जीव या आत्मा का पृथक् अस्तित्व है कि नहीं। इसका संक्षिप्त उत्तर है

कि जैसे वनस्पति जगत् में बीज से बीज का जन्म होता है, ऐसे ही जीव से जीव की उत्पत्ति का नियम है।

अध्याय १८० में जीव-लक्षण शीर्षक के अन्तर्गत कहा गया है कि शरीर के नाश से जीव का नाश नहीं होता। जैसे ईंधन के जल जाने पर ऊपर से यह जान पड़ता है कि अग्नि का नाश हो गया, किन्तु सत्य यह है कि अग्नि का ताप या ऊष्मा आकाश में व्याप्त हो जाता है। ऐसे ही जीव भी आकाश में स्थित रहता है।

अजित केशकम्बलि का यह मत था कि यह भौतिक और अचेतन शरीर पृथिवी, जल, तेज, वायु, इन चार तत्त्वों से बन जाता है। लोगों को यह भूतवादी मत समीचीन नहीं जान पड़ा और उन्हें इससे पूरा संतोष न हुआ। तब प्रक्रुद्ध कात्यायन ने एक नये मत का प्रतिपादन किया। उनका कहना था कि भौतिक तत्त्वों के अतिरिक्त एक जीव भी है, जो सुख-दुःख का अनुभव करता है। यह मत सप्तकायवाद के नाम से प्रसिद्ध था। श्वेताश्वतर उपनिषद् की सूची में इसका स्पष्ट उल्लेख "आत्माऽप्यनिशा सुखदुःखहेतोः," इन शब्दों में आया है। इसका ही विशद वर्णन अ० १८० में है। इसमें पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष के तर्कों का उल्लेख करते हुए पञ्च तत्त्व, जिनमें आकाश भी सम्मिलित है, जीवात्मा और दुःख-सुख का परिगणन किया गया है।

इस मत में दुःख और सुख को इतना अधिक महत्त्व दिया गया कि यदि चित्त दुःखी हो, तो शरीर और मानस रोगों का अनुभव न होने से जीव भी व्यर्थ हो जाता है।[1]

नास्तिक दर्शन का स्पर्श करने वाले आचार्य प्रक्रुद्ध कात्यायन ने दुःख-सुख को जो इतना गौरव दिया, वह आस्तिक वादियों को कुछ महँगा सौदा जान पड़ता था। अतः उन्होंने दुःख-सुख को मानते हुए भी जीव या आत्मा की सत्ता पर ही अधिक बल दिया—

१. महर्षे मनसि व्यग्रे तस्माज्जीवो निरर्थकः। (१८०।१५)

पञ्चात्मके पञ्चगुणप्रदर्शी स सर्वगात्रानुगतोऽन्तरात्मा।
स वेत्ति दुःखानि सुखानि चात्र, तद्विप्रयोगात्तु न वेत्ति देहः ॥
(१८०।२०)

ज्ञात होता है कि भृगु-भरद्वाज के इस संवाद में भृगु आस्तिक और भरद्वाज नास्तिक दिट्ठि के प्रतिनिधि हैं। भृगु ने शरीर में आत्मा के अस्तित्व पर बल दिया और उसे ही क्षेत्रज्ञ कहा। शरीर तो केवल क्षेत्र मात्र है। आप उसमें चार भूत मानें या पांच कोई विशेष भेद नहीं पड़ता, क्योंकि वह अचेतन ही रहता है। अतः उसमें क्षेत्रज्ञ की सत्ता से ही विचित्रता आती है। वही चेतना का केन्द्र बनता है, जैसे कमल के पत्ते पर बूंद होती है।[1]

सत्त्व, रज, तम, ये प्रकृति के तत्त्व है, लेकिन जीव को ही प्रभावित करते हैं। चेतना और चेष्टा जीव के ही गुण हैं।[2]

देह के नष्ट होने पर जीव का नाश नहीं होता। अज्ञानी इसे व्यर्थ ही मरा हुआ कहते हैं। जीव दूसरी देह में चला मात्र जाता है। पञ्चभूतों के पृथक् हो जाने से शरीर-भेद देखा जाता है। तत्त्वदर्शी सूक्ष्म बुद्धि से इसे देखते हैं। बुद्धिमान विशुद्ध चित्त से आत्मा का आत्मा में दर्शन करते हैं। चित्त के प्रसाद से ही शुभाशुभ कर्मों को छोड़कर अक्षय सुख या मोक्ष का अनुभव करते हैं। जीव शरीर के भीतर मानस अग्नि की संज्ञा है।[3]

---

१. क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं लोकहितात्मकम्।
तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि जीवगुणानिमान ॥ (१८०।२४)

२. सचेतनं जीवगुणं वदन्ति स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम्।
ततः परं क्षेत्रविदं वदन्ति प्रावर्तयद्यो भुवनानि सप्त ॥
(१८०।३५)

३. मानसोऽग्निधु शरीरे जीव इत्यभिधीयते।
सृष्टि प्रजापतेरेषा भूताध्यात्मविनिश्चये ॥ (१८०।३०)

यहाँ भौतिक और आध्यात्मिक दो दृष्टियों के तारतम्य का विनिश्चय पाया जाता है। (अ० १८०)

चार वर्णों के विशेष प्रकार

अध्याय १८१ में कहा गया है कि ब्रह्मा ने चार वर्णों के चार रंग बनाये। श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण।[1] इस पर बुद्धिपूर्वक प्रश्न उठाया गया कि इससे तो वर्णों का संकर मानना पड़ेगा क्योंकि त्वचा के रंगों का कोई नियम नहीं है। सब रंग सब वर्णों में देखे जाते हैं।[2] इसके उत्तर में यही समाधान दिया गया है कि रंगों का आग्रह न करके कर्मों का आग्रह करना अच्छा है—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥ (१८१।१०)

इस शंका का एक वढ़िया समाधान इस प्रकार दिया गया है कि वर्णों के विभाग का कोई विनिश्चय नहीं है। यह सारा जगत् ब्रह्मा की सृष्टि है। काम, क्रोध, लाभ, मोह सबमें एक समान पाये जाते हैं। शरीर के मल और रस, रक्त आदि धातुएं भी सब वर्णों में एक जैसी होती हैं। अतः उनके आधार पर वर्णों का निश्चय नहीं (सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्)।

पहले सभी ब्राह्मण थे, पर कर्मानुसार वण में विभक्त हो गये। जो ब्राह्मण तीक्ष्ण थे और काम, क्रोध तथा साहस के वश में हो गये, वे क्षत्रिय कहलाने लगे। जिनका मन गो-सेवा और कृषि में लग गया, वे वैश्य हो गये। जो हिंसा, अनृत, लुब्धक वृत्ति और कई तरह के नीच धन्धे करने लगे और शौच के नियमों से भ्रष्ट हो गये, वे मूल में ब्राह्मण रहते हुए भी

---

१. ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा ॥ (१८१।५)

२. चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभज्यते।
सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसंकरः ॥ (१८१।६)

शूद्र बन गये।[1]

या जो मूल में ब्राह्मण थे, कई वर्णों में बंट गये। पर उनके लिए भी धर्म, यज्ञ आदि कर्मों का प्रतिषेध नहीं है। इन चारों वर्णों के लिए एक मात्र देवी ब्रह्मा की पुत्री सरस्वती है—वर्णाश्चत्वार एते हि येषां ब्राह्मी सरस्वती। (१८१।१५)।

चारों वर्ण लोभ से अपना ज्ञान न खो बैठें। ब्राह्मण धर्म-तन्त्र में स्थित रहें, तप को धारण करें, ब्रह्म या वेद को धारण करें, व्रत और नियमों का पालन करें, तो उनका ब्राह्मणत्व बना रहेगा।

इसमें जितनी शर्तें हैं, वे जैसे किसी अर्वाचीन समाजशास्त्री के द्वारा दी गई हैं। इसमें कहीं भी ब्रह्मा के मुंह, भुजाओं, जंघा और पैरों से चार वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख नहीं है। यहां नैतिक गुणों और कर्मों को वर्ण-भेद का विषय माना है। आरम्भ में सभी ब्राह्मण थे, पर पीछे उन्हीं में से बहुत-सी जातियां बन गईं। उनका ज्ञान-विज्ञान नष्ट हो गया एवं आचार चेष्टाओं में स्वच्छन्दता आ गई।

ब्रह्मा की मानसी सृष्टि में, जिसमें ऋषियों के तप का योग था, सब लोग धर्मतन्त्र परायण थे। पर सदा के लिए इस स्थिति का निर्वाह नहीं हो सका।

लेखक को ऊपर के स्फुट तर्कों से पूरा संतोष न हुआ। उसने अध्याय १८२ में अपनी पहली युक्तियों का खण्डन न करते हुए चारों वर्णों के आदर्शों का स्फुट विवेचन किया।

---

१. कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥११॥
गोषु वृत्तिं समाधाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मं नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥१२॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥१३॥

अध्याय १८३ में सत्य की बहुत ही सुन्दर व्याख्या दी गई है। सत्य ब्रह्म, सत्य तप, और सत्य ही प्रजाकर्त्ता है। सत्य, स्वर्ग और अनृत नरक है (स्वर्गः प्रकाश इत्याहु नरकं तम एवं च)। जिन्हें अनृत रूप तम ग्रस लेता है, वे सत्य रूप प्रकाश नहीं देख पाते।

लोक की ऐसी वृत्ति है कि यहां सत्य और अनृत, प्रकाश और अन्धकार, धर्म और अधर्म तथा सुख और दुःख दोनों की सत्ता है। मनुष्य को चाहिए कि अपनी बुद्धि में किसी एक को चुने।[1]

सत्यानृत की इस व्याख्या में सुख-दुःख की अनित्यता का यह सिद्धान्त जोड़ दिया गया था, जो लोकपर्याय का अवान्तर मत था।

विचित्र है कि इस अध्याय में दुःख और सुख का विवेचन गद्य में दिया गया है। लगता है संसार में शारीरिक और मानसिक दुःखों की स्पष्ट व्याख्या का गद्यांश भाग जैसे बौद्ध स्रोत से लिया गया था। अन्त में सुख-दुःख के सिद्धान्त को स्वर्ग और नरक के साथ मिलाया गया है। स्वर्ग में सुख और नरक में दुःख है। इस निष्कर्ष को ब्राह्मण और बौद्ध दोनों मानते थे। सुख-दुःख का समत्व परम पद या मोक्ष है।

इसी मत से मिला हुआ लोक सृष्टि का वैदिक मत था, जिसमें माता पृथिवी और पिता द्युलोक हैं। इन दोनों का जो शुक्र-शोणित संयोग है, वही तेज संतान का रूप धारण करता है—

पृथिवी सर्वभूतानां जनित्री तद्विधाः स्त्रियः।
पुमान्प्रजापतिस्तत्र शुक्रं तेजोमयं विदुः ॥ (१८३।१५)

अध्याय १९४ में दान, धर्मचरित या धर्माचरण, तप, स्वाध्याय और अग्निहोत्र के फल के विषय में प्रश्न किया गया है। कहा गया है कि अग्नि-

---

१. यत्र यत्सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाश स्तत्सुखमिति।
यत्र यदनृतं सोऽधर्मो योऽधर्मस्तत्तमो, यत्तमस्तद् दुःखमिति।
(१८३।५)

होत्र से पाप की शान्ति होती है। स्वाध्याय से जो शान्ति मिलती है, वह उत्तम है। दान से भोग और तप से सर्व-प्राप्ति होती है।[1]

इसके बाद चार आश्रमों के आचार बताये गये हैं। यह गद्यांश किसी प्राचीन गृह्यसूत्र से लिया गया या उस पर आधारित जान पड़ता है।

अध्याय १८५ में उसी विषय को जारी रखते हुए वानप्रस्थ और परिव्राजकों के मत कहे गये हैं।

इन मतों में एक मत यह भी सुना जाता है—

अस्माल्लोकात्परो लोकः श्रूयते नोपलभ्यते ।। (१८५।७)

अध्याय १८६ से आचार धर्म का कथन प्रारम्भ किया गया है। यह प्रकरण मनुस्मृति तथा कई पुराणों में भी आता है। स्नान, संध्या, भोजन आदि के नियमों को शिष्टाचारमय महान् धर्म कहा जाता था।

अध्याय १८७ में बुद्धि, त्रैगुण्य और मनीषी का विवेचन है। यह अध्यात्म का विषय माना जाता था।

: ८८ :

ध्यान योग

श्वेताश्वतर उपनिषद् में दस वादों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि तत्त्वचिन्तकों ने सत्य की खोज के लिए ध्यान योग का आश्रय लिया (ते ध्यानयोगानुगतानुपश्यन्)। ध्यान योग उस युग की सर्वसम्मत साधना विधि थी। यहां अध्याय १८८ में ध्यान योग का विवेचन किया गया है।

ध्यान योग, ज्ञान योग, इन्द्रियसंयम योग, निर्वाण या मोक्ष योग—ये सब योग के अवान्तर भेद थे। साधक को योगवित् या योगी कहा गया है। ध्यान योग में लेखक की सबसे अधिक रुचि ज्ञात होती है। हठयोग,

---

१ हुतेन शाम्यते पापं स्वाध्याये शान्तिरुत्तमा।
दानेन भोग इत्याहुस्तपसा सर्वमाप्नुयात्।। (१८४।२)

आसन, प्राणायाम का यहां कोई उल्लेख नहीं है। अध्याय २२८, २३२, २४३, २८९, २९४, ३०४, ३०५ में कुछ सामग्री अवश्य है, पर विशेष साधना का वर्णन नहीं है। अध्याय २९४ में प्राणायाम का उल्लेख किया गया है और अध्याय ३०४ में अष्टगुणित योग या अष्टाङ्ग योग और उसके प्राणायाम आदि अंगों का नाममात्र उल्लेख आया है। कोई साधनाविधि नहीं बताई गई है। इस प्रकार यद्यपि ध्यान-योग, ज्ञान-योग, मानस-योग, और इन्द्रियदमन योग के प्रति मोक्षधर्म में प्रर्याप्त वर्णन पाया जाता है, किन्तु हठयोग के विषय में वह मौन है।

: ८९ :

जपयोग

अध्याय १८९ से १९४ तक जपयोग का विस्तृत वर्णन है। जप करने वाले को जापक और जिसका जप किया जाय उसे जप्य कहते थे। ज्ञात होता है कि वेद मंत्र और संहिता का जप किया जाता था। सूर्य की शक्ति सावित्री को इष्ट देवता के रूप में प्रत्यक्ष मान कर जप का विधान था। जप का फल अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति माना जाता था। जपयोग की महिमा ध्यानयोग से कम न थी (१९३।२२)।

जप में श्रद्धा आवश्यक थी। कहा है कि जपकर्त्ता ब्राह्मण पर वेदमाता सावित्री प्रसन्न हुई (वेदमाता तस्तस्य तज्जप्यं समपूजयत्। १९२।८)। वेदमाता गायत्री की संज्ञा थी। अतः वेदमाता गायत्री का जप किया जाता था। किन्तु यह भी कहा गया है कि समस्त संहिता या उसके किसी भाग का भी जप होता है। जप के लिए 'तूष्णीम्' या मौन भाव आवश्यक था। विधिपूर्वक संहिता के अध्ययन या पारायण से जपयोग का विकास जान पड़ता है। पाणिनि ने छंदोध्यायी ब्राह्मण को श्रोत्रिय कहा है। उस युग में

वेदपाठी ब्राह्मण दो भागों में बंट गए थे—एक निगदपाठी जो उच्च कण्ठ से पाठ करते थे, दूसरे तूष्णींपाठी जो जापक कहलाते थे।

ब्राह्मण के मांगने पर सावित्री ने वरदान दिया कि जप के फलस्वरूप तुम्हें ब्रह्मस्थान की प्राप्ति होगी (प्रयाति संहिताध्यायी ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्। १९२।११८)।

जपको एकाग्रधर्म कहा गया है। उसके लिए मनःसमाधि आवश्यक है। आगे कहानी दी गई है कि धर्म, यम, मृत्यु और काल मनुष्य रूप रखकर उस ब्राह्मण के पास आये और उससे अपनी-अपनी श्रेष्ठता के विषय में बहस करने लगे। धर्म ने उसे स्वर्ग भेजना चाहा, पर ब्राह्मण ने शरीर के बिना स्वर्ग जाना पसन्द नहीं किया।[1]

इसकी व्यञ्जना यह थी कि जप योग से शरीर रहते ही स्वर्ग का सुख मिल जाता है। तो काल, मृत्यु तथा यम इन तीनों ने कहा, "हे ब्राह्मण, तुम जप के रूप में उत्तम तप कर चुके, अब तुम्हें हम लेने आये हैं!"

बहुत विवाद के बाद निश्चय हुआ कि वह स्वर्ग नहीं चाहता, पर जप के प्रभाव से वह ब्रह्मभूत, सुखी, शान्त और निरामय हो चुका है। जापक को वह अक्षरसंज्ञक अद्वितीय अजर और शान्त ब्रह्मस्थान प्राप्त हो जाता है। अंतिम निष्कर्ष यह बताया गया है कि सब योगों का फल जपयोग के तुल्य है—जापकैस्तुल्यफलता योगानां नात्र संशयः (१९३।२२)।

: ९० :

स्वभाववाद और अध्यात्मवाद का समन्वय

अध्याय १९५ में मनु-बृहस्पति संवाद के रूप में स्वभाववाद और अध्यात्मवाद का समन्वय किया गया है। शरीरी आत्मा जब आत्मकेन्द्र में आता है तो पञ्चभूत, पञ्चेन्द्रियां और उनके पांच गुण, ये सब उस केन्द्र में

१. सशरीरेण गन्तव्यो मया स्वर्गो न वा विभो (१९३।२६)।

आ जाते हैं। उन्हीं के साथ शरीरी आत्मा इस देह में प्रतिष्ठित होता है। मनु द्वारा प्रतिपाद्य यही आर्य दृष्टिकोण था। उत्पत्ति, क्षय, सुख-दुःख, स्वीकृत-दुष्कृत, ये सब स्वभाव के धर्म हैं जो शरीरी आत्मा का स्पर्श नहीं करते। आत्मा के साथ मन की सत्ता अनिवार्य है। वही इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग कराता है।

इन्द्रियां, मन, बुद्धि और आत्मा इनकी सत्ता स्वीकार करके क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का आस्तिक सिद्धान्त अस्तित्व में आया या विकसित हुआ। उसका किसी वाद से विरोध न था, और न वह किसी मत का निराकरण करता था। उसका दृष्टिकोण समन्वय का था। इस मत में शरीर या क्षेत्र की सत्ता, शरीरी आत्मा की सत्ता, मन, बुद्धि की सत्ता, काल, कर्म और देहान्तर की सत्ता, सबको स्वीकार करने का बुद्धिवादी दृष्टिकोण या समन्वयवादी दृष्टिकोण स्वीकार किया जा सकता है। यही मनु द्वारा प्रतिपादित मानवधर्म शास्त्र का दृष्टिकोण था।

इस मत में भूतात्मा (पञ्चभूत), प्राणात्मा (पञ्च इन्द्रियां), प्रज्ञानात्मा (मन), विज्ञानात्मा (बुद्धि), अव्यक्तत्मा (शरीरी) पुरुष—इन पांचों कोटियों को स्वीकार किया जाता था। ऐसा ही अध्याय १९७ में है।[1]

इस मत में ज्ञान और ज्ञेय का पृथक् विवेचन मुख्य विषय था। ज्ञेय आत्मा है और उसके अतिरिक्त बुद्धि, मन, इन्द्रियां, विषय और भूत सब ज्ञान का क्षेत्र है। ज्ञान का क्षेत्र सगुण है। ज्ञेय अन्तरात्मा निर्गुण है।

एक पक्ष में बुद्धि गुण-प्रधान होती है। दूसरे पक्ष में वही गुणों से ऊपर उठकर आत्मा का दर्शन करती है। एक प्रवृत्ति प्रधान या प्रकृति से होती है, दूसरी प्रवृत्ति पुरुष से होती है। राग से प्रकृति की ओर और विराग से ज्ञान की ओर गति होती है (रागवान्प्रकृतिं ह्येति। विरक्तो ज्ञानवान्भवेत्। १९९।८७)।

---

१. अव्यक्तात् प्रसूतं ज्ञानं ततो बुद्धिस्ततो मनः।
मनः श्रोत्रादिभिर्युक्तं शब्दादीन्साधु पश्यति॥ (१९७।११)

अध्याय १९९ में कर्म की महिमा का वर्णन है। जैसे सोने का धागा, मूर्ति, मणि-मूंगे में पिरोया जाता है, वैसे ही आत्मा कर्म के अनुसार नाना योनियों में जाता है। इन्द्रियें, मन और बुद्धि को निर्बल करके अन्तरात्मा का दर्शन यह इस मत का सार था, जिसका प्रतिपादन गीता में भी किया गया है।

अध्याय २०० में नारायण, कृष्ण या गोविन्द महिमा का किसी भागवत लेखक ने वर्णन किया है, जो गुप्त युग में जोड़ा गया विदित होता है। युधिष्ठिर ने कहा, "पुण्डरीकाक्ष, अत्युत, महाप्राज्ञ, विष्णु, हृषीकेश, नारायण, केशव की महिमा मैं सुनना चाहता हूं।"

उत्तर में भीष्म ने कृष्ण के माहात्म्य के विषय में या नारायण के विषय में जामदग्न्य राम, देवर्षि नारद, द्वैपायन कृष्ण, असित देवल और वाल्मीकि और मार्कण्डेय के द्वारा कही हुई नारायण की महिमा सुनायी।

केशव भगवान्, ईश्वर, प्रभु और पुरुष समानार्थक हैं। पुराणविद् उनका इस प्रकार कीर्त्तन करते हैं। उस महात्मा पुरुषोत्तम ने अपने भूतात्मा रूप से महाभूतों को बनाया। उस महात्मा पुरुषोत्तम ने जल में शयन किया। उन्होंने अपने संकर्षण रूप का सृजन किया। उनकी नाभि से सूर्य के समान दिव्य और तेजस्वी कमल उत्पन्न हुआ। उस पुष्कर में सब लोकों के पितामह ब्रह्मा ने जन्म लिया। तब तमोगुण से मधु नामक असुर उत्पन हुआ। वह ब्रह्मा को मारना चाहता था, किन्तु पुरुषोत्तम विष्णु ने उसका ही वध कर दिया। इससे उनका नाम मधुसूदन हुआ।

इसी प्रसंग में ब्रह्मा द्वारा अङ्गुष्ठ पुरुष दक्ष प्रजापति के जन्म का वर्णन है। और दक्ष ने अनेक कन्याओं द्वारा जिस प्रपञ्च को जन्म दिया, उसका भी विशद उल्लेख है।

सृष्टि विद्या के प्रसंग में भागवतों द्वारा स्वीकृत यह एक दृष्टि थी, जिसका वहुत विस्तार भागवत आदि पुराणों में आया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि विष्णु ने अपने मुख, भुजाओं, जंघा और पैरों से असंख्य ब्राह्मणों, शत क्षत्रियों, शूद्रशतों को जन्म दिया। लेखक की दृष्टि

में यह शत शब्द अपरिमित संख्या का वाचक था। इससे सूचित होता है कि उसने समाज में प्रचलित चार वर्णों की व्यवस्था को मुख्य माना, तब उसकी व्याख्या विष्णु के शरीर से की। निश्चय ही यह विवेचन युक्ति-संगत था।

यहां कहा गया है कि सत युग और त्रेता में संकल्प से उत्पन्न मानसी सृष्टि थी, किन्तु द्वापर से मैथुनी सृष्टि का आरम्भ हुआ (द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानामभवन्नृप । २०२।३७)। इस मैथुनी सृष्टि में तलवरान्ध्र, आन्ध्र, पुलिन्द, शवर, चूचुप, (चेंचू) और मण्डप का दक्षिणापथ में और यवन, काम्बोज, गान्धार, किरात तथा वर्बर पापयोनियों का उत्तरापथ में जन्म हुआ। यह पुण्डरीकाक्ष केशव की महिमा है। भगवान् केशव अचिन्त्य हैं। वे केवल मानुष नहीं हैं।

अध्याय २०१ में सात ब्रह्मपुत्रों के और फिर उनसे अनेक ऋषियों के जन्म का वृतान्त है। यह सामग्री वैदिक परम्परा से यहां तथा अन्य पुराणों में ली गई है।

अध्याय २०२ में कृष्ण या विष्णु के वराह अवतार का वर्णन है, जो गुप्तकाल में भागवतों का प्रिय विषय था।

अध्याय २०३ में योग और अध्यात्म की व्याख्या है।

अध्यात्म २०४ में वार्ष्णेयाध्यात्म का वर्णन है।

अध्याय २०४ और २०५-२०६ में कृष्ण के अध्यात्म स्वरूप की व्याख्या करते हुए सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों की व्याख्या की गई है।

२०६-२१० अध्यायों में श्रीमद्भग्वद्गीता के प्रवृत्ति मार्ग और अध्यात्म योग का लगभग उन्हीं शब्दों में विवेचन है।

अ० २१२ में सांख्य शास्त्र के निवृत्ति मार्ग, सिद्धान्त और साधना का पञ्चशिख कापिलेय के द्वारा विस्तृत वणन किया गया है।

अध्याय २१३ में गृहस्थ-जीवन में सदाचार वृत्त का वर्णन किया गया है और अध्याय २१४ में गृहस्थ व्यक्ति के लिए तप का विधान बतलाया गया है। तप क्या है—स्वल्पाहार, अनशन, मास और पक्ष का उपवास,

शम, दम तथा ब्रह्मचर्य। सदोपवासी, दानी, धर्म-कुटुम्बी, देव की आराधना करने वाला, अमिताशी, यज्ञ-उच्छिष्ट-भोज्य और अतिथिप्रिय व्यक्ति गृहस्थ होते हुए भी तपस्वी होता हैं।

जो प्रातः भोजन और सायं भोजन के बीच कुछ नहीं खाता, वह सदोपवासी होता है।[1]

जो केवल ऋतुगामी होता है, वह सदा ब्रह्मचारी होता है। भृत्य और अतिथियों को भोजन कराकर जो खाता है, वह अमृतभोजी है। अभोजन से व्यक्ति स्वर्ग जीत लेता है। देवता, पितर, भृत्य और अतिथियों से वचा हुआ भोजन जो करता है, वह यज्ञभोजी है। इस अध्याय में परिमित भोजन, स्वल्पाहार या उपवास को ही गृहस्थ व्यक्ति के लिए सवसे वड़ा तप और सदाचार का नियम कहा गया है।

अध्याय २१५ में इन्द्र-प्रह्लाद संवाद के रूप में कर्म और प्रज्ञा के जीवन की व्याख्या कराई गई है।

अध्याय २१६ में इन्द्र-वलि संवाद के रूप में ऐश्वर्य की अनित्यता का वर्णन किया गया है।

असुरराज वलि कालपर्याप दृष्टि को मानने वाले थे। वे संसार की सव वस्तुओं को अन्तवान् जानकर शोक और हर्ष से प्रभावित नही होते थे (अध्याय २१७)।

अध्याय २१८ में वलि की श्री और इन्द्र का संवाद है जिसमें श्री ने अपने स्थान वताये हैं।

अध्याय २१९ में इन्द्र और नमुचि के संवाद के रूप में कालवाद की व्याख्या की गई है।

अध्याय २२० में प्रश्न उठाया गया है कि बन्धुनाश और राज्यनाश जैसी कठिन विपत्ति में फंसे हुए मनुष्य को क्या करना चाहिए ? यह प्रश्न

---

१. अन्तरा प्रातराशं च सायमाशं तथैव च।
सदोपवासी च भवेद्यो न भुङ्क्ते कथंचन॥ (२१३।९)

वैसा ही है जैसे आपद्धर्म में राजा के लिए किया गया है। और उत्तर भी लगभग वही है। इसमें कालपर्याय वाद के अन्तर्गत सुख-दुःख पर्याय का विवेचन है—

कालेन त्वाहमजयं कालेनाहं जितस्त्वया।
गन्ता गतमितां कालः कालः कलयति प्रजाः॥ (२२०।३५)

युधिष्ठिर ने पूछा कि भविष्य में आने वाले कल्याण और अकल्याण के समय मनुष्य का मन कैसा हो जाता है? यह उल्लेखनीय है कि असुरों की देवी को नक्षत्र और तारों के आभूषण और देवराज इन्द्र की श्री लक्ष्मी को कमलों की माला पहने हुए कहा गया है—पद्माश्रीः पद्ममालिनी (२२१।२०)। ये दोनों लक्षण मथुरा से प्राप्त काली मिट्टी की देवी मूर्तियों में घटित होते हैं।[1]

इस अध्याय में इन्द्र और वासव का संवाद है।

अध्याय २१२ में ब्रह्मस्थान के आचार और नियम बताये गए हैं। इसमें समत्व और संयम का ही उपदेश दिया गया है।

अध्याय २२३ में उग्रसेन-वसुदेव के संवाद के रूप में मनुष्य के सभी गुणों के विषय में प्रश्न किया गया है, जैसे, ऋजु, सत्यवादी, तपस्वी, विनयी, सुखशील, सुसंभोग, सुभोज्य, स्वादर, शुचि, तितिक्षु, मनोनुकूलवादी, बहुश्रुत, चित्रकथ, पण्डित, अशठ, अदीन, अक्रोधी, अलुब्ध।

अध्याय २२४ में युधिष्ठिर ने भूतों के आद्यन्त, ध्यान, कर्म, काल, आयुबल, लोकतत्त्व, भूतों की आगति और गति, सर्ग और मृत्यु के विषय में प्रश्न किया। उत्तर में भीष्म ने व्यास और शुक के संवाद रूप में इस महान् प्रकरण का वर्णन किया। आरम्भ में छोटी-बड़ी काल की इकाइयों की गणना दी गई है। सतयुग में धर्म के चार पैर थे, फिर क्रमशः उसका ह्रास हुआ। चार युगों की द्वादश साहस्री से एक ब्राह्म दिन होता है। उतनी ही काल संख्या से ब्राह्मी रात्रि होती है। ब्रह्मा से महत् तत्त्व एवं महत् तत्त्व से मन, मन से पञ्चभूत और पञ्चभूतों से उनकी तन्मात्राएं जन्म लेती है। यही सृष्टि के आरम्भक सप्त पुरुष हैं (एते तु सप्त पुरुषा

नानावीर्याः पृथक् पृथक्। २४४, ४१)। किन्तु विना एक दूसरे से मिले हुए ये सृष्टि न कर सके। जब ये एक साथ मिले तव इनका वह समाश्रय भाव पुरुष कहलाया। उस श्रयण को ही शरीर कहते हैं। वह षोडश-भावों (पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच महाभूत और मन) का मूर्त रूप था। शरीर, कर्म तथा पुरुष का और भी विशद वर्णन किया गया है, जैसा भागवतों में मान्य था। विश्व का प्रतिसंचर कर्म अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन और अव्यक्त रूप में कहा गया है। संचर सृष्टि और प्रतिसंचर ही प्रलय है। उस प्रकार संचर-प्रतिसंचर के रूप में जगत् का विस्तार और संक्षेप होता है। इसी की संज्ञा संकोच और विकास है। (अ० २२५)

अध्याय २२६ में राजाओं के नाम और कृत्यों का उल्लेख है।

अध्याम २२७-२३० में प्रज्ञादर्शन का विशद वर्णन है।

अध्याय २३१ में प्रज्ञादर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म प्राप्ति का वर्णन है।

अध्याय २३२ में प्रज्ञादर्शन के अन्तर्गत इन्द्रियनिग्रह का वर्णन है।

अध्याय २३३ में प्रज्ञादर्शन के अन्तर्गत क्षराक्षर का वर्णन किया गया है।

अध्याय २३४ में ब्रह्मचारि-धर्म का निरूपण है।

अध्याय २३५ में प्रज्ञादर्शन के अन्तर्गत विशेष प्रकार की बुद्धि के साधन का वर्णन किया गया है।

अध्याय २३६ में वानप्रस्थ-धर्म का निरूपण है।

जैसे हाथी के पांव में और सव पैर समा जाते हैं, ऐसे ही संन्यासी के धर्म में अन्य सभी धर्मों का समावेश समझना चाहिए। वह अहिंसक, समदर्शी, सत्यवादी, धैर्यवान्, जितेन्द्रिय और सभी भूतों का शरण्य होता है। भिक्षु के और भी लक्षण इसमें वताये गए हैं। (अ० २३७)

अध्याय २३८ में सवके हृदय में अवस्थित गूढ़ आत्मा का वर्णन है। इसके ये रूप हैं—भूतात्मा, प्रज्ञानात्मा (मन), विज्ञानात्मा (बुद्धि), महदात्मा, अव्यक्तात्मा। अव्यक्तात्मा जिसके लिए गूढाऽऽत्मा यह संज्ञा उपनिषदों में वताई

गई थी (एष सर्वेषु भूतेषु गूढाऽऽत्मा न प्रकाशते । कठ उ० ३।१२) को सत्त्व में समाविष्ट करके मृत्युंजय बन जाता है। निवात दीप की भांति उसका चित्त कहीं से कम्पित नहीं होता। योगी के सम्पूर्ण लक्षण इस वर्णन में आये हैं। इस प्रकार रात्रि के पूर्व और पश्चिम भाग में योग साधन करता हुआ आत्मा का आत्मा में दर्शन करता है। (अ० २३८)

अध्याय २३९ में शुक ने अध्यात्म विद्या के विस्तृत वर्णन का प्रश्न किया। इस प्रकारण में आई हुई अध्यात्म सामग्री का जैसे कोई अन्त ही नहीं। व्यास जी ने शुकदेव से अध्यात्म विद्या का पुनः विस्तार से वर्णन कहा।

जैसे समुद्र में हिलोर पर हिलोर उठती हैं, ऐसे ही पञ्चभूतों में उनके गुणों की लहरें उठती रहती हैं। शब्द, श्रोत्र, आकाश आदि का अनर्न्त क्षेत्र है। ऐसे ही वायु, स्पर्श, रस और जल, तेज, रूप और अग्नि, घ्राण, गन्ध और पृथिवी इनकी ऊर्मियों का इस जीवन में क्या कभी कोई अन्त होता है? इनके ऊपर और इनसे भी सूक्ष्म मन और बुद्धि की लहरियों का कहीं कोई अन्त नहीं। जीवन भर प्राणी उनका अनुभव करता है। यह सब अध्यात्म का क्षेत्र है। इनमें तीन गुणों की सूक्ष्म पर्तें पड़ी हुई हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का यह जाल बहुत ही सूक्ष्म और अपरमित है। देहधारियों को इन्द्रियग्राम इस ओर से उस ओर तरंगित करता रहता है।

(अ० २३९)

भावों का धरातल मन है। इन्द्रिय से अध्यवसाय का निश्चय किया जाता है। हृदय प्रिय और अप्रिय के अनुभव का साधन है। कामगोचर इन्द्रियों से आत्मा का दर्शन नहीं होता। इन्द्रियरश्मियों को जब मन से रोक लिया जाता है, तो घर में रक्खे हुए दीपक की भांति आत्मा का प्रकाश दिखाई पड़ता है। (अ० २४०)

अ० २४० में प्रवृत्ति और निवृत्ति का मार्ग कहा गया है।

अ० २४२ परम धर्म का कथन है।

सब ओर से निवृत्ति की प्रशंसा अ० २४३ में की गई है।

अध्याय, २४५ में अन्तरात्मा का कथन है।

अध्याय २४५ में ब्रह्म के दर्शन का उपाय कथित है।

कामना-त्याग का उपाय अध्याय २४६ में कहा गया है।

अध्याय २४७ में भूतों के गुणों का संख्यान है।

इस प्रकार चौबीस अध्यायों में शुकदेव के प्रश्न और व्यास के उत्तर के रूप में प्रज्ञादर्शन और अध्यात्म विद्या का वर्णन किया गया है। यह अध्यात्म योग और आस्तिक दर्शन का बहुत ही अच्छा और सारगर्भित उपदेश है। इसमें गीता और उपनिषदों का सार पाया जाता है।

अध्याय २४७ से २५० तक प्रजापति तथा मृत्यु के संवाद के रूप में मृत्यु की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

अध्याय २५१ में धर्म के लक्षणों का वर्णन किया गया है।

: ९१ :

तुलाधार-जाजलि संवाद

अध्याय २५२ से २५६ तक के पांच अध्यायों में गृहस्थ धर्म की महिमा का एक हृदयस्पर्शी दृष्टान्त दिया गया है। जाजलि नाम का एक तपस्वी वन में तप करने लगा। वह इतना सफल हुआ कि उसकी जटाओं में पक्षियों ने अण्डे दे दिये। उनमें से बच्चे निकले, फिर भी जाजलि का ध्यान भंग नहीं हुआ। इससे उसे अभिमान हो गया। वह जब नदी में स्नान करने गया तब उसने आकाशवाणी सुनी कि तुम्हारा धर्म-ज्ञान अभी तुलाधार वैश्य के समान नहीं हुआ। यह महाप्राज्ञ तुलाधार वाराणसी में रहता है। वह भी धर्म के विषय में ऐसा दावा नहीं कर सकता जैसा तुम करते हो। यह सुनकर जाजलि आश्चर्यचकित हो गया और तुलाधार को खोजता हुआ वाराणसी आया। तुलाधार ने उसका स्वागत किया और कहा कि हे ब्राह्मण, तुम जब आ रहे थे, तभी हमने जान लिया था। तुमने समुद्र के किनारे महान् तप किया, किन्तु धर्म के रहस्य को नहीं जाना। तुम्हारी जटाओं में पक्षियों ने घोंसला बना लिया था। आकाशवाणी सुनकर तुममें क्रोध आ गया।

जाजलि ने तुलाधार से इसका रहस्य पूछा, तो उसने कहा "मैं गन्ध द्रव्यों का व्यापार करता हूं। मेरी जीविका में किसी प्राणी से द्रोह नहीं है। मेरे किसी भी काम में माया या छल नहीं है। मैं सब प्राणियों के हित में कार्य करता हूं। मैं मिट्टी और सोने को एक-सा मानता हूं। मैं किसी दूसरे के काम की न प्रशंसा करता हूं, न निन्दा। सब भूतों में समता मेरा व्रत है। मेरी तुला मुझे इष्ट और अनिष्ट में, राग और द्वेष में समत्व भाव रखने की चेष्टा देती है।"

तुलाधार ने १८६ श्लोकों के संवाद में जिस धर्म की व्याख्या की, उसमें यज्ञ का कोई उल्लेख न था। ज्ञात होता है कि यह कम या अधिक बौद्ध-धर्म के ही उपदेशों का एक संस्करण था। इस पर जाजलि ने पूछा कि यह तुम्हारा सिखाया हुआ धर्म है। यदि इसे हम मान लें, तो स्वर्ग का द्वार बन्द हो जायगा। इस पर तुलाधार ने कहा, "मैं नास्तिक नहीं हूं, न यज्ञ की निन्दा करता हूं। किन्तु जो विशुद्ध प्रज्ञाधर्म है, जो सम्यक् वृत्ति है, जो सम्यक् कर्म, सम्यक् वाणी और सम्यक् धर्म है, उसी की व्याख्या करता हूं।" ज्ञात होता है, तुलाधार की अधिकांश शिक्षा बौद्धों के ग्रंथ धम्मपद से संकलित की गई थी। जैसे

यस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद्वेश्म गतादिव।
न स धर्ममवाप्नोति इहलोके परत्र च॥ (१२।२५४।३१ महाभारत)

यो दुक्खस्स पजानाति इधेवखयमत्तनो।
पन्नभारं विसंयुतं तमहं बूमि ब्राह्मणम्॥ (जातकब्राह्मणवग्ग २०)

अध्याय २५७ में यज्ञों में अहिंसा का प्रतिपादन किया गया है, जिसकी संज्ञा विचख्नु गीता है।

अध्याय २५८ में यह व्यावहारिक प्रश्न उठाया गया है कि जीवन में कार्य की साधना चिरकाल तक करनी चाहिए या अचिरकाल तक। अन्त में यही निर्णय किया गया है कि चिरकाल तक सब धर्मों की उपासना होनी चाहिए।

अध्याय २५९ में कहा गया है कि सतयुग में केवल 'धिक् दण्ड' था, द्वापर में 'आदान दण्ड' या जुर्माना आवश्यक था और अब वध दण्ड आवश्यक है। अतः राज्य चलाने के लिए शारीरिक दण्ड आवश्यक है।

: ९२ :

गो-कापिलेय संवाद

अध्याय २६०-२६३ में गो-कापिलेय संवाद के रूप में इस प्रश्न का समाधान किया गया है कि गृहस्थ धर्म और योग धर्म इन दोनों का समन्वय कैसे हो सकता है और दोनों में कौन श्रेष्ठ है ? इस विषय में कपिल और गौ का संवाद प्राचीन जान पड़ता है। उस गौ को त्वष्टा के आतिथ्य के लिए आलम्भन के उद्देश्य से नहुष ने चुना था। उसे देखकर कपिल ने एक बार इतना ही कहा—हा वेद! (जो तुम्हारे नाम पर लोग ऐसा अनाचार करते हैं)। उस समय स्यूमरश्मि नामक एक ऋषि ने उस गाय के भीतर प्रवेश करके कपिल मुनि से कहा, "अहो, यदि वेदों की प्रामाणिकता पर आप-को संदेह है, तो अन्य धर्मशास्त्रों को किस आधार पर प्रमाणभूत माना जा सकता है?" यहाँ स्पष्ट ही वैदिको हिंसा पर आक्षेप किया गया है और यह भी संदेह किया गया है कि वेद-प्रस्तावित चार आश्रमों का धर्म कहां तक समीचीन है ? यह उस युग में बौद्धों का वेद के संबध में विचार था, अहिंसा और हिंसा को लेकर यह प्रश्न बहुत ही जटिल और कठिन बन गया था। यह बौद्धों और भागवतों के बीच में मत-भेद का बवंडर बन गया था।

उससे पिण्ड छुड़ाना भागवतों के लिए मुश्किल हो रहा था। एक ओर तो वे वैदिको हिंसा की निन्दा नहीं कर सकते थे, दूसरी ओर अहिंसा का समर्थन करने पर बाध्य थे। कपिल बौद्ध या वेद-बाह्य दृष्टिकोण के समर्थक हैं और स्यूमरश्मि मिलि-जुली बात कह कर वैदिक मत का समर्थन कर रहे हैं। स्यूमरश्मि के मत में यज्ञ आवश्यक है। भागवतों ने यज्ञ के समर्थन में लम्बे-चौड़े तर्क खड़े किये। यज्ञ द्वारा प्रजापति ने विश्व बनाया।

विश्व के लिए यज्ञ आवश्यक है। यज्ञ के १२ अंग थे—ओषधि, पशु, वृक्ष, लता, घी, दूध, दही, अन्नादि हविष्य, भूमि, दिशा, श्रद्धा और काल। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और यजमान मिलाकर सोलह यज्ञांग होते हैं। तथा, गार्हपत्य अग्नि को सत्रहवां यज्ञांग समझना चाहिए। इन सत्रह में हिंसा तो केवल एक यज्ञांग है। उसी को लेकर इतना बखेड़ा करना अनावश्यक है। अन्य यज्ञाङ्गों से यज्ञ संपन्न किया ही जा सकता है। भागवतों का दूसरा प्रवल तर्क यह था कि पूर्वकाल से ऐसा ही होता आया है, इस कारण हम तुम्हारा नया मत स्वीकार नहीं कर सकते। यज्ञ का अनुष्ठान विश्व की स्थिति के लिए आवश्यक है। उसमें किसी के साथ द्रोह का भाव नहीं है। यज्ञ शास्त्र में वर्णित है। संपूर्ण यज्ञाङ्गों एक दूसरे को धारण करते हैं। यज्ञ शास्त्र के जाने विना इन यज्ञाङ्गों के साथ झगड़ा करना उचित नहीं। केवल पशु हिंसा के आधार पर यज्ञ को अवैध मानना ठीक नहीं और इस युक्ति को यज्ञ के विपक्ष में कभी स्वीकृत नहीं किया जा सकता। विद्वान् पुरुषों ने वेद और ब्राह्मण तथा उनमें कहे हुए कर्मकाण्ड को प्रमाण माना है। इन आम्नायों या आगमों को हम नहीं छोड़ सकते। वेदों के ब्राह्मण भाग से यज्ञ प्रकट हुआ है। यज्ञ के पीछे सारा जगत् और जगत् के पीछे सदा यज्ञ रहता है। यज्ञ प्रवृत्ति मार्ग है, आपका मत निवृत्ति-प्रधान है। किन्तु गृहस्थों के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही मार्ग हैं। उत्तर में कपिल ने निवृत्ति मार्ग और ज्ञानियों का समर्थन किया। ये ज्ञानी प्रज्ञावादी बौद्ध और सांख्यवादी परिव्राजक थे। किन्तु स्यूमरश्मि ने गृहस्थों का ही पक्ष लिया। यदि गृहस्थ आश्रम न हो तो संन्यास, वैराग्य और मुण्डकों के धर्म विफल हो जायं। जैसे समस्त प्राणी माता की गोद का सहारा पाकर ही जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम का आश्रय लेकर दूसरे आश्रम टिके हुए हैं।

गुप्त युग की इसी पृष्ठभूमि में कालिदास ने गृहस्थ को सर्वोपकारक्षम आश्रम लिखा था (कालोह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षमाश्रमं ते। रघु० ५।१०)। यज्ञ और तप का मूल कारण, गार्हस्थ्य

आश्रम ही है। गृहस्थाश्रम का पालन मोक्ष में वाधक है। इस कथन का साहस किसमें है? जो श्रद्धारहित, मूढ़ और सूक्ष्म दृष्टि से वंचित हैं, अस्थिर, आलसी, श्रान्त और अपने पूर्वकृत कर्मों से संतप्त हैं, वे अज्ञानी पुरुष ही संन्यास मार्ग का आश्रय लेकर गृहस्थ धर्म में शान्ति का अभाव देखते हैं।

ऐसे कटीले तर्कों के बाणों से भागवतों के तर्कश भरे हुए थे। वे तीर ठीक निशाने पर बैठते थे। सच बात यह है कि दोनों पक्षों में एक-एक कमजोरी थी। बौद्धों के लिए गृहस्थ धर्म को आदीनव या दुःख बताना भारी जंजाल था। यह पूरा बर्रों का छत्ता था जिससे भागवत और उनके छोटे-से-छोटे अनुयायी भी पूरा लाभ उठाते थे। इस क्षेत्र में बौद्ध अपना शस्त्र कभी नहीं संभाल पाये और भागवतों के प्रवल तर्कों के सामने उन्हें सदा कुंठित ही हो जाना पड़ा। विशेषतः एक ओर गृहस्थ धर्म की निन्दा और दूसरी ओर विहारों में भिक्षुभिक्षुणियों के आचार उनके लिए बहुत मंहगे पड़े। दूसरी ओर भागवतों ने कई प्रवल युक्तियों से अपने अखाड़े को दमदार बना लिया। इसके लिए उन्होंने दो सिद्धान्त निकाले—एक तो वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, और दूसरा अहिंसा परमो धर्मः, इस मत को भी उन्होंने पूरी तरह मान लिया। तीसरे उन्होंने वहां पशुवाची अज शब्द का अर्थ तिल किया और यज्ञों में पशुओं की हिंसा के स्थान पर तिल, जौ आदि ओषधियों का प्रयोग शुरू किया। यहां स्पष्ट लिखा है कि नगर, जंगल और पहाड़ों पर उत्पन्न होने वाली सब ओषधियां प्राण के रूप हैं। अतः वे ही प्राणी हैं (२६१।९)। इससे सूचित होता है कि भागवतों ने अपने बुद्धि-बल से प्रचार के साधनों को बहुत ही तीक्ष्ण और सबल बना लिया था। एक ओर उन्होंने यज्ञीय हिंसा से मुंह नहीं मोड़ा, दूसरी ओर यज्ञ की अपूर्व प्रसंसा की। तीसरी ओर पशु हिंसा को १७ यज्ञाङ्गों में केवल एक मानकर ओषधि-वनस्पतियों की नई परिभाषा खड़ी कर दी। और चौथे स्थान में, अहिंसा को सर्वात्मना परम धर्म मान लिया। इसके अतिरिक्त गृहस्थ धर्म की महिमा को अनेक लोकसंमत युक्तियों से पल्लवित किया। भागवतों

के इस पञ्चशाखीय प्रहार के समक्ष बौद्ध बैठ गये। उन्होंने गर्व से कहा, "वैदिक धर्म की सनातन मर्यादा तीनों लोकों का हित करने वाली एवं ध्रुव है। बिना वैदिक मन्त्रों के कोई भी मनुष्य तीन ऋणों से उऋण नहीं हो सकता।" इसके लिए बौद्धों के पास कर्मकाण्ड का कोई विधान नहीं था, किन्तु भागवतों के पास १६ संस्कारों का विस्तृत कर्मकाण्ड सबके लिए खुला हुआ था। इसी के साथ व्रतोपवास, दान और तीर्थ-यात्रा इन तीनों का भी गृहस्थ मात्र के लिए विस्तृत प्रतिपालन गुप्त युग में किया गया। अतः गुप्त युग के मानव के लिए भागवत धर्म हर्षोल्लास और आनन्द का भरापूरा सरोवर बन गया। उसमें एक आकर्षण था, जो त्याग और वैराग्य की पद्धति में नहीं था। इसकी तुलना में विहारों में भिक्षुओं का जीवन प्रायः सभी विधायक तत्त्वों से शून्य था और वे गृहस्थों को अभिशप्त करने के अतिरिक्त और कुछ न कर पाते थे। ऐसी परिस्थिति में विजय पताका भागवतों के हाथ में रही, उसीका समसामयिक चित्र गो-कापिलेय आख्यान में खींचा गया है। वेदों के अनादर से और कर्मकाण्ड को छोड़ने से कोई मनुष्य परब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता।

ज्ञात होता है कि इस संवाद के पक्ष और विपक्ष में दिए जाने वाले तर्क आपस में जटिलता से गुंथ गये और दोनों आचार्यों के लिए उसकी स्पष्ट व्याख्या कठिन हो गई। अन्त में कपिल को कहना पड़ा कि हम वेद की निन्दा नहीं करते। वह शब्दब्रह्म है। दूसरा परब्रह्म है, जो योग और ज्ञान से प्राप्त किया जाता है। शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है (शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति। २६२।२)।

आगे चलकर इस संवाद का झुकाव कुछ ऐसा ही हो जाता है। बौद्धों और ब्राह्मणों के तर्क पहले आपस में टकराकर फिर आपसमें मेल ढूंढने लगते हैं। अध्याय २६२ की विशेषता ऐसी ही है। अन्त में कुछ ऐसा समन्वय दिखाई पड़ता है—संतोष ही जिसके सुखका मूल है, त्याग ही जिसका स्वरूप है, जो ज्ञान का आश्रय कहा जाता है, जिसमें मोक्षदायिनी बुद्धि

तथा ब्रह्म साक्षात्कार रूप वृत्ति आवश्यक हैं, वह संन्यास आश्रमरूप धर्म सनातनहै। जो वेदों और उनके द्वारा जानने योग्य परब्रह्म को ठीक-ठीक जानता है, उसी को वेदवेत्ता कहते हैं। उससे भिन्न जो दूसरे लोग हैं, वे मुंह से वेद नहीं पढ़ते, धौंकनी के समान केवल हवा छोड़ते हैं। जो वास्तव में ब्रह्मवेत्ता से अभिन्न हैं, उस परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है।

धर्म, अर्थ, काम के त्रिवर्ग में धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। इस बात को एक ब्राह्मण और कुण्डधार मेंघ की कहानी कहकर समझाया गया है (अध्याय २६३)।

अध्याय २६४ में यज्ञ के लिए हिंसा की निन्दा एक कहानी के रूप में कही गई है। उसीमें सत्य का उपदेश भी कहा गया है।

अध्याय २६५, २६६, २६७ में पंचभूत और जीवात्मा के सम्बन्ध में फुटकर विषय आये हैं।

अध्याय २६८ तृष्णा परित्याग के विषय में माण्डव्य मुनि और जनक के संवाद रूप में कहा गया है। इसका निष्कर्ष यह है कि मोक्ष मार्ग के लिए तृष्णा का परित्याग आवश्यक है।

अध्याय २६९ में संन्यासी के लिए भिक्षा मांगने के नियम कहे गए हैं, जो मनुस्मृति में भी वैसे ही आये हैं।

अध्याय २७० में शुक्राचार्य और वृत्रासुर के संवाद रूप में वृत्र के मुख से समस्त उत्तम धर्मों का कथन कराया गया है, जिनका आश्रय लेकर वह राज्यच्युत हो जाने पर भी सुखी था।

अध्याय २७१ में वृत्र से शुक्राचार्य ने विष्णु की महिमा का वर्णन किया है जो भागवत धर्म का अंग था।

अध्याय २७२ में इन्द्र द्वारा वृत्रासुर के वध का वर्णन है। वृत्र ब्राह्मण था। उसके वध से इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी और तब ब्रह्मा के प्रयत्न से वे उस ब्रह्महत्या से मुक्त हुए। ब्रह्मा ने उसके चार टुकड़े करके अग्नि में, वृक्षों पर, जल में और रजस्वला स्त्रियों में डाल दिए और उनसे

मुक्त होने की शर्तें भी बता दीं। अग्नि को प्रज्वलित पाकर जो हवन न करेगा, जो वृक्षों को काटेगा, जो जल में मल-मूत्र डालेगा और जो रजस्वला से गमन करेगा, उस पर यह ब्रह्महत्या चली जायगी।

अध्याय २७३-४ में ज्वर की उत्पत्ति का वर्णन है। एक बार निमंत्रण न पाकर शिव ने दक्षयज्ञ का विध्वंस किया तो उनके ललाट से स्वेदबिंदु भैरव रूप में उत्पन्न हुआ, वही ज्वर बन गया और उसके अनेक रूप पृथ्वी पर फैल गए। हाथियों का ज्वर उनके मस्तक में ताप, पर्वतों का ज्वर शिलाजीत, जल का ज्वर सेवार, सर्पों का केंचुल, पृथ्वी का ज्वर ऊसर भूमि, घोड़ों का ज्वर उनके गले में मांसखंड बढ़ जाना, मोरों का शिखा निकलना, सिंहों में थकावट होना ही ज्वर का रूप माना गया है। तात्पर्य यह कि कालाग्नि रूद्र का मूर्त रूप ज्वर है।

इसके बाद दक्ष ने शिव को प्रसन्न करने के लिए शिवसहस्रनाम स्तोत्र का पाठ किया। पूना संस्करण में वह प्रक्षिप्त सिद्ध हुआ है और परिशिष्ट में रक्खा गया है (पृ० २०५४-२०६४)। यही स्तोत्र वामनपुराण में वेन कृत माना गया है। इससे मिलता दूसरा शिवसहस्रनाम अनुशासनपर्व में है, जिसे वहां तंडीकृत कहा गया है।

अध्याय २७५ में समङ्ग और नारद के संवाद रूप में शोक और दुःख में समत्व द्वारा प्रसन्नचित्त रहने के उपायों का वर्णन है।

अध्याय २७६ में कल्याण या प्रेम के संदेहरहित मार्ग का वर्णन पाया जाता है।

अध्याय २७७ में अरिष्टनेमि ने सगर को मोक्षप्राप्ति का उपदेश दिया है। इसमें संक्षेप और विस्तार से मुक्त पुरुष के लक्षण बताये गए हैं।

अध्याय २७८ में महादेव जी के शरीर से शुक्राचार्य के जन्म की कथा है।

अध्याय २७९ से २८७ तक जनक और पराशर के संवादरूप में पराशर गीता कही गई है। इसमें श्रेय साधन, शुभकर्म प्रशंसा, दान प्रशंसा, धर्म प्रशंसा, धर्म प्रसिद्धि, तप प्रशंसा, वर्ण धर्म, वैराग्योपदेश, कर्म प्रशंसा

आदि विषयों का घिसी-पिटी शैली में वर्णन किया गया है। इन अध्यायों को पढ़ते हुए ऐसा विदित होता है कि गुप्त युग के राजतन्त्र, न्याय, तन्त्र, शासन और प्रजाओं के नैतिक जीवन के लिए इस सुन्दर और संक्षिप्त सामग्री का राजधर्म में निपुण विद्वानों द्वारा प्रणयन किया गया था। मोक्षधर्म में कई अध्यात्म विषयक गीता हैं, जैसे मंखि गीता (अ० १७१), हारीत गीता (अ० २६९), पराशर गीता (अ० २७६-२८७), हंस गीता (अ० २८८)।

अध्याय २८८ में हंस-साध्य संवाद के रूप में हंस गीता ४५ श्लोकों में वर्णित है। सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति ने सुनहले हंस का रूप धारण किया और सर्वत्र विचरने लगे। साध्य देवों ने उनसे धर्म की जिज्ञासा की तो उन्होंने पहले मधुर वाणी की प्रशंसा की और फिर यह बताया कि वेदों का उपनिषद् सत्य है, सत्य का उपनिषद् दम है, और दम का उपनिषद् मोक्ष है—

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम् ॥ (२८८।१३)

वाक् का वेग, मन का क्रोधवेग, लोभ का वेग, उदर और उपस्थ का वेग—जो इन वेगों को सहता है, उसे ही मैं ब्राह्मण मानता हूं। क्रोधरहित व्यक्ति क्रोध करनेवाले से श्रेष्ठ है। तितिक्षु असहनशील से श्रेष्ठ है।

अमनुष्य से मनुष्य विशिष्ट है। तथा ज्ञान-रहित से ज्ञानवान् श्रेष्ठ है।

मैं शाप का उत्तर शाप में नहीं देता। मेरी दृष्टि में दम अमृत का द्वार है। मैं यह रहस्य ज्ञान तुम्हें बताता हूं कि मनुष्य से श्रेष्ठ यहां कुछ नहीं है।

यह मोक्षधर्म पर्व की स्वर्णाक्षरी उक्ति संस्कृत साहित्यमें अनुपम है—

नाहं शप्तः प्रतिशपामि किंचित् दमं द्वारं ह्यमृतस्ये ह वेद्मि।
गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि। न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित् ॥
(अ० २८८।२०)

सत्य स्वर्ग की सीढ़ी है, जैसे समुद्र पार जाने के लिए नौका होती है।

अ० २८९ में युधिष्ठिर ने प्रश्न किया कि सांख्य और योग में क्या भेद है? मोक्षधर्म पर्व में मुख्यतः पांच विषय हैं। एक तो वैदिक अध्यात्म विद्या जिसका ऊपर बार-बार वर्णन किया गया है, दूसरे सांख्य मत, तीसरे योग का विवेचन, चौथे शैव दर्शन जिसका दक्षयज्ञ विध्वंस के प्रकरण में उल्लेख हो चुका है और पांचवां वैष्णव पाञ्चरात्र मत जिसे नारायणीय धर्म भी कहते हैं। उसका विस्तृत विवेचन आगे नारायणीय पर्व में आवेगा।

सांख्य मतानुयायी सांख्य की और योग मतानुयायी योग की प्रशंसा करते थे। योग मतानुयायी लोगों का कहना था कि ईश्वर के विना कुछ कारणों को मान लेने से मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। सांख्यवादी शास्त्र पर वल देते हैं और योगवादी प्रत्यक्ष अनुभव पर वल देते हैं। योग मत में साधना के ऊपर वहुत गौरव है। वलहीन योगी को विषय खींच ले जाता है, किन्तु वही अपने तेजको दीप्त करके सिद्धि तक पहुंचता है। जैसे धनुर्धारी वाण से लक्ष्य को वेधता है, वैसे ही योगी योगवल से मोक्ष को प्राप्त करता है। ध्यान और धारणा के द्वारा योगी अवश्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। योग के जो गुण शास्त्रों में कहे गए हैं, वे उसके शरीर में प्रकट हो जाते हैं, जैसे—शरीर में हल्कापन, आरोग्य, अलोलुपता, रंग निखर जाना और कंठ में स्वर का उत्तम हो जाना।

योग के वर्णन के वाद अध्याय २९० में सांख्य का विशद वर्णन किया गया है।

: ९३ :

क्षर और अक्षर महिमा

अध्याय २९१ में वसिष्ठ और कराल जनक के संवाद के रूप में क्षर और अक्षर विद्या का विवेचन किया गया है। भूतों की संज्ञा क्षर है और

भूतों के धरातल पर प्रतिष्ठित आत्म चैतन्य की संज्ञा अक्षर है। इसे कूटस्थ भी कहते हैं।

अध्याय २९२ में लगभग १२५ क्रियापथों की बड़ी सूची दी है।

अध्याय २९३ में कहा है कि प्रकृति-पुरुष या माता-पिता के संयोग से इस देह की रचना होती है, जिसमें अनेक गुण और अवयव भरे रहते हैं, जिसका सूक्ष्म परिचय सांख्य और योग के द्वारा होता है। सांख्य और योग को जो एक जानता है, उसी का जानना अच्छा है—एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स बुद्धिमान्। (२९३।३०)।

अक्षर एकत्व है और क्षर नानात्व है। ज्ञात होता है कि २४ तत्त्वों के अतिरिक्त सांख्य मत में २५ वां जीवतत्त्व और २६ वां ईश्वर तत्त्व भी माना जाने लगा था—

पञ्चविंशतिसर्गं तु तत्त्वमाहुर्मनीषिणः। (२९३।४९)

यही गुप्त युग का नया सेश्वर सांख्य था।

अध्याय २९२ से २९६ तक वसिष्ठ और कराल जनक संवाद के रूप में मोक्ष, क्षर-अक्षर धर्म, दान धर्म, मातृ-पितृ-गुण-कथन, अनित्योपदेश, बुद्धिलक्षण—ये विषय हैं।

अध्याय २९७-२९८ में जनक के द्वारा सांख्य का ही विवेचन है।

अध्याय २९९ में जनक द्वारा काल का विवेचन है।

सृष्टि का वर्णन करने के अनन्तर व्यक्त-अव्यक्त, निर्गुण-सगुण, क्षर-अक्षर के प्रलय की अवस्था का भी चित्र खींचा गया है, जब सब मूर्त रूप सहस्रशीर्षा पुरुष में लीन हो जाते हैं। (अ० ३००)

इसके अनन्तर याज्ञवल्य और जनक के संवाद के रूप में पुनः सांख्य दर्शन का वर्णन है। (अ० ३०१-३०३) यहां याज्ञवल्क्य के मुख से इसकी विशद व्याख्या करायी गई है कि जो अव्यक्त निर्गुण और अकर्ता है, उसमें व्यक्त सगुण कर्तृत्व आदि भावों का विकास कैसे हो जाता है।

संस्कृत के उत्थान युग में सांख्य और योग इन दो धर्मों का बहुत ही

घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। सांख्य को ज्ञान और योग को बल का प्रतीक मानते थे।

पाशुपत शैव और पाञ्चरात्र वैष्णव, ये दोनों भी सांख्य और योग को स्वीकार करते थे। मोक्षधर्म में बार-बार सांख्य और योग की इस एकता का उल्लेख किया गया है (एकं सांख्यं च योग च यः पश्यति स तत्त्ववित्। ३०४।४)।

याज्ञवल्क्य उपनिषद् युग के पुराने आचार्य थे। वे जनक के गुरु थे। मिथिला की राजसभा में कितने ही आचार्यों से अध्याय विषय पर उनकी चर्चा हुई थी। वहां उन्होंने अक्षर ब्रह्म की विद्या का प्रतिपादन किया था। यहां अध्याय ३०६ में उन्हीं के मुख से उनका चरित कहलाया गया है। कथा है कि याज्ञवल्क्य ने सूर्य की आराधना करके शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्रों को प्राप्त किया था जो माध्यन्दनी शाखा या वाजसनेयि शाखा के नाम से प्रसिद्ध हैं। शतपथ ब्राह्मण भी याज्ञवल्क्य की रचना है। इसके पहले दो काण्ड इष्टि, ३-४-५ पशुबन्ध, ६-७-८-९ अग्निचयन, और १० वां काण्ड अग्निरहस्य कहलाता है। ११ वें काण्ड का नाम संग्रह है। १२-१३-१४ परिशिष्ट कहलाते हैं। इन्हीं में से अन्तिम १४ वें काण्ड में वे दार्शनिक और अध्यात्म विषय हैं, जिनके केन्द्र में याज्ञवल्क्य का महान् व्यक्तित्व है।

यहां शतपथ के साथ उसके रहस्य, परिशेष और संग्रह भागों का भी उल्लेख है। शतपथ के पहले ९ काण्डों में ६० अध्याय थे जिन्हें षष्टिपथ कहा जाता था। पीछे ५ काण्ड और जोड़े गए जिससे शतपथ नाम हुआ। यहां यह भी कहा है कि सूर्य के वरदान से सांख्य और योग में भी याज्ञवल्क्य को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। यहां कहा है कि याज्ञवल्क्य ने शुक्ल यजुर्वेद की १५ शाखाएं और प्राप्त कीं और अपने सौ शिष्यों को वेद पढ़ाया। वे मिथिला में जनक के यहां यज्ञ के पुरोहित भी बने। उसमें उन्हें भूरि दक्षिणा मिली जिसका आधा भाग उन्होंने अपने मामा वैशम्पायन को दिया।

शतपथ को भी उन्होंने रहस्य और परिशेष के साथ अपने शिष्यों को

पढ़ाया। जब याज्ञवल्क्य इस प्रकार के गम्भीर ग्रन्थों की रचना कर चुके, तब वेदज्ञ विश्वावसु गन्धर्व ने उनसे २४ प्रश्न पूछे जो उत्तरसहित इस प्रकार हैं—

प्रश्न	उत्तर
१. विश्व क्या है ?	अव्यक्त प्रकृति विश्व है।
२. अविश्व क्या है ?	निष्कल ब्रह्म अविश्व है। (दृष्टव्य ऋ० १ । १६४ । १०)
३. अश्वा क्या है ?	अव्यक्त प्रकृति अश्वा है।
४. अश्व क्या है ?	पुरुष अश्व है।
५. मित्र क्या है ?	पुरुष मित्र है।
६. वरुण क्या है ?	प्रकृति वरुण है।
७. ज्ञान क्या है ?	प्रकृति ज्ञान है।
८. ज्ञेय क्या है ?	निष्कल आत्मा ज्ञेय है।
९. ज्ञाता क्या ?	निष्कल पुरुष ज्ञाता है।
१०. अज्ञ क्या है ?	प्रकृति अज्ञ है।
११. क कौन है ?	पुरुष क है।
१२. कौन तपस्वी है ?	प्रकृति तपस्वी है।
१३. अतपस्वी कौन है ?	पुरुष अतपस्वी है।
१४. सूर्य कौन है ?	अव्यक्त प्रकृति सूर्य है।
१५. कौन अतिसूर्य है ?	निष्कल पुरुष अति सूर्य है।
१६. विद्या क्या है ?	पुरुष विद्या है।
१७. अविद्या क्या है ?	प्रकृति अविद्या है।
१८. वेद्य क्या है ?	पुरुष वेद्य है।
१९. अवेद्य क्या है ?	अव्यक्त प्रकृति अवेद्य है।
२०. चल क्या है ?	सृष्टि और संहार की कारणभूत प्रकृति चल है।
२१. अचल क्या है ?	सृष्टि और प्रलय का कर्ता पुरुष ही

अचल है।

२२. क्षय क्या है ? प्रकृति क्षर है।

२३. अक्षय क्या है ? पुरुष अक्षय है।

२४. विनाशशील क्या है ? प्रकृति विनाशशील है।

प्रश्नों का उत्तर देने के बाद याज्ञवल्य ने इतना और कहा, "आन्वीक्षिकी विद्या सहित वेद विद्यारूपी धन का उपार्जन करके, प्रयत्नपूर्वक नित्यकर्म में संलग्न रहना चाहिए। सभी वेद एकान्ततः स्वाध्याय और मनन करने के योग्य माने गए हैं। गन्धर्वराज ! समस्त भूत जिसमें स्थित हैं, जिससे उत्पन्न होते हैं और जिसमें लीन हो जाते हैं, उस वेदप्रतिपाद्य ज्ञेय परमात्मा को जो नहीं जानते, वे परमार्थ से भ्रष्ट होकर जन्मते और मरते रहते हैं।

"सांगोपाङ्ग वेद पढ़कर भी जो वेद द्वारा जानने योग्य परमात्मा को नहीं जानता, वह मूढ़ केवल वेदों का बोझ ढोनेवाला है। हे गन्धर्वराज, प्रकृति जड़ है। इसलिए उसे पच्चीसवां तत्त्व जीवात्मा तो जानता है, किन्तु प्रकृति जीवात्मा को नहीं जानती। जीवात्मा जाग्रत आदि अवस्थाओं में सब कुछ देखता है। सुषुप्ति और समाधि अवस्था में कुछ भी नहीं देखता तथा परमात्मा सदा ही छब्बीसवें तत्त्वरूप में अपने आपको, पच्चीसवें तत्त्व रूप जीवात्मा को और चौबीसवें तत्त्व रूप प्रकृति को भी देखता रहता है।"

प्रकृति के लिए चतुर्विंश, जीव के लिए पञ्चविंश और परमेश्वर के लिए षड्विंश, ये नई संज्ञाएं सेश्वर सांख्य दर्शन में गुप्त युग में बनाई गईं। लिङ्गपुराण में भी इनका प्रयोग हुआ है—

इह षड्विंशको ध्येयो ध्याता वै पञ्चविंशकः।
चतुर्विंशकमव्यक्तं महदाद्यास्तु सप्त च॥
(लिङ्ग पु० १।२८।७)

अध्याय ३०७ में पञ्चशिख ने जनक को मृत्यु के अतिक्रमण का उपाय बताया। यों तो जरा और मृत्यु की निवृत्ति नहीं होती, पर ज्ञान से उनकी निवृत्ति संभव है।

अब यह प्रश्न उठाया गया कि गृहस्थ धर्म का त्याग किये बिना भी क्या मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ? इस विषय में भिक्षुकी सुलभा और धर्मध्वज जनक के संवाद का वर्णन है (३०८।११-९१)। यह संवाद बहुत लम्बा है और सुलभा की बुद्धि मानों रेडियम की ढली है। उसकी चिंगारियां छिटक कर बार-बार ऊपर आती हैं। वह योगविद्या और ब्रह्मतत्त्व को जानने वाली है। वह मिथिलापुरी में आई। राजा ने आश्चर्य से उसके यौवन और कोमलाङ्गों को देखा। राजा ने उसे अन्नादि से तृप्त किया। तब सुलभा ने ब्रह्मदर्शन के विषय में प्रश्न करना चाहा और वह अपनी योगशक्ति के प्रभाव से जनक की बुद्धि में प्रविष्ट हो गई। राजा जनक से प्रश्न करने के लिए उद्यत हो उसने अपने नेत्रों की किरणों द्वारा उनके नेत्रों की किरणों को संयत करके योगबल से उनके चित्त को वश में कर लिया। श्री जनक ने पूछा, "किसी से पूछे बिना उसके शास्त्रज्ञान, अवस्था और जाति के विषय में सच्ची बात नहीं मालूम होती। अतः मेरे साथ जो तुम्हारा समागम हुआ है, इस अवसर पर इन सब विषयों की जानकारी के लिए यथार्थ उत्तर जानना आवश्यक है। मैंने पूर्व समय में मोक्षज्ञान जैसा और जिस गुरु से प्राप्त किया था, उन दोनों का परिचय आप मुझसे सुनें। मेरे गुरु योगी पञ्चशिख थे। सांख्यज्ञान, योगविद्या और राजधर्म इन तीन प्रकार के मोक्ष मार्ग मुझे गुरुदेव से प्राप्त हुए थे। वह सांख्यशास्त्र के पूर्णज्ञाता थे और सारा सिद्धान्त उन्हें यथावत् ज्ञात था। उन्होंने एक वर्षाकाल मेरे यहां बिताया। उन्होंने मुझे त्रिविध मोक्ष धर्म का श्रवण कराया है, परन्तु राज्य छोड़ने की आज्ञा नहीं दी है।"

मोक्षधर्म के इस प्रवाह में सांख्यमत का विवेचन कुछ विस्तार से आया है। इसमें चार बड़े आचार्यों ने भाग लिया। १—वसिष्ठ-जनक संवाद (अ० २९१-२९७), २—याज्ञवल्क्य-जनक (दैवराति) संवाद (अ० २९८-३०६), ३—पञ्चशिख जनक संवाद (अ० २११-१२; ३०७-८), ४—कपिल और आसुरि संवाद (यह कुम्भकोणम् संस्करण में है किन्तु पूना संस्करण में प्रक्षिप्त है। मोक्षधर्म परिशिष्ट १, अध्याय २९)। आसुरि पंचशिख के

गुरु और कपिल के शिष्य थे। सांख्य दर्शन के इतिहास में उनका ऊंचा स्थान है। उनका मत इस प्रकार था—

अव्यक्त और व्यक्त दोनों के संयोग से सृष्टि हुई। सत्त्व, रज, तम ये प्रधान अथवा प्रकृति हैं। अव्यक्त अप्रतर्क्य, अपरिमेय और अग्राह्य है। अव्यक्त से गुणों का अविर्भाव होने से व्यक्त प्रकृति अस्तित्व में आती है। अव्यक्त ईश्वर सब बीजों का अधिष्ठान है। इस अव्यक्त की सलिल, अमृत, अभय, अक्षर, अज, जीव आदि संज्ञाएं हैं। बुद्धि व्यक्ताव्यक्त है। सत्ता, स्मृति, मेधा, व्यवसाय, समाधि उसके नाम हैं। बुद्धि से अहंकार और अहंकार से पंच महाभूत और एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। प्राचीन परम्परा में इनके नामान्तर आदित्य, अश्विनी और नक्षत्र हैं। ये २३ तत्त्व हुए, चौबीसवां प्रकृति और पच्चीसवां अव्यक्त है। ज्ञात होता है कि यह कोई पुरानी ज्ञान परम्परा थी, जो काल पाकर लुप्त हो गई। किन्तु इसमें सांख्य का सिद्धान्त स्फुट है।

सांख्य परम्परा में पंचशिख का मत सबसे प्रबल था। अध्याय २११-१२ और ३०७-८ में उसका उल्लेख है। ब्रह्मवादिनी सुलभा और जनक के संवाद रूप में उसी का विस्तार है। २११-१२ में उसे जनक-पञ्चशिख संवाद कहा गया है। जनक ने पंचशिख को सांख्यमुख्य कहा है और यह भी बताया है कि पंचशिख ने उन्हें सांख्यमार्ग का उपदेश देकर भी राज्य छोड़ने को नहीं कहा। जनक के कथनानुसार आचार्य पंचशिख ने उन्हें तीन प्रकार की निष्ठाएं बताई थीं—१. ज्ञाननिष्ठा, २. कर्मनिष्ठा, ३. कुटुम्बी गृहस्थ की निष्ठा। लोकोत्तर ज्ञान और कर्म का सब प्रकार से त्याग ज्ञाननिष्ठा है। केवल कर्म का आश्रय कर्मनिष्ठा है। तीसरी निष्ठा में यम-नियम, परिग्रह आदि का आश्रय लेकर कुटुम्बियों के समान जीवन बिताया जाता है। यह त्रिविध मोक्षमार्ग है। ज्ञात होता है, ये तीन निष्ठाएं या तीन प्रकार का मोक्षमार्ग क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिए था, जिसका पालन मिथिला के जनक वंश में किया जाता था। अकिंचन बनने

से मोक्ष नहीं होता और सब कुछ रखने से बंधन नहीं होता (आकिंचन्ये न मोक्षोऽस्ति कैंचन्ये नास्ति बन्धनम्। ३६०।५०)।

पंचशिख आचार्य क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के भेद को मानते थे। वह जातिनिर्वेद और कर्मनिर्वेद को स्वीकार करते थे। वह स्वभाव को भी स्वीकार करते थे। सुख-दुःख और पंचतन्मात्राओं की सत्ता भी उन्हें स्वीकार थी; वे मन का अस्तित्व और त्यागशास्त्र को भी मानते थे। सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों को भी मानते थे। शरीर के विषय में उनकी परिभाषा थी कि यह ३० कलाओं से बना है। वे इस प्रकार हैं—

एक विंशश्च दश च कलाः संख्यानतः स्मृताः।

१. शब्द, २. स्पर्श, ३. रस, ४. रूप, ५. गन्ध, ६-१०. पंचेन्द्रिय, ११. मन, १२. बुद्धि, १३. सत्त्व, १४. क्षेत्रज्ञ, १५. वासना, १६. पृथक्-पृथक् कलाओं की समग्रता, १७. प्रकृति, १८. व्यक्ति, १९. सुख-दुःख, जरा-मृत्यु, लाभ और हानि, प्रिय-अप्रिय द्वन्द्वों का योग, २०. काल, २१-२५. पंच महाभूत, २६. सद्भाव, २७. असद्भाव, २८. विधि, २९. शुक्र, ३०. बल। इस प्रकार ये सारी कलाएं जहां एकत्र हों, उसे शरीर कहते हैं। चरक संहिता में भी पंचशिख का मत उल्लिखित है, उसमें पंच तन्मात्राओं का अभाव है। पुरुष को अक्रिय और निर्गुण नहीं माना गया। ब्रह्मपद की प्राप्ति मोक्ष है। अश्वघोष ने बुद्ध और अलार कालाम के संवाद में सेश्वर सांख्य का उल्लेख किया है। ज्ञात होता है कि सांख्य की नई विशेषता प्रथम शती ई० के लगभग आरम्भ हो गई थी। कोई स्थूल दार्शनिक इन कलाओं को व्यक्त प्रकृति और कोई अव्यक्त प्रकृति मानते हैं। ज्ञात होता है कि आगे चलकर सांख्य मत ने बौद्ध दर्शन के अनुसार अपने मत को संभाला और जहां तक संभव हुआ, पुरुष से स्वतंत्र अव्यक्त या प्रधानसंज्ञक प्रकृति का मत स्वीकार किया। यही मत पंचशिख आचार्य के नाम से विख्यात हुआ। जनक और सुलभा संवाद में जनक ने स्पष्ट पंचशिख का नाम लेकर जो मत रक्खा है, वह प्राचीन काल से परम्परा प्राप्त पंचशिख का सेश्वर सांख्य मत था। उसके बाद भिक्षुणी सुलभा

ने पंचशिख का नाम लेते हुए जो कहा है, वह नवीन सांख्य मत ज्ञात होता है; जिस पर बौद्ध दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा था और जिसमें जीव, चैतन्य या ईश्वर की सत्ता का निराकरण था। वस्तुतः महाभारत की इस सामग्री का संबंध संस्कृतोत्थान युग से था, जब ब्राह्मण और बौद्ध दार्शनिक अपने-अपने दार्शनिक मतों का संतुलन कर रहे थे और दांतेदार पहियों की भांति अपने तर्कों का मेल बैठा रहे थे। (अ० ३०८)

अध्याय ३०९ में शुकदेव को वैराग्य उत्पन्न होने की कथा है और अध्याय ३१०-३२० तक शुकचरित का वर्णन है। शुकदेव जी को ज्ञान सीखने के लिए मिथिला के राजा जनक के पास भेजा गया। वहां उनकी कड़ी परीक्षा ली गई। अन्त में उन्हें ब्रह्मज्ञान हुआ। इसे पाकर वह अपने पिता व्यास के आश्रम में बदरीनाथ गये। इस प्रसंग में मोक्षधर्म के लेखक ने लिखा है कि स्वामी कार्तिकेय ने अपनी शक्ति वहां गाड़ दी और यह चुनौती भी दी थी कि जो मुझसे अधिक शक्तिशाली हो, वह उस शक्ति को उखाड़ दे। कोई दूसरा देवता उसे उठा न सका। केवल विष्णु ने उसे हिला दिया। यह बहुत विचित्र कहानी है, किन्तु पुरातत्त्व की दृष्टि से इसमें सत्यांश है। आज भी बदरीनाथ से ८ मील पर जोशीमठ के पाण्डुकेश्वर मन्दिर के आंगन में वह शक्ति गड़ी हुई है। वह ऊंचाई में काफी बड़ी है और उस पर गुप्त लिपि में एक लम्बा लेख भी है। हो न हो मोक्षधर्म के लेखक को उसका पता था और उसका यह वर्णन उसी पर घटित होता है।

: ९४ :

नारायणीय पर्व

"मोक्षधर्म पर्व में कितने ही ऊंचे विषयों का अवलोकन हम कर चुके हैं, जिनका धरातल काफी कसा हुआ था। किन्तु पिछले कुछ अध्यायों में

हमें सामग्री की शिथिलता दिखाई पड़ी थी। अब हम एक ऐसे प्रकरण की व्याख्या करने जा रहे हैं, जो महाभारत तो क्या सारे भारतीय वाङ्मय में अपना अनन्य स्थान रखता है। इस प्रसंग का नाम नारायणीय पर्व है। इसमें १६ अध्याय (३२१-३३८) और एक सहस्र श्लोक हैं। यह किसी महान् कवि की रचना है। इसकी विलक्षणता यह है कि, इसमें भारत के नाराणीय धर्म और सासानी ईरान के पह्लवी धर्म, इन दोनों का विचित्र समन्वय किया गया है। यह प्रकरण किसी ऐसे प्रज्ञाशील व्यक्ति ने ईसा की प्रथम तीन शतियों में संग्रहीत किया जब ईरानी धर्म के देवता और उसके सिद्धान्त घर-घर में व्याप्त हो गये थे। यह पर्व बहुत उद्धृत किया गया है, किन्तु उसका ठीक मर्म पहले कभी नहीं समझा गया। अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के गोहाटी अधिवेशन के सभापति के भाषण में पहली बार हमने इन अर्थों का कुछ संकेत किया था।

कल्पना कीजिये कि मध्यदेश, वदरीनाथ और श्वेतद्वीप—ये नारायणीय धर्म के तीन केन्द्र थे। नारद मध्यदेश से बदरीनाथ गये। वहां उन्होंने तप करते हुए नर-नारायण से एकान्तिन धर्म के विषय में पूछा जो नारायणीय धर्म की एक शाखा थी। उन्होंने नारद को श्वेतद्वीप में जाने की सलाह दी।

एकान्तिन धर्म क्या था ? वैसे तो वैष्णावों के कई भेद थे, जैसे पांचरात्र, वैखानस, एकान्तिन, सात्वत, भागवत और वैष्णव। पर धीरे-धीरे इनकी विभाजक रेखाएं मन्द हो गईं और सभी भागवत कहलाने लगे। बाण ने हर्षचरित में पांचरात्र, भागवत, वैखानस और सात्वत का पृथक् उल्लेख किया है।

इनमें सात्वत चतुर्व्यूह के, एकान्तिन नरनारायण के, पांचरात्र चक्रपुरुष के, वैखानस गृहस्थ जीवन के बाद वानप्रस्थ आश्रम को मानते थे। एकान्तिन नरनारायण ऋषि के अनुयायी थे और नर का अन्तर्भाव नारायण में मानते थे। यही उनकी एकान्तिन संज्ञा का कारण था। नारद जी बदरीनाथ

के पास गन्धमादन पर्वत पर गये, जहां नरनारायण नामक चोटियों पर ये दो ऋषि तपस्या कर रहे थे।

नारद जी ने वहां पहुंच कर जिन लोगों से भेंट की, उन लोगों का वर्णन ठीक ईरानी धर्म के दस्तूरों पर घटित होता है। वह किसी भी प्रकार भारतीय नहीं है। उनकी यह विशेषता इस प्रकारण में लगभग पांच-छह वार लिखी गई है। एक ही प्रकार के वर्णन को कई तरह संपुटित करके पांच-छह बार दुहराया गया है। महाभारत की यह जानी पहचानी शैली (जक्स्टापोजिशन) थी।

१. उन्हें श्वेताः पुमांसा या गोरे रंग का कहा गया है (३२२।९)। इसे ही अन्यत्र चन्द्रवर्चसः मानवाः (३२२।९) या चन्द्रमा के रंग के गोरे पुरुष कहा है। और भी, श्वेतांश्चन्द्रप्रतीकाशान्सर्वलक्षणलक्षितान् (३२३।३१-३२) कहा गया है। वे अत्यंत श्वेत वस्त्र पहनते थे और ऐसा कोई अन्न नहीं खाते थे, जिसमें हिंसा हो।

२. वे श्वेतद्वीप के निवासी एकान्त भाव के जानने वाले थे—एकान्तभावोपगताः (३४६।२५-२६), एकान्तिनस्ते पुरुषाः श्वेतद्वीप-निवासिनः (३१३।२६)। यहां एकान्त धर्म का तात्पर्य अहुरमज्द के धर्म से था, जिसके लिए भारतीय शब्द ब्रह्म या देवहरिमेधस था।

३. वे चन्द्रवर्चस पुरुष पूर्व और उत्तर की ओर मुंह करके हाथ जोड़े हुए मानस जप कर रहे थे—

नित्याञ्जलिकृतान्ब्रह्म जपतः प्रागुदङ्मुखान्।
मानसो नाम स जपो जप्यते तै महात्मभिः॥

उनके नेत्रों की पलकें स्थिर थीं (निष्पन्दहीनाः ३२२।८), जैसा कि दस्तूर सूर्य की ओर दृष्टि के समय आज भी करते हैं।

४. वे अनशन अर्थात् निराहार व्रत के अनुयायी थे। आगे कहा गया है कि इस प्रकार के श्वेत पुरुष फेनपाचार्य (३२५।१००) थे। श्वेतद्वीप निवासी इन पुरुषों को मोक्ष मिलता है।

५. वे उत्तम-उत्तम सुगंधियां (सुगन्धिनः, ३२२।१२०; ३२२।९;

३२३।२५) के शौकीन थे, जिन्हें वे वस्त्रों और शरीर में लगाते थे। उन दस्तूर या Magi पुरोहितों के वंशज आज भी बम्बई तट पर मानस जप करते देखे जा सकते हैं।

६. वे आंख बंद किये रहते थे और सब पापों से निवृत्त माने जाते थे। उनके श्वेत वस्त्र और श्वेत वर्ण मानसिक पवित्रता के सूचक थे। उन्हें निरिन्दिंय और पंचेन्द्रियविवर्जिता: कहा गया है। इसका मुख्य लक्ष्य उनके ब्रह्मचर्य व्रत पर था। वे विवाह नहीं करते थे।

(अतीन्द्रियाश्चानशनाश्च तत्र निष्पन्दहीनाः सुसुगन्धिनश्च।३२२।९)

इन लक्षणों को सुनकर युधिष्ठिर ने पुन: पूछा कि हमारे यहां जो पुरुष मुक्त हो जाते है, उनमें तो ये गुण नहीं मिलते, जो आपने अभी श्वेत द्वीप के लोगों के बारे में कहे हैं। वहां ऐसे लोगों का जन्म कैसे हुआ? (३२२।१३—अतिन्द्रिया निराहारा अनिष्पदा: सुगधिन:)। पापरहित होने के लिए जिस सात्वत विधि का उल्लेख है, वह मनसा, वाचा, कर्मणा शुद्ध बनने का उपाय था, जो सर्वांश में ईरानी धर्म से मिलता है—

१. वाक्,—सूक्त, = हूख्त

२. मन:शुद्धि,—सुमत = हुमत

३. कर्मशुद्धि—हुवर्श्त

इन तीन विशेषताओं को संस्कृत भाषा में इस प्रकार स्पष्ट कहा गया है—

नानृता वाक्समभवन्मनो दुष्टं न चाभवत्।
न च कायेन कृतवान्स पापं परमण्वपि॥ (३२२।२५)

अर्थात् वाक् में अनृत का अंश नहीं था। मन में कोई दुष्ट भाव नहीं था और शरीर से परमाणु बराबर भी पाप नहीं करते थे।

सप्तचित्रशिखण्डी मुनि

वैदिक धर्म की मान्यता थी कि एक अङ्गिरा ऋषि सृष्टि के लिए सात अङ्गिरा बन गये। ईरानी धर्म की मान्यता है कि एक अहुरमज़्द

ने सात अमेषस्पेन्द या अमृत आत्माओं का निर्माण किया। उन्हें संस्कृत भाषा में चित्रशिखण्डिन: (३२२।२७) कहा गया है। यह शब्द यहां और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत चित्र ईरानी चिथ्र का रूप है जिसका अर्थ पुत्र होता है। अमिष् का अर्थ है अमृत और स्पेन्द का अर्थ श्वेत। अर्थात् अमृत का श्वेत देवता।

ये सृष्टि की प्रक्रिया को चलाने वाले आधारभूत सात मुनि थे। इसीलिए संस्कृत में उन्हें शिखण्डिन: कहा गया है। मोक्षधर्म में उन सातों के अलग-अलग नाम नहीं दिये गये, किन्तु ईरानी मान्यतानुसार वे इस प्रकार हैं। अहुरमज्द या देव हरिमेघस् उनके निर्माण कर्ता हैं। किन्तु अहुरमज्द का नाम पुन: उन सातों में पहली बार लिया जाता है—

१. अऊहर मज़्द—यह देख कर आश्चर्य होता है कि इन सातों की सूची में अऊहर मज़्द को पहला स्थान दिया गया है, जैसे वैदिक मत में अङ्गिरा को सात ऋषियों में मुख्य माना गया—

विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपस:। ते अंगिरस: सूनवस्ते अग्ने: परि जज्ञिरे ॥ १०।६२।५ ऋग्वेद।

२. वोहूमन्—(वसुमनस्)

३. अर्द वहिश्त—(ऋतवसिष्ठ)—सृष्टि रचना में यह सबसे प्रभावशाली है।

४. शतवेरो—(क्षत्रवीर)

५. स्पेन्दर मद् (श्वेतामृत)

६. होर्वदद् (स्वरतात्)

७. अमेरो दद् (अमृतात्)

इनमें स्पेन्दर मद् स्त्री और शेष पुरुष हैं। वे सभी शक्ति और प्रभाव में अहुरमज्द के तुल्य हैं। किन्तु फिर भी सृष्टि का मूल कारण अहुरमज्द ही है और उसका प्रभाव अचिन्त्य है। भारतीय लेखक ने ब्रह्मा जी के पुत्र सात आङ्गिरस ऋषियों को सप्त चित्रशिखण्डियों के समकक्ष रक्खा है, जिनके नाम ये थे—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस, पुलस्त्य, पुलह

क्रतु और वसिष्ठ। इन सातों ने एकमति होकर शास्त्र बनाया (तैरेकमतिभिर्भूत्वा यत्प्रोक्तं शास्त्रमुत्तमम्। ३२२।२६)।

यह शास्त्र कौन था और उसका वर्ण्य विषय क्या था? अपने यहां यह शास्त्र महाभारत था, जो शतसाहस्री (या एक लाख श्लोकों की) संहिता नाम से परिचित माना जाता था (कृतं शतसहस्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम्। ३२२।३६)। सासानी धर्म में यही स्थान दीनकर्त का था। यहां कहा है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति विषयक जितने धर्म हैं, यह शास्त्र उन सबका स्रोत था और इसके अन्त में मोक्ष का वरदान किया गया था (तत्र धर्मार्थकामा हि मोक्षः पश्चाच्च कीर्तितः। ३२२।३०)। दोनों का विषय लोकतन्त्र का समस्त व्यवहार था। अमेषस्पन्दों ने लोकों का मानस चिन्तन करके इस शास्त्र की रचना की। जो अदृश्य नारायण थे, उन्होंने व्यास के रूप में शरीर धरकर इस शास्त्र का निर्माण किया। सासानी मान्यता के अनुसार अदृश्य अहुरमज्द देव ने पहले अमेषस्पन्द के रूप में मूर्त या प्राकृत शरीर रखकर अन्य अमेषस्पन्दों के साथ इस शास्त्र की रचना में सहयोग दिया। दीनकर्त विशुद्ध सासानीय युग की रचना है, जो अपने यहां गुप्त काल का समसामयिक था, जब महाभारत के बहुत बड़े अंश की रचना हुई, जैसा हमने बहुत स्थानों पर पहले कहा है। महाभारत में त्रिदेवों के साथ एक ब्रह्म का सिद्धान्त प्रतिपादित है। दीनकर्त में भी अवेस्ता का देवगाथाशास्त्र बहुत प्रकार से उपबृंहित किया गया है और सबसे ऊपर अहुरमज्द की महिमा है। उसमें अध्यात्म का स्वर सर्वोपरि है।

दीनकर्त में अहुरमज्द को सर्व देवाधिदेव के रूप में वर्णित किया गया है। वह अत्यन्त विशुद्ध और सर्वातिशायी कल्पना है, जैसी अन्य सासानी साहित्य में उपलब्ध नहीं होती। दीनकर्त में प्राचीन अवस्ता साहित्य का पह्लवी अनुवाद तो है ही, उसमें सासानी ईरान की सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और व्यावहारिक संस्थाओं का भी विस्तृत वर्णन है। दोनों शास्त्रों में नारायण, देव, हरि और प्रभु को पर्याय माना गया है (श्लोक ३१)।

ब्रह्मा की पुत्री देवी सरस्वती ऋषियों में प्रवृष्ट हुई; और उधर ऋता देवी सरस्वती या अशदेवी (प्रथमसर्गजा) अमेषस्पन्दों में प्रविष्ट हुई। दोनों शास्त्र ऋषियों से भावित हैं। संपूर्ण लोकतन्त्र का इसी शास्त्र से प्रवर्तन हुआ और सर्वत्र इसका प्रमाण माना गया (श्लोक ३६)। जैसे महाभारत में सब वेदों का प्रमाण माना गया, ऐसे ही दीनकर्त में पूर्व अवेस्ता वाङ्मय का।[1]

इन दोनों शास्त्रों में बृहस्पति और उशना के राजशास्त्रों का प्रमाण है (३२२।४२)। बृहस्पति देवों के और उशना असुरों के गुरु थे। देव हरिमेधस् का बार-बार उल्लेख आया है (३२३।११, ३३६।२८, ३३७।५४, ३३५।८)। यह अहुरमज्द का संस्कृत रूप था। सासानी भाषा में उसे हर्मुज कहा जाता था। इसी का संस्कृत में हरि हुआ। यह उल्लेखनीय है कि नारायण के अर्थ में हरि शब्द का प्रयोग गुप्त युग के पूर्व के किसी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता। वहां हरि शब्द तो है, किन्तु इन्द्र या घोड़े के अर्थ में आया है, विष्णु के अर्थ में नहीं, और जो एक-दो स्थल विष्णु वाची हैं भी, वे संदिग्ध हैं। इतने बड़े महाभाष्य या वैदिक साहित्य में भी हरि शब्द विष्णु के लिए नहीं आता।

राजा वसु ने अश्वमेध यज्ञ किया, पर वह अहिंसावादी था। इसलिए देव हरिमेधस् ने अप्रत्यक्ष दर्शन देकर उसके हविर्भाग को ग्रहण किया (अदृश्येन हृतो भागो देवेन हरिमेधसा। ३२३।१२)। वसु की पहचान निश्चित नहीं, यद्यपि कुषाण सम्राटों के उत्तर काल में वसुनामाङ्कित राजा के बहुत से सिक्के अन्तर्वेदी से ईरान की सीमा तक मिले हैं। लिखा है कि अहिंसक यज्ञ से बृहस्पति को क्रोध हुआ, किन्तु उन्हें समझा दिया गया कि हिंसा इस युग का धर्म नहीं है। तब एकत, द्वित और

---

१. दीनकर्त का मूल पह्लवी बृहत् संस्करण, रोमन प्रतिलिपि और कहीं-कहीं अनुवाद के साथ केगेनपाल लन्दन से प्रकाशित हुआ था, जो १९ जिल्दों तक मैंने देखा है। —लेखक

त्रित नामक तीन सदस्यों ने कहा। इनके विषय में भारत और ईरान दोनों धर्मों में मान्यता थी।

इन्होंने कहा कि श्वेत द्वीप में क्षीर समुद्र के उत्तर चन्द्रवर्ण या चन्द्रवर्चस् पुरुष रहते हैं, जो एकान्तिन् या एकान्त धर्म के मानने वाले हैं। ये अहुरमज्द के अनुयायी थे। वहां हमने चन्द्र के समान गौर वर्ण महात्माओं को ब्रह्म या अहुरमज्द का मानस जप करते हुए देखा। उस द्वीप में तेज प्रधान है और वे पुरुष समतेज वाले हैं। कोटि-कोटि सूर्य की प्रभा हमें वहां दिखाई पड़ी। वे पुरुष बार-बार नमः का उच्चारण करते थे।

संस्कृत नमः से ही फ़ारसी नमाज की व्युत्पत्ति हुई है। विष्णु और अहुरमज्द दोनों के लिए 'जितं ते' यह सांकेतिक शब्द चालू हुआ। भागवत में और कुछ अभिलेखों में यह शब्द आया है।

ब्रह्म भाव में अनुष्ठित वे सब मानव एक जैसा भाव रखते थे और वह भाव अहुरमज्द या देवहरिमेधस् के एकत्व का था। सासानी युग में ईश्वर के लिए अहुरमज्द यह नाम सर्वोपरि था। असु का ईरानी रूप अहु था। उससे अहु सम्पन्न देव अहुर कहा गया, जो वैदिक असुर के समतुल्य था। अहुरमज्द में मज्द शब्द का संस्कृत पर्याय मेधस् माना गया; किन्तु वैदिक युग में असुर महत् शब्द मिलता है और महत् ही मज्द का मूल रहा होगा। वस्तुतः सासानी युग में अहुरमुज, अहुरमज, हुर्मुज—ये कई रूप प्रचलित हो गये थे। हरिमेधस् रूप जब एक बार प्रचलित हुआ, तो संस्कृत साहित्य में वही मान लिया गया, जैसा अध्याय ३२५ में और कई पुराणों में हम देखते हैं।

यह भी कहा गया कि हमारे जो देवाधिदेव हैं, उन्हें सशरीर रूप में कोई नहीं देख सकता, इसलिए आप लोग वापस जाइये। जो एकान्त भक्त है वही उनके दर्शन पा सकता है। वे प्रभामण्डल से युक्त हैं।

यह अहुरमज्द की प्रभा की ओर संकेत है जिसे ईरानी मत में हर्र या फ़र्र (सं० स्वर) कहा जाता है। इस प्रकार वसु का यज्ञ समाप्त हुआ (अ० ३२३)। अध्याय ३२४ में अज शब्द के विषय में देवों और ऋषियों

का विवाद लिया गया है। देवों ने अज का अर्थ छाग या बकरा लिया और ऋषियों ने बीज या धान्य लिया। ये ऋषि ईरानी दस्तूर थे, जो अहिंसक यज्ञ के पक्षपाती थे। इस विवाद में अंतिम निर्णय वही निकला कि अज का अर्थ पशु से नहीं बीज से है।

अध्याय ३२५ में वह गद्य स्तोत्र है, जिसे नारद जी ने देवदेव अहुरमज्द के लिए पढ़ा। इससे १७१ नाम और विशेषण हैं। यह स्तोत्र संस्कृत साहित्य में विलक्षण है। इस प्रकार लम्बी नामों की सूचियां दीनकर्त में भी पाई जाती हैं। इस सूची में से कुछ नाम ध्यान देने योग्य हैं— श्वेत, चन्द्रप्रभ, महाभासुर, सप्तभासुर, हरिहय = हयग्रीव, पंचकालज्ञ, पंचरात्र, पंचयज्ञधर, संज्ञासंज्ञ, तुषित, सामिकव्रतधर, आदि।

अध्याय ३२६ में सांख्य दर्शन का छींटा देते हुए पुरुष को पंचविंशक कहा गया है। सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण हैं। ये सब शरीरों में रहते हैं। इन गुणों को क्षेत्रज्ञ भोगता है, किन्तु वह स्वयं इनसे नहीं भोगा जाता।

अध्याय ३२७ में पुनः श्वेतद्वीप और वहां के परम देवदेव के उपदेश से दर्शन का वर्णन किया गया है। इसमें पहले ही की भांति तीसरी बार श्वेतद्वीप का वर्णन है।

सन, सनत्, सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और कपिल ये सात ऋषि सृष्टि के आरम्भ में हुए। यह सप्त अमेषस्पन्द की ओर संकेत है, जिन्हें स्वयमागतविज्ञान कहा है (स्वयमागतविज्ञानाः ३२७।६५)।

अध्याय ३२८ में गुणकर्म के आधार पर भगवन्नाम निरुक्ति कही गई है, जिसमें नारायण नाम की निरुक्ति इस प्रकार से की गई है—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं मम तत्पूर्वमतो नारायणो ह्यहम्॥ (३२८।३५)

वासुदेव—

छादयामि जगद्विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः।
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम्॥ (३२८।३६)

अग्नि और सोम ये दोनों एक ही योनि है, जिनसे चराचर जगत उत्पन्न हुआ है (अग्निसोमेन संयुक्तं एकयोनिमुखं कृतम् । ३२८।५२)।

अध्याय ३२९ में प्रश्न है कि अग्नि और सोम दोनों अलग अलग हैं। फिर भी इन्हें एकयोनि क्यों माना जाता है ? यह वैदिक प्रश्न था जिसे भागवतों ने नारायणीय धर्म के भागवत दृष्टिकोण से स्पष्ट किया है। आरम्भ में अत्यन्त सुन्दर गद्य है जो ऋग्वेद के नासदीय सूक्त का सारांश ज्ञात होता है।

सदसद, व्यक्ताव्यक्त, ब्रह्मक्षत्र की भांति अग्निसोम भी सृष्टि प्रक्रिया में आवश्यक द्वन्द्व हैं। अग्नि के रूप में विष्णु सब के भीतर प्रविष्ट होकर प्राणों को धारण करता है। यहां त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप और दधीचि की कथा गद्य में कही गई है। दधीचि की हड्डियों से बनाये हथियारों से इन्द्र ने विश्वरूप का वध किया। विश्वरूप के तीन मस्तक थे—सत्त्व, रज, तम। विश्वरूप का यह लम्बा उपाख्यान इस प्रसंग में आगन्तुक है; और नारायणीय पर्व का जो प्रवाह चल रहा था उससे अनमोल है।

अध्याय ३३० में वैदिक शाखाओं का संक्षिप्त उल्लेख है। उसके बाद रुद्र और नारायण का मेल बताया गया है।

अध्याय ३३१ में श्वेतद्वीप की कथा का सूत्र फिर जोड़ा गया है। नारदजी वहां से लौटकर पुनः बदरीनाथ में नरनारायण के पास आये। नरनारायण के वर्णन में उन्हें जालपाद और जालभुज कहा गया है। इसका अर्थ यह था कि हाथों और पैरों को अंगुलियों के बीच में त्वचा जुड़ी रहती थी, जैसे बत्तख की अगुलियों में रहती है। यह गुप्तकालीन प्रतिमा शास्त्र का लक्षण है और ऐसी मूर्तियां भी मिली हैं। मंकुवार से प्राप्त बुद्धमूर्ति में यह लक्षण स्पष्ट है। कालिदास ने भरत के हाथ को जालागुंलि लिखा है।

अध्याय ३३२ में नरनारायण के मुख से ईरानी परम्परा का भागवत धर्म के साथ समन्वय कराया गया है। इसमें वोहुमन आदि छह देवात्माओं का अहुरमज्द नामक सातवें देव के साथ उल्लेख करते हुए सासानी

धर्म की गूढ़ शब्दों में व्याख्या है। नारद उस व्रत को सीखकर बदरी-विशाल में आये और नारायण से उसे कहा।

अध्याय ३३३ में वाराह रूपधारी नारायण द्वारा पार्थिव पिण्डों की स्थापना का उल्लेख है। वे पिण्ड ही पितर रूप में परिवर्तित हुए। यहां सासानी धर्म के पितरों की ओर संकेत है, जिन्हें वे फ्रवषि कहते थे और जिनके लिए बहुत-सा विधि विधान बरता जाता था। अर्दविराफ नामक ग्रंथ में ईरानियों की पितृ पूजा का उल्लेख है। नारायणीय पर्व में नारद की कथा को महदाख्यान कहा गया है। इसमें धर्म के साथ सांख्य-योग का पुट था।

अध्याय ३३५ में उसी पुराने सूत्र को पुनः जोड़ते हुए और अधिक स्पष्ट किया गया है। इसमें कहा गया है कि हरिमेधस या अहुरमज्द का एक रूप अश्वशिरः है। जिन्हें यहां नरनारायण कहा गया है, वे ही हरि मेधस के रूप थे और उनका जन्म धर्मगृह या ईरानी आतिशगाह या अग्यारी में हुआ था। इसका आशय यह है कि वहीं अहुरमज्द की पूजा की जाती थी।

ब्रह्मा ने अपने सात जन्मों का उल्लेख किया है जिनमें पहला मानस जन्म वोहून् ज्ञात होता है।

श्वेतद्वीप और वहां के चन्द्रवर्चस् पुरुषों का काफी वर्णन हो चुका था। पांचवे संपुट में फिर उसका वर्णन किया गया (३२६। १७)—

प्रभामण्डल दुर्दृशः (३२३ । ४९), चन्द्रवर्चस : (३२६ । १८), सहस्रार्चिषः (३२६ । ११७)।

अध्याय ३३६ में विष्णु के धर्मावतारों का वर्णन करते हुए एकान्तिक भावों का विवेचन किया गया है। हरि अर्थात् अहुरमज्द उन सबको प्रसन्न करते हैं जिनके हृदय में उनके प्रति एकान्तिक भाव है। जो पाप-पुण्य से रहित हैं, वे चतुर्थ गति में पुरुषोत्तम को प्राप्त करते हैं। यह एकान्तधर्म नारायण को प्रिय है। एकान्तिन् पुरुषों की विशेष गति मैं जानता हूं।

एकान्तिनों की चर्चा क्या है? इस का वर्णन नारद ने अर्जुन से किया था। नारायण के मुख से इसका मानस जन्म हुआ। ब्रह्मा ने एकान्त धर्म को दैव और पित्र्य दो भागों में बांटा। यहां ईरानी धर्म के २१ यैज़त और प्रवष या पितरों से तात्पर्य है। उसे फेनप या फेन का पान करने वाले आचार्यों ने प्राप्त किया। फेनपों से उसकी परम्परा वैखानसों में आई। वैखानसों से सोम ने प्राप्त किया। सोम से पितामह ने इस धर्म को जाना। उसने रुद्र को दिया। रुद्र ने योगस्थित हो कर उसे वालखिल्यों को दिया। उनसे सुपर्ण नाम के ऋषि ने प्राप्त किया। यही त्रिसौपर्ण व्रत कहलाता है। ऋग्वेद में भी इस सौपर्ण व्रत का उल्लेख है। यहां ईरानी धर्म के त्रिसौपर्ण और वैदिक धर्म के त्रिसौपर्ण का मेल वैठाया गया है। इसके वाद नारायण ने श्रवण से उत्पन्न सृष्टि को प्रकट किया। वही सात्वत धर्म है। ये संकेत सासानी धर्म में वद्ध हुए होने से स्पष्ट नहीं हैं। सृष्टि वन जाने पर ब्रह्मा ने देव हरिमेधस् को प्रणाम किया और उनसे इस प्रमुख धर्म को रहस्य, संग्रह और आरण्यक के साथ गृहीत किया।

और भी कितने ही नामों का उल्लेख करते हुए उस अग्रणी सात्वत धर्म की परम्परा का अवतरण कहा गया है। किन्तु हमने जिस पद्धति का संकेत किया है, उसके बहुत दूर तक अनुसरण की आवश्यकता है। यह दोनों धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन पर निर्भर है। ऐसा करने पर ही महाभारत का यह पूरा प्रकरण समझा जायगा।

जो अपने को सात्वत कहते हैं, वे इस सनातन और दुर्विज्ञेय धर्म को जानते हैं। कोई इसे द्विव्यूह, कोई त्रिव्यूह, कोई चतुर्व्यूह कहते हैं। यह एकान्तिक धर्म है। एकान्तिव्रत को जानने वाले पुरुषों की संख्या वहुत नहीं है। अहिंसक, आत्मवित् और सर्वभूतहित में लगे हुए एकान्तिक पुरुषों की संख्या यहां वहुत हो, ऐसी हमारी कामना है।

यहां यह कहा जा सकता है कि परमदेव ब्रह्म अहुरमज्द, नारद श्रवोष और व्यास ज़रथुश्ट के समतुल्य हैं।

: ९८ :

तेरहवां अनुशासन पर्व

(अ० १-१४६)

अनुशासनपर्व का पूना संस्करण अभी प्रकाशित नहीं हुआ है, अतः गीता प्रेस के संस्करण को ही यहां व्याख्या का आधार माना गया है। इसमें १६८ अध्याय हैं। पूना संस्करण में १४६ अध्याय मूल में रहेंगे। अनुशासन पर्व शान्तिपर्व से विस्तार में लगभग आधा है। मोक्षधर्म पर्व में जिन महान् विषयों का अध्यात्म, धर्म और दर्शन के विषय में समास-व्यास शैली से वर्णन हो चुका था, उनके अतिरिक्त कुछ विषय ऐसे रह जाते थे जिनका परिचय देना भी गृहस्थियों के लिए आवश्यक था। उन्हीं का संग्रह अनुशासनपर्व में है। अतः इसे शान्तिपर्व का परिशिष्ट भाग ही कहना चाहिए। ये विषय इस प्रकार थे—

दान, व्रतोपवास, तीर्थ, श्राद्ध, विष्णु महिमा, शिव महिमा, ब्राह्मण महिमा, तप महिमा, गृहस्थ महिमा, यज्ञ महिमा आदि। इस प्रकरण में राजधर्म को भी फिर से ले लिया गया है (गीता प्रेस सं० अ० १४६-१६८)। तथ्य यह था कि पुराण युग में जिन नये विषयों की उत्थापना हुई थी उनमें दान, व्रतोपवास, तीर्थ और श्राद्ध मुख्य थे। कभी-कभी चार वर्ण और चार आश्रम, सदाचार आदि की महिमा का भी छौंक पाया जाता था। उसी सामग्री को आधार मानकर अनुशासनपर्व का कलेवर पूरा किया गया है। इस प्रकार का दृष्टिकोण गुप्त युग में सामने आया और वही यहां उपलब्ध होता है।

दान धर्म

इस समय अपने शरीर के अर्पण को दान-धर्म की पराकाष्ठा माना जाता था। यहां उशीनर देश के राजा शिवि द्वारा कपोत की प्राण रक्षा के लिए अपने शरीर का मांस देने की कहानी कही गई है (अ० ३०-३२)।

बौद्धों ने इसे शिवि जातक के रूप में ग्रहण किया था। दिव्यावदान में राजा चन्द्रप्रभ द्वारा शिरोदान की कथा आई है। वहीं रूपावती अवदान में बालक की प्राण रक्षा के लिए रूपावती द्वारा अपने शरीर का मांस देने की कथा है। मोक्षधर्म में कपोत-कपोती द्वारा अतिथि की प्राण-रक्षा के लिए स्वशरीरार्पण की सुन्दर कहानी है।

दान का एक रूप उद्यान, जलाशय, कूप, प्रपा आदि का निर्माण था। मथुरा से प्राप्त लेखों में इनका बहुधा उल्लेख आया है (प्रथम शती ई० से द्वितीय शती० ई०)। उसका यहां अध्याय ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५ और ९५ में कथन है। सुवर्ण-जल आदि विभिन्न वस्तुओं का दान (अ० ६५) बहुत विस्तार से पुराणों में आया है। छिट-फुट वस्तुओं के दान के विषय में उसी के कुछ छींटे यहां पड़े हैं (६८, ६९, ९८, ९९-१००)।

अन्नदान, सुवर्ण, छत्र और उपानह, पुष्प, धूप, दीप, और उपहार के दान, शक्कर, तिल भूमि, गौ आदि के दान का विस्तार पुराणों में पाया जाता है, जो गुप्त युग से लेकर मध्ययुग तक बहुत परिवर्धित होता रहा। व्यास और मैत्रेय ने भी दान को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इसी संवाद में विद्वान एवं सदाचारी ब्राह्मण को अन्नदान की प्रशंसा, दान लेने और अनुचित भोजन करने का प्रायश्चित तथा पांच प्रकार के दानों का वर्णन है।

श्राद्ध कर्म इस युग का प्रिय विषय था—जिसका वर्णन अ० ८७-९२ में आया है।

: ९६ :

व्रतोपवास

पुराणों के युग में व्रतोपवास नामक नया प्रकरण बहुत पल्लवित हुआ। ब्रह्मा और भगीरथ के संवाद रूप में यज्ञ, तप तथा दान से भी उपवास या

अनशन की महिमा अधिक कही गई है। अनेक यज्ञों के करने का भी जो फल नहीं है, वह अनशन से प्राप्त होता है (अध्याय १०३–१०६)। यज्ञ द्रव्य-साध्य होते हैं, किन्तु धनहीन व्यक्ति को यज्ञ का फल उपवास से प्राप्त हो जाता है। प्रातः काल के कलेवे और सायं काल के व्यालू के अतिरिक्त जो कुछ नहीं खाता उसे पांच वर्ष में सिद्धि हो जाती है। दूसरे, तीसरे, पांचवें, छठवें, सातवें दिन जो केवल एक समय १२ मास तक भोजन करे, वह अनेक यज्ञों का फल प्राप्त करता है। इस प्रकार के व्रतों का विधान प्रायः पाशुपत आचार्य अपने शिष्यों के लिए करते थे। ये व्रत काल की अवधि बढ़ाकर पन्द्रह दिन और एक मास तक के लिए किये जाते थे। उनके करने वाले व्रती और महाव्रती कहलाते थे। जो एक वर्ष तक केवल आठवें दिन एकाहार रहे, उसे बहुत लाभ होता है। उसका वर्ण कमल के समान हो जाता है। ऐसे ही ९ वें, १०, वें, ११ वें और १२ वें दिन एकाहार द्वारा वर्ष पर्यन्त उपवास का फल है। यही विकल्प है कि जिसकी जैसी शक्ति हो वह वैसा करे। जो अनशन करता है, वह सुधामृत का पान करना है और उसे सूर्य-चन्द्रलोक तक यश मिलता है। १२ माह तक जो एक समय भोजन करता है, उसे अमृत भोजन का सुख मिलता है।

इसी प्रकार २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, और २९ वें दिन वर्ष भर तक एक-आहार चलाने का महत्त्व है। अन्त में मासोपवास का ही सबसे अधिक फल है। कुछ लोग तिथि विशेष को उपवास रखने का नियम धारण कर लेते हैं। जैसे द्वादशी को विष्णु के निमित्त व्रत। (अ० १०९)

: ९७ :

तीर्थ

तीर्थ यात्रा का भी धर्म के क्षेत्र में प्रभाव बढ़ गया था। वितस्ता, सिन्धु, चन्द्रभागा, पुष्कर, प्रभास, नैमिष, सागर, देवकाम, इन्द्रमार्ग,

स्वर्णविन्दु, हिरण्यविन्दु, इन्द्रतोया, गन्धमादन, करतोया, कुरङ्ग, गंगाद्वार, कुशावर्त्त, विल्वक, नीलपर्वत, कनखल, भागीरथी (वाराणसी) गंगा, सप्त गंगा, त्रिगंगा, इन्द्रमार्ग, महाह्रद, भृगुतुङ्ग, देविका, सुन्दरिका, गंगायमुना-संगम ह्रद, महागंगा, वैव्यानिक, विपाशा, कृत्तिकाश्रम, देवदारुवन, शरस्ताव, कुशस्तव, चित्रकूट, जनस्थान, श्यामप्रिय, कौशिकी, मतङ्गवापी, गंगाह्रद, उत्प्लावन (प्रयाग), दशाश्वमेध, कालञ्जर, षष्टिह्रद (प्रयाग), मरुद्गण, वैवस्वत, ब्रह्मसर, भागीरथी, उत्पतन, अष्टावक्र, अश्मपृष्ठ गया, निरविन्द, क्रौञ्चपदी, कलविङ्क, अग्निकन्या, करवीरपुर, विशाला, देवह्रद, आवर्तनन्दा, महानन्दा, उर्वशी तीर्थ, लौहित्य, रामह्रद, विपाशा, विन्ध्य, नर्मदा, शूर्पारक, जम्बू मार्ग, कोकामुख, अञ्जलिकाश्रम, कन्याकुमारी, उज्जानर्क, आर्षिषेण, पिङ्गा, कुल्या, पिण्डारक, ब्रह्मसर, मैनाक, कालोदक, नन्दिकुण्ड, नन्दीश्वर—अङ्गिरा द्वारा कही हुई यह तीर्थमाला बिना किसी भौगोलिक क्रम के है। लेखक ने उस समय की एक तीर्थ-सूची लेकर अपनी योग्यता के अनुसार श्लेकों में पिरो दी है। इसमें लगभग ९० तीर्थों के नाम हैं। आरण्यक पर्व में छोटी-बड़ी तीन तीर्थमालाएं दी गई हैं। उनसे इसकी तुलना करनी चाहिए। अध्याय २६ में गंगा माहात्म्य का वर्णन है।

: ९८ :

विष्णु-महिमा और शिव-महिमा

दो देवताओं की महिमा का कथन इस पर्व में आया है। इसमें से विष्णु की महिमा को शान्तिपर्व में बहुत जगह दिया जा चुका है, फिर भी अध्याय १३९, १४७-५०, में उपबृंहण है। भागवतों द्वारा विष्णु का जितना भी गुणगान किया गया, वह अपर्याप्त था और उसी की पूर्ति यहां विष्णु-सहस्त्र नाम द्वारा की गई है (अ० १४९, १४-१४२ श्लोक तक)। इन

नामों का परिगणन भीष्म ने युधिष्ठिर से किया है। इसमें कई प्रकार के नाम हैं, ऋषियों से परिगीत, विख्यात और गौण। विक्रम की पहली दूसरी शती के लगभग इसकी रचना हुई होगी। मत्स्य पुराण में आया है कि मद्र देश के राजा पुरुरवा ने रूप प्राप्ति के लिए हिमालय में शेष-शायी विष्णु के मंदिर में मासोपवास करते हुए विष्णुसहस्रनाम का पाठ किया।

इस प्रकार के स्तोत्र की रचना दुष्कर कार्य था। ऐसे स्तोत्र में लगभग आधे नाम वेद से लिए जाते थे। शेष में लौकिक संस्कृत से चुने हुए विख्यात नाम होते थे और बाकी पूर्ति गौण नामों से की जाती थी। वैदिक नामों से विरचित स्तोत्र वेदगर्भ कहलाते थे। कुछ प्रसिद्ध वैदिक नाम इस प्रकार हैं—वषट्कार, शर्व, स्थाणु, स्वयंभू, विश्वकर्मा, मनु, त्वष्टा, ईशान, प्राण, प्राणद, हिरण्यगर्भ, विश्वरेता, वृषाकपि, वसुमना, रुद्र, अमृत, कवि, हंस, वाचस्पति, यज्ञसाधन, अन्न, अन्नाद आत्मयोनि, सामगायन, आदि।

इस प्रकार के स्तोत्र में कई नाम एक से अधिक बार आये हैं, जैसे अज, हिरण्यगर्भ, प्राण, शिव, गोपति, श्री निवास, चतुरात्मा, चतुर्व्यूह। लेखक मनुष्य ही था और उसने नामों की जो बड़ी सूची इकट्ठी की थी, उसे सहस्र की संख्या में खपा दिया। इस प्रकार के स्तोत्र में नामों का कोई क्रम न था। विष्णु, शिव और वैदिक देवों के विशेषण एक साथ घुल-मिल गये हैं।

विष्णु सहस्रनाम स्तोत्र का उत्तर भारत में अत्यधिक प्रचार हुआ। आठवीं शती के अन्त में शंकराचार्य ने इस पर एक भाष्य लिखा। उन्होंने प्रत्येक नाम की निरुक्ति देते हुए इस सामान्य स्तोत्र को बहुत अधिक चमका दिया। ब्राह्मण साहित्य में नाम निरुक्ति की जो आर्षी शैली थी और जो पुराणों में भी स्तोत्रों की व्याख्या करते हुए प्रायः मिलती है, उस शैली से शंकर जैसे धुरन्धर आचार्य ने विष्णुसहस्रनाम की अद्भुत व्याख्या की जो देखने योग्य और उसमें भरे हुए रस का आनन्द लेने योग्य है।

विख्यात लौकिक नाम

सहस्त्रमूर्धा, विष्णु, महेन्द्र, शिपिविष्ट, सत्य, धर्म, पराक्रम, शिखण्डी, अच्युत, काल, संवत्सर, यज्ञ, महादेव, त्रिसामन्, शिव, अपराजित, महास्वन, स्थविर, मधुसूदन, ईश्वर, अज, वृषकर्मा, विष्वक्सेन, लोकाध्यक्ष, चतुरात्मा, चतुर्व्यूह, सदायोगी, श्रीनिवास, हिरण्यगर्भ सुप्तसाद, प्रसन्नात्मा, नारायण, सिद्धसंकल्प, वाग्मी, प्रकाशात्मा, सत्य-धर्म, वासुदेव, जनेश्वर, पद्मनाभ, शतावर्त, सर्वज्ञ, समितिञ्जय, त्रैकुष्ठ, अधोक्षज, सुदर्शन, बीज, अव्यय, समीहन, सर्वदर्शी, सूक्ष्म, जितक्रोध, गोपति, ज्ञानगम्य, भूरिदक्षिण, सोमप, अमृतप, सत्यसन्ध, कपिलाचार्य, महाश्रृङ्ग, महावराह, वरुण, भगवान्, खण्डपरशु, शतानन्द, गणेश्वर, कालनेमि, कामदेव, कर्मज्ञ, महाहवि, मनोजय, वसुदेव, शतमूर्ति, लोकनाथ, सर्ववित्, अक्षोभ्य, स्वर्णविन्दु, अमृताश, वंशविवर्धन, धनुर्वेद, सत्यधर्मपरा-यण, अजितशासन, पर्यवस्थित, चतस्र-आधार-निलय, प्रजागर, पुष्पहास, प्राणजीवन, जन्ममृत्युजरातिग।

शंकराचार्य के अनुसार वासुदेव की व्याख्या इस प्रकार है—

वसति, वासयति, आच्छादयति, सर्वमिति वा वासुः।

दीव्यति, क्रीडते, विजिगीषते, व्यवहरति, द्योतते, स्तूयते गच्छतीति वा देवः, वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः।

और भी

भूतान्यत्राभिमुख्येन वसन्तीति भूतावासः, वसन्ति त्वयिभूतानि, भूतावासस्ततो भवान्। हरिवंश (३।८८।५३)

जगदाच्छादयति माययेति वासु देवः स एव देव इति वासुदेवः।

चक्री शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—समस्तलोक-रक्षार्थं मनस्तत्त्वात्मकं सुदर्शनाख्यं चक्रं धत्त इति चक्री।

चलस्वरूपमत्यन्तजवेनान्तरितानिलम्।
चक्रस्वरूपं च मनो धत्ते विष्णुःकरे स्थितम्॥

इतिविष्णुपुराणवचनात्।

हमारा पाठकों से अनुरोध है कि शंकर के आधिभौतिक अर्थों से ऊपर उठकर इन अर्थों का रसास्वादन करें। अध्यात्म विद्या का कोई अन्वेषक यह नहीं भूल सकता कि सांख्य और योग उसकी प्रज्ञा को सुशोभित करने-वाले दो कुण्डलों के समान हैं। उनके कारण वह भी कुण्डली नाम का अधिकारी है।

: ९९ :

विष्णु और शिव सहस्रनाम

अनुशासनपर्व का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग शिवसहस्र नाम है। वस्तुतः शिव की महिमा के विषय में बहुत कम सामग्री आ पाई थी। उसकी पूर्ति शिवसहस्रनाम द्वारा की गई है (अनुशासनपर्व अ० १९)। इसमें शिव और पार्वती ने श्री कृष्ण को पुत्र प्राप्ति के लिए महावरदान दिया। कृष्ण ने पुत्र के लिए हिमालय पर तपश्चर्या की। इससे शिव-पार्वती प्रसन्न हुए। तब उपमन्यु ने शिव की महिमा का वर्णन किया। उसी प्रसंग में तण्डी ने शिवसहस्रनाम का पाठ किया। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में अभी तक हमें तीन शिवसहस्रनाम प्राप्त हुए हैं। एक यहां है जो तण्डी कृत है, दूसरा वामन पुराण में है जिसे वेनकृत कहा गया है। तीन लिङ्ग पुराण में हैं, जिनमें एक कृष्णकृत है, दूसरा दक्षकृत है, और तीसरा तण्डीकृत है। इस प्रकार इन शिवसहस्रनामों की संख्या यद्यपि देखने में चार जान पड़ती है, पर वस्तुतः वह तीन ही है क्योंकि जिसे वामन पुराण में वेनकृत कहा गया है, उसे ही लिंग पुराण में दक्षकृत कहा है।

शिवसहस्रनाम—लगभग १२५ श्लोकों में यह सहस्रनाम है, जैसे विष्णुसहस्रनाम है।

शैव और वैष्णव दोनों धर्मों में जो सान्निध्य था और उनके आचार्यों में जो प्रीति और समन्वय का भाव था उसका ठोस प्रकरण पुराणों में

मिलता है। उसे देखते हुए शिवसहस्रनाम और विष्णुसहस्रनाम दोनों एक सदृश ही लोकप्रिय थे।

ऊपर हमने विष्णुसहस्रनाम की रचना के विषय में जो कुछ लिखा है, वह शिवसहस्रनाम की रचना के विषय में भी अक्षरशः घटित होता है। इसके लेखक ने भी वैदिक और लौकिक साहित्य से सहस्रों नामों की सूची एकत्र की जिसे श्लोकबद्ध करने से सहस्रनाम स्तोत्र की रचना हुई। कुछ नाम और विशेषण जो केवल शिव के लिए प्रयुक्त हैं, वे इस प्रकार हैं—

श्मशानवासी, महाहनु, हयगर्दभि, नीलकण्ठ, दिग्वासस्, कमण्डलुधर, कपालवान्, उष्णीशी, श्रृगालरूप, मुण्ड, ऊर्ध्वरेता, ऊर्ध्वलिङ्ग, ऊर्ध्वशायी, त्रिजटी, चीरवास, गजहा, सिंहशार्दूलरूप, आर्द्रचर्माम्बरावृत, कालयोगी, महानन्द, चतुष्पक्ष, निशाचर, प्रेतचारी, भूतचारी, नर्त्तक, यज्ञहा, दक्षयज्ञापहारी, वडवामुख, कालकंटक, भेषज, सर्पचिरनिवासिन्, कालसिंह, मधुरमधुकलोचन, नन्दीश्वर, महालिंग, पशुपति, वृषण, मृगालय, लम्बितोष्ठ, भस्मशायी, भस्मगोप्ता, परश्वधायुध, सुरारिहा, अजैकपाद, कापाली, कैलासगिरिवासी, कूलहारी, कूलकर्ता, गान्धार, करस्थाली, कुण्डी, जाह्नवीधृत्, उमाधव, उमाकान्त, गोवृषेश्वर, हस्तीश्वर, ललाटाक्ष, आदि।

अनुशासनपर्व में जो शिव महिमा के अध्याय हैं, वे उस युग के शैव, माहेश्वर, पाशुपत आदि संप्रदायों में भगवान् शिव के गौरव और लोकप्रिय स्वरूप का परिचय देते हैं। यदि शिव सम्बन्धी यह वर्णन यहां न लिया गया होता तो शान्ति और अनुशासन का यह विस्तृत वर्णन अधूरा रहता। क्योंकि शवधर्म मोक्ष प्राप्ति का एक निश्चित मार्ग प्रस्तुत करता था। लगभग पहली शती से लेकर सातवीं शती तक पाशुपत धर्म के आचार्यों ने महाराष्ट्र से मालवा तक और वाराणसी-मथुरा से कुरुक्षेत्र तक शैव धर्म के रूप में दर्शन और उपासना की प्रभावशालिनी रसधारा बहा दी थी और जनता के मन को मुग्ध कर लिया था। भगवान् शिव का जो स्वरूप

वैदिक युग से चला आया था, वह और भी बद्धमूल हो गया। पाशुपत आचार्यों ने जो सात्त्विक कार्य किया उसका कुछ नमूना यहां है। किन्तु उसका पूरा विवरण लिंग पुराण और शिव पुराण में पाया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि कुषाण सम्राट् वेमतक्ष्म ने करोड़ों सिक्के ढववाये थे। उन सबके एक ओर शिव और उनके नन्दिवृष की मूर्ति रहती थी। वह युग शैवधर्म के परम उत्कर्ष का काल था और उसी समय यह सामग्री पहली से तीसरी ई० शती तक आयी होगी। अध्याय १४०-१४२ में भी शिव महादेव का वर्णन है।

और भी छोटे-मोटे विषयों में ब्राह्म महिमा अ० ३८-४७, १५१-१५७, तप महिमा, अहिंसा, गृहस्थ महिमा ४८,४९, ५०-५१, ९३-९४ आदि, यज्ञ-धर्म-महिमा आदि का संग्रह किया गया है। पर उनमें कोई नयी बात या वैचित्र्य नहीं है। अध्याय १६२ से १६८ तक भीष्म के प्राण त्याग का वर्णन है। कई महत्त्व के आख्यानों में नाचिकेतोपाख्यान, नृगोपाख्यान, अष्टावक्रचरित, कार्त्तिकेय उपाख्यान, नहुषचरित इसी पर्व में संगृहीत हैं। इस प्रकार अनुशासन पर्व कई फुटकर विषयों का संग्रह मात्र है। इसमें शान्तिपर्व जैसी महत्त्वपूर्ण सामग्री का प्रायः अभाव है।

: १०० :

चौदहवां आश्वमेधिक पर्व

(अ० १–९२)

महाभारत का चौदहवां पर्व आश्वमेधिक है। इसमें ९२ अध्याय हैं। अनुमान होता है कि पूना के संशोधित संस्कारण में यह अध्याय संख्या पर्याप्त कम हो जायगी। इसका मुख्य विषय तो युधिष्ठिर का यज्ञ-मेघ ही होना चाहिए। युधिष्टिर के शोक में डूबे हुए मन को शान्ति का उपाय अश्वमेध यज्ञ ही था। उन्हें भीष्म एवं व्यास ने यही सलाह दी थी। इसका उल्लेख शान्तिपर्व में के शुरू में पहले आ चुका है। युधिष्ठिर का वश चलता तो वह वनवासी बन जाते। पर भारत युद्ध के वाद जो प्रजापालन का दायित्व उन पर आ गया था, उससे किसी भी प्रकार वचना असंभव था। संभवतः यही सब सोचकर उन्होंने अश्वमेध के प्रस्ताव को मान भी लिया था। जब एक वार उस रास्ते पर पड़े तो क्रमशः उसका रंग गाढ़ा होता गया। उनका मन चाहे इसमें न भी रहा हो, फिर भी जो वाना एक वार पहन लिया उसका नाच भी उन्हें नाचना पड़ा। यहां अध्याय ५९-९२ तक यज्ञ की कथा है। इसके पूर्व कुछ विशिष्ट आख्यानों का संग्रह है जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

जहां तक अश्वमेध यज्ञ का सम्बन्ध है, व्यास जी ने फिर युधिष्ठिर के मन को समझा-बुझाकर दृढ़ किया। व्यास जी की संसारिणी प्रज्ञा बहुत वढ़ी-चढ़ी थी। उन्होंने सोचा कि युधिष्ठिर को इस समय राजा के करने योग्य कुछ काम न बताया गया तो वे ढिल-मुल धर्म की मादकता से जंगल की राह ले लेंगे। अच्छा हुआ कि युधिष्ठिर व्यास जी की वात मान गये और अश्वमेध की तैयारियां होने लगीं। अश्वमेध यज्ञ के लिए बहुत धन-संभार की आवश्यकता होती थी। उसमें कम-से-कम एक वर्ष का समय लग जाता था। राजा और प्रजा को भारी तैयारी करनी पड़ती थी। उसमें

राजा के अनेक मित्र भी धन-धान्य से निचुड़ जाते थे। उन वेचारों को या तो राजी-खुशी या लड़ाई से अपने कोश का बड़ा हिस्सा सम्राट् को भेंट अत्यावश्यक रूप से देना पड़ता था। कृष्ण पहले से ही ताड़ गये थे कि धन के विना अश्वमेध यज्ञ का संपन्न होना संभव नहीं। अतः वह पहले से ही अर्जुन को द्वारका ले गये और वहां से उसे दिग्विजय के लिए भेजा। इस यात्रा में अर्जुन पूर्व भारत और दक्षिण भारत में गये।

इस बार चारों भाइयों की दिग्विजय यात्रा का प्रश्न नहीं उठाया गया, केवल अर्जुन को अश्व रक्षा के लिए भेजा गया। (अ० ७२)

भीम और नकुल को नगर की रक्षा के काम पर नियुक्त किया गया और सहदेव को कुटुम्ब पालन का काम सौंपा गया। अर्जुन ने पहले पश्चिम दिशा में सिंधु देश को जीता जहां दुःशला का पौत्र या जयद्रथ का पौत्र राज्य करता था। पूर्व दिशा में अर्जुन मणिपुर राज्य तक गया। वहां के राजा बभ्रुवाहन से, जो अर्जुन का पुत्र था, भारी युद्ध हुआ और उसमें अर्जुन मारा गया। तव उसकी दूसरी पत्नी नागकन्या उलूपी ने उसे अमृत छिड़क कर जिलाया। तव उन लोगों ने यज्ञ के लिए वहुत सा दान दिया। पूर्व के समुद्र तटों की यात्रा करता हुआ अर्जुन मगध की राजधानी राजगृह आया तथा वहां के राजा मेघसन्धि से उसका युद्ध हुआ। वहां से वह वङ्ग, पुण्ड्र, कोसल आदि देशों में गया। उसके वाद दक्षिण-पश्चिम समुद्र के तटवर्ती देशों में होते हुये उसने द्वारका, पञ्चनद और गान्धार देश में प्रवेश किया।

इस यात्रा का वर्णन पहली चारमास वाली विजय यात्रा के समान विस्तृत नहीं है। फिर भी इसमें देश का विस्तार पर्याप्त रूप से आता है तथा अर्जुन ने धन संग्रह का कार्य भी पर्याप्त रूप से किया। क्योंकि यह तो यहां की प्रथा ही थी कि दण्ड लेकर या कुछ लेकर राजा का राज्य उसके लिए छोड़ दिया।

माघ शुक्ल द्वादशी तिथि के दिन धूम-धाम से यज्ञ की तैयारी शुरू हो गई। यज्ञ फाल्गुन पूर्णिमा को आरंभ किये जाने क

मुहूर्त था। वेद के पारंगत विद्वानों को निमंत्रित किया गया और उन्होंने यज्ञ के उपयुक्त स्थान चुना। वहां अनेक साल वृक्षों की सफाई करके सैकड़ों भवन बनवाये गये। वह यज्ञशाला सोने और रत्नों से सजाई गई थी, तथा उसका निर्माण शास्त्रीय विधि से कराया गया था।

अनेक जगहों से आये राजाओं के लिए तथा ब्राह्मणों के रहने के लिए अनेक उत्तम महल भीम ने बनवाये। अश्वमेध के अवसर पर मानों दूसरी राजधानी का ही निर्माण किया जाता था, क्योंकि अश्वमेध से नये राष्ट्र का जन्म माना जाता था। इस अवसर पर चक्रवर्ती सम्राट् को सब राजा मिलकर अभूतपूर्व सम्मान देते थे।

दूत भेज कर सब राजाओं को निमंत्रित किया गया। सभीराजपरिवार सोना आदि लेकर यज्ञ में सम्मिलित हुए। उनका उचित स्वागत-सत्कार किया गया। वह यज्ञमण्डप इन्द्र की यज्ञशाला के समान था। वहां अन्न-सामग्री के पर्वत थे और सारा जम्बूद्वीप एकत्र था। युधिष्ठिर के आदेश से भीम ने आये हुए राजाओं की आव-भगत की। उसी समय युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से अर्जुन का यह संदेश सुना कि पूर्व देश का अधिपति मेरा पुत्र अपनी माता चित्रांगद और विमाता उलूपी के साथ आवेगा। वह मेरा बड़ा भक्त है, अतः उनका विशेष सत्कार होना चाहिए। युधिष्ठिर ने बात समझ ली और ऐसा ही होने दिया।

इस प्रकार राजा युधिष्ठिर ने दो बड़े यज्ञ किये, राजसूय और अश्वमेध। पहले दुर्योधन को उचित सम्मान नहीं मिला था। वैसी कोई त्रुटि इस बार नहीं रहने पाई। यज्ञ भूमि में २१ यूप खड़े किये गए—बेल के छह, खैर के छह, पलाश के छह, देवदारु के दो और लिसोड़े का एक।

इस यज्ञ में युधिष्ठिर ने राजाओं को दान-दक्षिणा दी और भेंट देकर विदा किया। प्राचीन भारत में यज्ञ संस्था का जो विस्तृत स्वरूप था उसका कुछ परिचय कराने के लिए हमने इस महोत्सव की ब्यौरेवार परीक्षा की है। किन्तु वास्तविक बात यह है कि इस विवरण में उसका शतांश वर्णन भी नहीं आ पाया। राजधानी और राष्ट्र दोनों ही रात-दिन के उत्सव की

गमक में डूब जाते थे। लिंग पुराण में इक्ष्वाकु वंश के एक राजा के मुख से कहलाया गया है कि मेरे पास इतना धन नहीं है कि मैं अश्वमेध यज्ञ का काम उठा सकूं।

नेवले की कथा

व्यास जी ने युधिष्ठिर का यह यज्ञ देखा था। जब यज्ञ मण्डप में बैठे हुए सब लोग दान-दक्षिणा की प्रशंसा कर रहे थे, तो व्यास जी को यह बात सह्य न हुई। उन्होंने नेवले की एक कहानी देकर यज्ञ का रंग ही फीका कर दिया। कहानी का आशय यह है कि एक नेवला वेदी के आस-पास चक्कर काटने लगा। उसका आधा शरीर सोने के रंग का था। उसे इस प्रकार व्यग्र देखकर लोगों ने कारण पूछा तो उसने कहा, "मैंने सुना था कि युधिष्ठिर ने बहुत बड़ा यज्ञ किया है। यह देखने के लिए मैं यहां आया। मैंने इसे सच नहीं पाया। पहले उञ्छवृत्ति से निर्वाह करनेवाले एक ब्राह्मण ने सेर भर सत्तू से जो यज्ञ किया था, वह कहीं इससे बड़ा था। वह ब्राह्मण परिवार कई दिनों से भूखा था। एक दिन उसे भिक्षा में सेर भर सत्तू मिले। वह ब्राह्मण, पत्नी, पुत्र और पुत्रवधू ये चार व्यक्ति उस परिवार में थे। वे भोजन करने जा ही रहे थे कि द्वार पर किसी अतिथि ने पुकारा। ब्राह्मण ने जाकर देखा और अपने से भी अधिक भूखे एक भिक्षुक को द्वार पर पाकर भीतर बुलाया और सत्तू का अपना भाग दे दिया। उससे उस ब्राह्मण की भूख न मिटी, तो पुत्र ने भी अपना हिस्सा दे दिया। इसी प्रकार अतिथि के भूखे रहने पर ब्राह्मणी और पुत्रवधू ने भी अपना हिस्सा दे दिया तथा वे चारों प्राणी भूख से व्याकुल होकर मर गये। और तभी मैं वहां जा पहुचा और मैंने गिरे हुए सत्तू के कणों को खा डाला। तभी से मेरा आधा शरीर सोने का हो गया। और भी बहुत जगह मैं यज्ञों में गया, परन्तु बाकी आधा शरीर अभी सोने का नहीं हुआ। यहां भी वैसा ही हुआ।" उपस्थित सभी ने यह कहानी आश्चर्य के साथ सुनी और सोचा कि यह यज्ञ उस ब्राह्मण के सेर भर सत्तू वाले यज्ञ से कम है।

: १०१ :
पन्द्रहवां, आश्रमवासिक पर्व
(अ० १-४२)

आश्रमवासिकपर्व की कथा एकदम सीधी है। बूढ़े धृतराष्ट्र और माता गांधारी जब तक हस्तिनापुर में रहे सकुटुम्ब युधिष्ठिर ने उनकी बड़ी सेवा की। एक दिन राजा धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर से अनुरोध किया कि वह जंगल में जाकर आश्रमवास करना चाहते हैं। लेखक ने एक मनोवैज्ञानिक तथ्य का उल्लेख किया है, और वह यह है कि युधिष्ठिर तथा उनके दूसरे भाई धृतराष्ट्र को सब प्रकार का सुख पहुंचाते थे, पर धृतराष्ट्र का मन भीमसेन की ओर से साफ न था। भीमसेन कुछ न कुछ ऐसा करते या कहते थे कि धृतराष्ट्र के मन को चोट लगे। अन्त में धृतराष्ट्र ने आश्रमवास का निश्चय किया और युधिष्ठिर ने व्यास के समझाने से उसकी अनुमति भी दे दी। चलने से पहले धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया जिसका सार यह था—हे युधिष्ठिर, धर्म से राज्य का संचालन करना, बड़े-बूढ़ों की बात सुनना, पुराने मंत्रियों की सलाह मानना, विश्वस्त गुप्तचरों का सहयोग लेना, अपने मंत्र को गुप्त रखना। नगर की ओर पूरा ध्यान देना। भोजन आदि के अवसर पर आत्मरक्षा की ओर ध्यान देना। जिनका कुल शील ज्ञात है उनसे बोलना चाहिए इत्यादि।

एक प्रकार से भारतीय राजधर्म की मोटी-मोटी बातें इस उपदेश के तीन अध्यायों में आ गई है (५, ६, ७)। इसे धृतराष्ट्र राजनीति कहा है।

धृतराष्ट्र और गांधारी ने महल में जाकर अन्तिम भोजन किया और वहां से गंगा किनारे आ गये। फिर वहां से पदयात्रा करते हुए कुरुक्षेत्र में शतयूप मुनि के आश्रम में आश्रमवास के लिए गये। वहां नारदजी भी उनसे मिलने आये और उन्होंने कई दृष्टान्त सुनाकर धृतराष्ट्र के विचारों को स्पष्ट किया और उनकी श्रद्धा को बढ़ाया। वस्तुतः विदुरजी के समझाने से धृतराष्ट्र

की बुद्धि में ऐसा परिवर्तन हुआ था। भीमसेन जो छेड़छाड़ करते रहते थे उसका निपटारा विदुर जी को ही सुनना पड़ता था और इसलिए उन्होंने धृतराष्ट्र को समझाया कि अब तुम्हारे लिये यही उचित है कि राजभवन का निवास छोड़कर आश्रमवास के लिए बाहर चले जाओ। उन्होंने कुंती को भी साथ में लिया और स्वयं भी चले गए। विदुर धृतराष्ट्र के जन्म के साथी थे और ऊंच-नीच के बहुत-से अवसरों पर उन्होंने धृतराष्ट्र को समझाया। एक ऐसा ही प्रकरण प्रजागर पर्व या विदुर नीति है जिसे हमने उद्योग-पर्व में प्रज्ञा दर्शन का ग्रंथ कहा है और तदनुसार व्याख्या की है। विदुर और धृतराष्ट्र में गाढ़ी मैत्री थी। पर दृष्टिकोण का अन्तर था। विदुर प्रज्ञावादी और धृतराष्ट्र भाग्यवादी थे। चलने से पूर्व जैसा उचित था प्रजाओं ने आकर धृतराष्ट्र से बहुत अनुनय-विनय की और साम्ब नाम के एक ब्राह्मण ने उन्हें बहुत तरह से समझाया और अपने भाव प्रकट किये। इसके बाद चलते-चलते एक कड़वी घटना घट गई जिससे धृतराष्ट्र की लाचारी प्रकट होती है। उन्होंने अपने पुत्रों का श्राद्ध करने के लिए राज-कोष से कुछ धन मांगा। अर्जुन के कहा—हां, ठीक है, धन देना चाहिए। पर भीमसेन सहमत न हुए और उन्होंने राजा की इच्छा का विरोध किया। यह बात धृतराष्ट्र को कितनी खटकी होगी? धन तो दिया ही गया, किंतु ऐसी कड़वाहट के साथ जिससे धृतराष्ट्र को जीते जी चुभन होती रही। चलने से पहले धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों के लिए पर्याप्त धन व्यय करके श्राद्ध का काम पूरा कर दिया। इस अवसर पर पांडवों ने माता कुंती को रोकना चाहा, पर वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहीं। सहदेव और द्रौपदी ने भी साथ जाने का उत्साह प्रकट किया। युधिष्ठिर अपनी सेना के साथ कुरुक्षेत्र तक मिलने गये। साथ में संजय भी गये और उन्होंने कुरुक्षेत्र में वहां के ऋषियों के साथ राजकुल की स्त्रियों का परिचय कराया। कुछ दिन वहां प्रसन्नता के वातावरण में बिताकर युधिष्ठिर और उनके कुटुम्बी हस्तिनापुर लौट आये। फिर नारदजी ने आकर सूचना दी कि धृतराष्ट्र, गांधारी, कुंती दावानल में दग्ध हो गये। इससे युधिष्ठिर को बहुत शोक हुआ। युधिष्ठिर ने उनके फूल चुनवा कर गंगाजी में श्राद्ध किया।

: १०२ :

सोलहवां मौसल पर्व

(अ० १–८)

द्वारका में कृष्ण के वंश के यादवों का जैसे विनाश हुआ उसकी कहानी मौसल पर्व में है। यादव क्षत्रिय बहुत उद्दाम और निरंकुश हो गए थे। एक बार द्वारका में कुछ ऋषि पहुंचे। उनसे ज्ञान चर्चा की बात तो दूर रही, यादव गुण्डों को एक मजाक सूझा। उन्होंने साम्ब का स्त्री का वेश बनाया और उसके पेट से गूदड़ बांधकर मुनियों से पूछा—यह गर्भवती स्त्री है, इसके क्या सन्तान होगा। मुनि इस बेहूदा ठठोली से बहुत उद्विग्न हुए। उन्होंने कह दिया—इसके पेट से एक लोहे का मुसल जन्म लेगा। वह बलराम और कृष्ण को छोड़कर सब यादवों का नाश करेगा। समय पर मुसल का जन्म हुआ। कृष्ण ने उसका संकेत समझ लिया। राजा उग्रसेन को इसकी सूचना मिली तब उसने लोहे के मुसल को पिसवा कर उसका चूर्ण समुद्र में डलवा दिया। पर आने वाली मौत को रोकने वाला कोई न था। और नगर में डौंड़ी-पीट दी गई कि आज से कोई मद्यपान न करे।

इसी समय ऐसी घटना घटी कि एक कराल, विकट, मुण्डित पुरुष दर-दर घूमता हुआ दिखाई देने लगा। लोग उस पर बाण चलाते, किन्तु उसे बाण न लगते थे। लोगों में आतंक छा गया और भांति-भांति के अपशकुन होने लगे। तब कृष्ण ने अन्धकों और वृष्णियों को सलाह दी कि आप लोग तीर्थयात्रा कर आवें। अन्धक-वृष्णि और अनेक सैनिक समुद्र के किनारे पहुंचे। उनके लिए बहुत प्रकार की खाद्य सामग्री और मद्यमांस भी तैयार किया गया। यादवों का यह जमावड़ा प्रभास तीर्थ में हुआ।

मूसल का जो चूर्ण समुद्र में डाला गया था वह एरक घास के रूप

में उग गया और उसी को उखाड़ कर उन्मत्त हुए अन्धक-वृष्णि और यादव आपस में लड़ मरे। कौन किसको मार रहा है, यह ज्ञान भी जाता रहा।

इस प्रकार का भीषण काण्ड समाप्त हो गया, तो कृष्ण का सारथी दारुक अर्जुन को सूचना देने के लिए हस्तिनापुर आया। तव बलराम ने जंगल में एक पेड़ के नीचे बैठकर आत्महत्या कर ली। उस समय कृष्ण भी लेटे हुए थे। जरा नामक एक व्याध ने उनके पैर को लोहे के वाण से बेध लिया, जिससे उनका प्राण-पखेरू उड़ गया।

जब अर्जुन द्वारका पहुंचे, तो यादवी स्त्रियों की करुण दशा देखकर वहुत दुःखी हुए।

वसुदेव ने अर्जुन को अन्तिम आदेश दिया और प्राण त्याग दिया। अर्जुन ने उनका तथा मौसल युद्ध में मरे हुए सभी यादवों का श्राद्ध किया। इसके वाद समुद्र की बढ़ती हुई लहरों ने द्वारका को डुवो दिया। यादवों के छोटे कुमारों का उन्होंने अभिषेक किया और कुछ स्त्रियों को भी उन्होंने वहां बसाया और शेष स्त्रियों को लेकर हस्तिनापुर लौटे। पुरुषसिंह अर्जुन ने उस नगर का जो-जो भाग छोड़ा, उसे समुद्र ने अपने जल से आप्लावित कर दिया। वन-नदी पर्वतों का लम्बा रास्ता तय करके जब अर्जुन पञ्च-नद प्रदेश में आये तो वहां के लुटेरे और लठैत मनुष्यों ने उन पर आक्रमण किया। संभवतः ये सरस्वती तटवासी आभीर थे (७१४७)। अर्जुन ने उस अवसर पर अपने धनुष गाण्डीव को चढ़ाना आरम्भ किया और वड़े प्रयत्न से किसी तरह उसे चढ़ा पाया। उन्होंने धनुष पर प्रत्यञ्चा तो चढ़ा दी, परन्तु जब वह अपने अस्त्र-शस्त्रों का चिन्तन करने लगे तो उन्हें उनकी याद विलकुल नहीं आ पाई। युद्ध के अवसर पर अपने बाहु-बल में यह महान विकार आया देख और महान् दिव्यास्त्रों का विस्मरण हुआ जान वे लज्जित हो गये। सैनिक बल भी कुछ काम न आया। कुछ स्त्रियों को डाकुओं ने लूटा और कुछ उनके स्पर्शभय से चली गई। कृत-वर्मा के पुत्र को और भोजराज के परिवार की अपहरण से बची हुई स्त्रियों

को अर्जुन ने मार्तिकावत नगर में वसा दिया। तत्पश्चात् वीर-विहीन सभीत वृद्धों, वालकों तथा अन्य स्त्रियों को साथ लेकर वे इन्द्रप्रस्थ आये और उन सवको वहां का निवासी वना दिया। धर्मात्मा अर्जुन ने सात्यकि के प्रिय पुत्र यौयुधानिक को सरस्वती तटवर्ती देश का अधिकारी एवं निवासी वना दिया और वृद्धों और वालकों को उसके साथ कर दिया। इसके वाद शत्रु वीरों का संहार करने वाले अर्जुन ने वज्र को इन्द्रप्रस्थ का राज्य दे दिया। अक्रूर जी की स्त्रियां वज्र के वहुत रोकने पर भी वन में तपस्या करने के लिए चली गईं। रुक्मिणी, शैव्या, हेमवती तथा जाम्ब-वती देवी,ने पतिलोक की प्राप्ति के लिए अग्नि में प्रवेश किया। श्रीकृष्ण की प्रिया सत्यभामा तथा अन्य देवियां तपस्या का निश्चय करके वन में चली गईं। जो-जो द्वारकावासी मनुष्य पार्थ के साथ आये थे, उन सवका यथा-योग्य विभाग करके अर्जुन ने उन्हें वज्र को सौंप दिया।

अर्जुन ने व्यास के आश्रम में पहुंच कर सव समाचार सुनाया। व्यास जी ने उन्हें काल की महिमा वताकर धैर्य दिया।



: १०३ :

सत्रहवां महाप्रस्थानिक पर्व

(अ० १—३)

इस पर्व में वृष्णि वंशियों का श्राद्ध करके प्रजाजनों की अनुमति ले द्रौपदी-सहित पाण्डवों का प्रस्थान वर्णित है। युधिष्ठिर ने अब राज्य छोड़कर हिमालय में जाने का विचार किया। उन्होंने राज्य की देखभाल का काम युयुत्सु को सौंपा और सिंहासन पर परीक्षित का अभिषेक किया तथा सुभद्रा से कहा, "यह तुम्हारे पुत्र का पुत्र परीक्षित कुरुदेश तथा कौरवों का राजा होगा और यादवों में जो लोग बच गए हैं उनका राजा श्रीकृष्ण-पौत्र वज्र को बनाया गया है। परीक्षित हस्तिनापुर में राज्य करेंगे और यदुवंशी वज्र इन्द्रप्रस्थ में। तुम्हें राजा वज्र की भी रक्षा करनी चाहिए।"

पाण्डवों ने अपनी हिमालय यात्रा प्रारम्भ की। मार्ग के कष्टों को न सहकर द्रौपदी, सहदेव, नकुल, अर्जुन और भीमसेन धराशायी हो गए। इसका कारण पूछने पर युधिष्ठिर ने कहा, "द्रौपदी सब भाइयों में अर्जुन को अधिक चाहती थी, इसलिए उसका मन योग से विचलित हो गया। सहदेव अपने समान किसी को बुद्धिमान और विद्वान् नहीं समझते थे इस कारण इस दशा को भुगत रहे हैं। नकुल के विषय में यह बात है कि वह सोचता था कि 'एकमात्र मैं ही रूपवान् हूं' इस कारण नीचे गिरा।" अर्जुन के विषय में युधिष्ठिर ने कहा कि वह सोचता था कि 'मैं एक ही दिन में शत्रुओं को भस्म कर डालूंगा', किन्तु ऐसा किया नहीं, इसी से आज इन्हें धराशायी होना पड़ा। अन्त में भीमसेन गिर पड़े तो उनसे युधिष्ठिर ने कहा, "तुम बहुत खाते थे और दूसरों को कुछ भी न समझ कर अपने बल की डींग हांका करते थे, इसी से तुम्हें धराशायी होना पड़ा है।"

युधिष्ठिर को स्वर्ग में ले जाने के लिए इन्द्र का रथ आया। उन्होंने

दो शर्तें कहीं। पहली यह कि मेरे साथ जो कुत्ता है, वह भी स्वर्ग जायगा। वह कुत्ता धर्म का रूप था। शर्त दूसरी यह कि मेरे भाई मार्ग में गिरे पड़े हैं। वे भी मेरे साथ चलें, इसकी व्यवस्था कीजिए। क्योंकि मैं भाइयों के विना स्वर्ग में नहीं जाना चाहता। राजकुमारी द्रौपदी सुकुमारी है, वह भी सुख पाने के योग्य है। वह हम लोगों के साथ चले, इसकी अनुमति दीजिए। देवराज इन्द्र ने उत्तर दिया, "युधिष्ठिर, तुम्हारे सब भाई और द्रौपदी तुमसे पहले ही स्वर्ग में पहुंच गये हैं। वे सब तुम्हें वहां मिलेंगे।" दूसरी शर्त कुत्ते के स्वर्ग जाने की थी, जिस पर प्रसन्न होकर धर्मराज ने कुत्ते का रूप त्याग कर कहा, "हे युधिष्ठिर, मैं तुम्हारी परीक्षा ले रहा था।" स्वर्ग में सब ऋषि और देवों ने उनका स्वागत किया। मानव सदेह स्वर्ग जा सकता है या नहीं—इसका तथ्यात्मक पक्ष न लेकर यह अवश्य माना जा सकता है कि इस विषय में जो भारतीय आदर्श था उसके प्रतिनिधि युधिष्ठिर थे।

: १०४ :

अट्ठारहवां स्वर्गारोहण पर्व

(अ० १—५)

स्वर्गारोहणपर्व महाभारत का उपसंहार है। जब युधिष्ठिर स्वर्ग में पहुंच गये, तो उन्होंने एक विचित्र बात देखी। एक ओर उनके भाई नरक के दुःख से हाय हाय कर रहे थे और दूसरी ओर दुर्योधन और उसके साथी सुख मना रहे थे। युधिष्ठिर के लिए यह पहेली थी और उन्होंने तुर्शी के साथ इसका कारण पूछा। वह तो यहां तक अड़ गए कि वे अपने भाइयों के साथ नर्क में ही रहेंगे, उन्हें स्वर्ग सुख नहीं चाहिए। पर उन्हें बताया गया कि दुर्योधन का पुण्य कर्म थोड़ा है और पाप कर्म बहुत है और भाइयों का पुण्य कर्म बहुत है और पापकर्म थोड़ा है। अतः सूचीकटाह न्याय से दोनों के लिए क्रमशः स्वर्गवास और नरकवास का प्रबन्ध किया गया था। इससे युधिष्ठिर की जान में जान आई और उन्हें स्वर्ग के न्याय पर विश्वास हुआ।

इस प्रकार महाभारत का महान शास्त्र सम्पूर्ण हुआ।

इस अध्ययन में कथासूत्र का निर्वाह तो किया ही गया है, किन्तु इस महान् शास्त्र के विभिन्न स्थलों पर जो महान् सांस्कृतिक सामग्री गूढ़ अर्थों में छिपी हुई है उसके अर्थों पर भी वहुधा प्रकाश डाला गया है। देववोध, सर्वज्ञ नारायण, अर्जुन मिश्र और नीलकण्ठ की वृहत् प्रामाणिक टीकाएं महाभारत पर उपलब्ध हैं। देववोध की टीका केवल चार पर्वों पर उपलब्ध है। देशी-विदेशी विद्वानों ने महाभारत पर व्याख्या और तिथिक्रम के प्रश्नों को लेकर वहुत कुछ लिखा है। वह सव स्वागत के योग्य है। किन्तु जैसे इस विश्व का गूढ़ रहस्य मानवीय वुद्धि को पूरी तरह अवगत नहीं हो सकता, वैसे ही कुछ महाभारत के विषय में भी समझना चाहिए। हमने अपनी इस व्याख्या के तीन खण्डों में कितने ही स्थलों के सम्बन्ध में नये अर्थों का उद्घाटन किया है। किन्तु इसे समुद्र में वूंद के वरावर ही कहा जा सकता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के कितने ही सरोवर महाभारत के समुद्र में भरे हुए हैं, जिनका पूरा रहस्य हमें ज्ञात नहीं हो सकता। राजधर्म, आपद्धर्म और मोक्षधर्मपर्व ये तीनों प्रकरण अत्यन्त जटिल हैं। इनके पूरे मर्म को स्पष्ट करने के लिए वहुत अधिक समय और तुलनात्मक अध्ययन की अपेक्षा है। राजधर्म पर्व का अध्ययन करते हुए ऐसा लगा कि प्राचीन राजशास्त्र के कितने ही ग्रंथों का निचोड़ इसमें कर दिया गया है। यद्यपि आज उन ग्रन्थों का पृथक् अस्तित्व नहीं रहा, किन्तु यह हर्ष का विषय है कि उनकी सामग्री का सार यहां सुरक्षित रह गया। मोक्षधर्म पर्व के विषय में हमने वहुत कुछ कहना चाहा, किन्तु उसका वहुत-सा अंश दुर्वोध होने से छोड़ देना पड़ा। यह कठिनाई शव्द-वोध की नहीं है, किन्तु उस शास्त्रीय संगति की है जिसमें वे शव्द और वाक्य चरितार्थ हो सकते हैं। लेखक ने यह वात क्यों कही, और किसी पूर्व युग के धार्मिक इतिहास में इसकी संगति क्या थी? यह प्रश्न वना ही रहता है। जव तक इसका युक्ति-युक्त समाधान न प्राप्त हो और पूर्वापर से उसकी संगति स्पष्ट तथा समझ में न आवे, तव

तक जिस शैली को हमने अपनाया है उससे शंका बनी ही रहती है।

इतना सब लिखने के बाद भी अन्त में इस प्रकार का आत्मानुभव लिखने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि महाभारत के अर्थानुसंधान के विषय में भविष्य के विद्वान् लेखक जागरूक होकर फेंटा कसते रहें। और बार-बार यह प्रश्न पूछते रहें कि अमुक अध्याय में लेखक क्या कहना चाहता है? और, उसके शब्दों के पीछे वास्तविक अर्थ क्या है? ईश्वर से प्रार्थना है कि हमारी यह इच्छा भविष्य में पूरी हो। महाभारत राष्ट्रीय संहिता है। धर्म और दर्शन, अध्यात्म और मानव जीवन के विषय में लगभग ५०० ई० पू० से लेकर ई० पांचवीं शती तक जो नई रचना और नये विचार इस देश में उत्पन्न हुए, उन सबका प्रभाव महाभारत पर पड़ा। इसलिए यह शास्त्र इतना गूढ़ और जटिल बन गया। और, इसके विषय में ऐसी उक्ति प्रसिद्ध हुई—जो अन्यत्र है, वह यहां है। समाज, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में जो नये विषय वातावरण में भरते गए उन्हें आधार मानकर कथावाचक, पौराणिक, या सूत नई ग्रन्थ रचना करते रहते थे। और उनका समावेश एक मान्य पद्धति से महाभारत में होता रहता था। यह कार्य संस्कृत के स्वर्ण युग तक बराबर होता रहा (लगभग ५ शती ई०)। इसे उपबृंहण कहते थे और यह श्लाघनीय कार्य माना जाता था। महाभारत के १८ पर्वों को इस दृष्टि से कितनी ही बार गूंथा गया। फिर भी महाभारत का लाख श्लोकों वाला कलेवर पूरा न हो सका, यद्यपि 'शतसाहस्त्री-संहिता' यह गौरवास्पद नाम इसके लिए लोक में प्रसिद्ध हो गया था। इतनी विशाल रचना विश्व के किसी साहित्य में नहीं है। हमें इसका उचित गर्व होना चाहिए और इसके लिए शोधकार्य की उचित व्यवस्था करनी चाहिए।

परिशिष्ट

महर्षि व्यास

व्यास भारतीय ज्ञान गंगा के भगीरथ हैं। जिस प्रकार इस देवनिर्मित देश को किसी पुरायुग में भगीरथ ने अपने उग्र तप से गंगावतरण के द्वारा पवित्र किया था, उसी प्रकार पुराण मुनि वेदव्यास ने भारतीय लोकसाहित्य के आदि युग में हिमालय के वदरिकाश्रम में अखंड समाधि लगाकर अध्यात्म, धर्मनीति और पुराण की त्रिपथगा गंगा का पहले अपनी आत्मा में साक्षात्कार किया और फिर साहित्यिक साधना के द्वारा देश के आर्य वाङ्मय को उससे पवित्र किया। ज्ञानरूपी हिमवान् के उच्च शिखरों पर बहने वाले दिव्य जलों को मानों वेदव्यास भूतल पर ले आए। उन्होंने लोक साहित्य को वेग की प्रेरणा दी। उनके द्वारा पूर्वजों के ज्ञान और चरित्रों से गुम्फित सरस्वती लोक के कंठ में आ विराजी।

जिस प्रकार भारतवर्ष की प्राकृतिक सम्पदा का अपरिमित विस्तार है, उसी प्रकार कालक्रम से वेदव्यास की साहित्यिक सृष्टि भी लोक के देशव्यापी जीवन में अनन्त बन कर समा गई है। एक प्रकार से सारे राष्ट्र का जीवन ही आज व्यास रूपी महान् वट वृक्ष की छाया के आश्रय में आ गया है। व्यास भारतवर्षीय ज्ञान के सर्वोत्तम प्रतिनिधि बन गए हैं। यदि भारतीय ज्ञान की उपमा एक ऐसे रत्न से दी जाय जिसकी चमक के सहस्रों पहलू हों, तो व्यास की शतसाहस्री संहिता पूरी तरह से उस महार्घ मणि का स्थान ले सकती है। जैसे भगवान् समुद्र और हिमवान् गिरि दोनों रत्नों की खान हैं, वैसे ही 'भारत' भी रत्नों से परिपूर्ण है।[1] व्यास की प्रतिभा

---

१. यथा समुद्रो भगवान्यथा हिमवान् गिरिः।
ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते॥
(आदिपर्व ५६। २७ श्रीसुकथनकर सम्पादित पूना संस्करण)

की स्तुति में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता था—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥
(आदिपर्व ५६, ३३)

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक जीवन के चार पुरुषार्थों से संबंध रखनेवाला जो कुछ ज्ञान महाभारत में है, वही दूसरी जगह है, जो यहां नहीं है, वह कहीं और भी न मिलेगा।

जीवन चरित

पुराविदों के प्रयत्न करने पर भी व्यास हमारे ऐतिहासिक तिथिक्रम के शिकंजे में पूरी तरह नहीं बांधे जा सके। विक्रम से तीस शताब्दी पूर्व से लेकर पन्द्रह शताब्दी पूर्व तक के किसी युग में हमारे व्यास का उदय हुआ। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा से लेकर कृष्ण द्वैपायन तक अठारह व्यासों की परम्परा मिलती है। ये मुख्यतः पुराणों के प्रवचनकर्त्ता रहे होंगे। पर सब पुराणों के सुसमीक्षित संस्करण तैयार न हो जायं तब तक इस अनश्रुति का पूरा मूल्य नहीं आंका जा सकता। हां, जय नामक उत्तम इतिहास के रचने वाले अमितौजा महामुनि व्यास, जिनका नाम अठारह व्यासों के अन्त में आता है, अवश्य ही हमारे चिरपरिचित वे पुराण मुनि हैं जो कुरुपांडव युग में इस पृथिवी पर बदरिकाश्रम और हस्तिनापुर के बीच जाते-जाते थे। हिमालय के रम्य शिखर पर जहां नर-नारायण नामक दो पर्वत हैं, वहां भागीरथी के समीप विशाला बदरी नामक स्थान में व्यास ने अपना आश्रम बनाया था। आज भी बदरी नारायण के इस प्रदेश के दर्शन के लिये प्रति वर्ष सहस्रों यात्री जाते हैं। विशाला बदरी के समीप ही आकाश गंगा है जहां व्यास का चंक्रमण (घूमने का) स्थान था। यह स्थान हरिद्वार से लगभग एक मास की पैदल यात्रा के बाद आता था। उसी हिमवत् पृष्ठ पर व्यास का आश्रम था, जिसके कण-कण में दिव्य तप की भावना ओत प्रोत थी। वहां व्यास ने चार प्रमुख शिष्यों को वैदिक संहिताओं का अध्ययन

कराया। पैल ने ऋग्वेद, वैशम्पायन ने यजुर्वेद, जैमिनि ने सामवेद और सुमन्तु ने अथर्ववेद की संहिताओं का पारायण किया। कहा जाता है कि स्वयं व्यास ने अत्यधिक परिश्रम से समस्त वैदिक मंत्रों का वर्गीकरण करके चार संहिताओं का विभाग किया, और इस साहित्यिक साधना के कारण ही उनका नाम वेदव्यास प्रसिद्ध हुआ।[1] इसी आश्रम में कुरु-पांडवों के युद्ध की समाप्ति पर व्यास जी ने तीन वर्षों के संतत उत्थान के बाद महाभारत नामक श्रेष्ठ काव्यात्मक इतिहास की रचना की।

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्॥
(आदिपर्व ५६।३२)

यह महाभारत पांचवां वेद कहलाता है और इसे व्यास ने अपने पांचवें शिष्य रोमहर्षण को पढ़ाया था। इसका एक नाम कार्ष्ण वेद भी है। वस्तुतः व्यास का जन्म नाम कृष्ण था। महाभारत की राजनीति के युग में दो कृष्ण प्रसिद्ध हुए, एक वासुदेव कृष्ण और दूसरे द्वैपायन कृष्ण। यमुना नदी के एक द्वीप में जन्म होने के कारण ये द्वैपायन कहलाए। चेदि देश के राजा वसु उपरिचर के वीर्य से हस्तिनापुर के पास, जहां एक टापू था, सत्यवती का जन्म हुआ। जन्मकाल से ही यमुनातीरवासी दाशराज ने उसका पालन पोपण किया था। सत्यवती नामक यह कन्या यमुना के पास नाव चलाती हुई प्रथम यौवन के समय योगी पराशर मुनि के संयोग से व्यास की माता बनी। इसी सत्यवती के साथ आगे चलकर राजा शन्तनु ने विवाह किया। व्यास की माता सत्यवती गंगा पुत्र भीष्म की सौतेली मां थी, अतएव व्यास और पितामह भीष्म का सम्बन्ध अत्यन्त निकट था। सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य निस्सन्तान हो मृत्यु को प्राप्त

---

१. यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात्कृष्णत्वमेव च॥
(आदिपर्व ९९।१५)

हुए थे। उनके बाद कुरुकुल अनपत्यता के कारण डूबने लगा, तब अपनी माता सत्यवती का कहना मानकर व्यास ने विचित्रवीर्य की स्त्रियों से धृतराष्ट्र और पांडु नामक दो पुत्र उत्पन्न किए। इसी अवसर पर एक दासी के गर्भ से विदुर उत्पन्न हुए। आम्बिकेय धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि कौरव और कौशल्यानन्दन पांडु के पुत्र युधिष्ठिरादि पंच पांडव हुए। व्यास जी ही इस वंश के बीज वपन करने वाले हुए। अतएव जन्मपर्यन्त हस्तिनापुर के राजनीतिक उतार-चढ़ाव के साथ उनका घनिष्ठ संबंध बना रहा। पुत्रों के जन्म के बाद व्यास ने हस्तिनापुर के पास सरस्वती नदी के किनारे भी एक आश्रम बना लिया था। वहां से वे हस्तिनापुर आते रहते थे। जिस समय पांडु की मृत्यु के बाद पांडव हस्तिनापुर आए और पांडु का दाह-संस्कार हुआ उस समय व्यास वहां मौजूद थे। व्यास ने माता सत्यवती को सलाह दी कि अब तुम हस्तिनापुर छोड़कर वन में जा योग में चित्त लगाओ। कौरव पांडवों की अस्त्र परीक्षा के समय भी व्यास हस्तिनापुर में थे। उन्होंने वनवास के समय एकचक्रा नगरी में पांडवों से भेंट करके उन्हें द्रौपदी के स्वयंवर में सम्मिलित होने की सलाह दी। व्यास जी का अमोघ मन्त्र गाढ़े समय में सदा पांडवों के साथ रहा। व्याह के पश्चात् जब पांडवों को राज मिला तब भी राजसूय यज्ञ की सूझ व्यास जी से ही उनको प्राप्त हुई। इस यज्ञ में आपसी डाह के ऐसे बानक बने जिनसे आगे युद्ध अवश्यम्भावी जंचने लगा। व्यास जी युधिष्ठिर को क्षत्रियों के भावी विनाश की सूचना देकर स्वयं कैलाश पर्वत की यात्रा पर चले गए।[1] इधर पांडवों ने जुए में हारकर फिर वन की राह ली। व्यास जी को जब यह समाचार मालूम हुआ तब उन्होंने आकर धृतराष्ट्र को समझाया कि पांडवों के साथ न्याय करें, और स्वयं द्वैतवन में जाकर पांडवों से मिले। वहां उन्होंने युधिष्ठिर को प्रतिस्मृति नामक सिद्ध विद्या दी और

---

१. स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासं पर्वतं प्रति।
अप्रमत्तः स्थितो दान्तः पृथिविं परिपालय॥

(सभापर्व ४६।१७)

उन्हें दूसरी जगह जाकर रहने की सम्मति दी। पांडव द्वैतवन को छोड़कर सरस्वती के किनारे काम्यकवन में रहने लगे। उनके वनवास के बारह वर्ष समाप्त हो रहे थे। व्यास जी फिर उनके पास पहुंचे और युधिष्ठिर को नीतिमार्ग और आत्मसंयम के धर्म का उपदेश देकर अपने आश्रम को चले गए। तेरहवें वर्ष के वाद जब युधिष्ठिर ने अपना राज्य वापस मांगा, तब व्यास ने धृतराष्ट्र को समझाया। परन्तु काल के सामने बूढ़े और अंधे राजा धृतराष्ट्र तथा मनीषी वेदव्यास का एक भी उपाय सफल न हुआ। व्यास अपने ज्ञान चक्षु से काल की महिमा जानते थे। काल की दुर्धर्ष सत्ता में विश्वास उनके दर्शन का अभिन्न अंग था, जिसे उन्होंने कई जगह महाभारत में प्रकट किया है—

> कालमूलमिदं सर्वं जगद्बीजं धनञ्जय।
> काल एव समादत्ते पुनरेव यदृच्छया।
> स एव बलवान् भूत्वा पुनर्भवति दुर्बलः।
>
> (मौसलपर्व ८, ३३, ३४)

काल सबकी जड़ है, काल संसार के उत्थान का बीज है। काल ही अपने वस में करके उसे हड़प लेता है। कभी काल बली रहता है, कभी वही निर्बल हो जाता है। समन्तपंचक के सब क्षत्रियों का क्षय करनेवाले युद्ध को अपनी आंखों से देख कर वेदव्यास ने काल की महिमा के ध्यान से ही अपने चित्त को धैर्य दिया था। जिस समय कुरुक्षेत्र में दोनों ओर से भारतीय सेनाएं आ डटीं, तब भी व्यास जी ने धृतराष्ट्र को समझाकर युद्ध रोकना चाहा। पर उनकी एक न चली। युद्ध के दिनों में भी वह जब तब अपने मंत्र से स्थिति को संभालते रहे और युद्ध के अन्त में शोकमना धृतराष्ट्र को और युधिष्ठिर को समझा बुझाकर धैर्य बंधाया। युधिष्ठिर को राज्य के लिए तैयार करके नीति, धर्म और अध्यात्म की शिक्षा के लिए भीष्म के पास भेजा और अश्वमेध करने की प्रेरणा की। युद्ध के सोलह वर्ष वाद वह धृतराष्ट्र से फिर हिमालय में जाकर मिले और तप करने की सलाह देकर अपने आश्रम को

चले गए। जब सरस्वती नदी के तीर पर बसने वाले आभीर गणों (हरियाने के दस्युओं) ने वृष्णि वंश की स्त्रियों को अर्जुन के देखते-देखते लूट लिया, तब शोक और अपमान से भग्न हृदय अर्जुन अन्तिम बार व्यास के दर्शन को गए। व्यास ने उन्हें कालचक्र के उत्थान और पतन का उपदेश देकर विदा किया। घटनाओं के झंझावात में भी क्षोभरहित स्थिति के प्रतीक वेदव्यास हैं।

ग्रंथ परिचय

व्यास को वेदान्तसूत्रों का कर्त्ता माना जाता है। वेदान्तसूत्रों का नाम भिक्षुसूत्र भी है। पाणिनि की अष्टाध्यायी से विदित होता है कि भिक्षुसूत्र के रचयिता पाराशर्य थे। पराशर के पुत्र होने के कारण व्यास का ही एक नाम पाराशर्य था। बदरी आश्रम में रहने के कारण व्यास का दूसरा नाम बादरायण मुनि भी था और इसी कारण कभी-कभी वेदान्तसूत्रों को बादरायणसूत्र भी कहते हैं। पाणिनि के शास्त्र में जो ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है उसको प्रामाणिक मानते हुए यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त हेतु है कि वेदान्तसूत्रों की रचना वेदव्यास ने ही की हो। वेदान्तसूत्र उपनिषदों के अध्यात्मज्ञान का निचोड़ है। कहा जाता है कि वेदव्यास ने अपने पुत्र शुक को मोक्षशास्त्र का अध्ययन कराया था। सम्भव है, बादरायण सूत्रों की रचना में यही हेतु रहा हो।

परन्तु जो ग्रन्थराट् व्यास की कीर्ति का शुभ्र जयस्तम्भ है, वह महाभारत है। महाभारत में व्यास ने अपनी अमित बुद्धि से अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र को भारतीय कथा के साथ-साथ बड़े सुन्दर ढंग से सजाकर सदा के लिए आर्य जाति के विस्तृत ज्ञान और लौकिक जीवन का रूप खड़ा कर दिया है।

अर्थशास्त्रमिदं पुण्यं धर्मशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना।

(आदिपर्व ५६। २१)

महाभारत सच्चे अर्थों में प्राचीन भारतवर्ष का विश्वकोष है। संसार के साहित्य में महाभारत एक दिग्गज ग्रन्थ है। इसकी तुलना में यूनान के इलियड और ओडेसी अथवा आइसलैंड और स्कैंडिनेविया के प्राचीन एड्डा और सागा, जिसमें उत्तराखंड का वचा-खुचा गाथा शास्त्र[1] सुरक्षित है, बहुत पीछे छूट जाते हैं। महाभारत जहां एक ओर प्राचीन नीति और धर्म का अक्षय भंडार है, वहीं दूसरी ओर इसमें भारतीय गाथाशास्त्र की भी अनन्त सामग्री है। महाभारत को वेदव्यास ने अतीत की घटनाओं के नीरस क्रोड-पत्र के रूप में नहीं रचा, अन्यथा वह अब से कहीं पहले अन्य देशों के भारी भरकम ऐतिहासिक पोथों की तरह धूलि-धूसरित हो गया होता। महाभारत एक जीते-जागते चित्रपट के रूप में सदा हमारे सामने रहा है, जिसके अर्थ का व्याख्यान अनगिनत सूत अपने-अपने आसनों से करते रहे हैं। आज भी व्यासगद्दी का उत्तराधिकार भारत के अपने साहित्यिक जगत् में अक्षुण्ण वना हुआ है। आकाश में उड़ने वाले ज्ञान को पृथिवी के मानव की पहुंच में किस तरह लाया जा सकता है, इस प्रश्न का समाधान भारतवर्षीय व्यासगद्दी है। पश्चिम को यह शिकायत है कि उसका नया ज्ञान विशेषज्ञों के हाथ में पड़कर लोक से दूर जा पड़ा है। जीवन, मरण एवं सृष्टि और प्रलय के संबंध में जो विज्ञान के संशोधन हैं उनको जन साधारण के जीवन में ढालने के साधन का विज्ञान के पास अभाव है। परन्तु भारतवर्ष में सार्वजनिक शिक्षा के चमत्कारी विधानों में व्यासगद्दी से कही जानेवाली कथाओं के द्वारा विशेषज्ञ और लोक के वीच की खाई पर पुल बनाने का सफल प्रयास होता आया है। इसी कारण रामायण, महाभारत और पुराणों के महान् चरित्रों की अमर कथाएं देश के कोने-कोने में फैली हुई हैं। अपने पूर्वपुरुषों के चरित्रों को सुनने की जो हमारे मन में स्वाभाविक उमंग है, वही हमारा सवसे उत्कट इतिहास प्रेम है। जनमेजय के शब्दों में कह सकते हैं—

---

१. नार्डिक माइथालोजी।

'पूर्वपुरुषों के महान् चरित्र को सुनते-सुनते मैं कभी तृप्त नहीं होता।'[1] उस स्वाभाविक कौतुक को तृप्त करने का राष्ट्रीय साधन महाभारत ग्रंथ था। पराक्रमी द्रोण, भीष्म, अर्जुन, भीम, कर्ण और दुर्योधन के महावीर्य भुजदंडों की शक्ति का ओज जो वेद व्यास ने अपने श्लोकों में भरा है, उससे अब भी हमारा वीर हृदय उछलने लगता है।

भारत महाभारत

महाभारत को शतसाहस्री संहिता कहा गया है। हरिवंश को मिलाकर महाभारत के १८ पर्वों में एक लाख श्लोक होने का अनुमान किया जाता है। पर यह निश्चय है कि वेदव्यास के समय में इस ग्रन्थ का यह बृहत् रूप न था। पाणिनि की अष्टाध्यायी के एक सूत्र [६ । २ । ३८] में महाभारत नाम आता है। उससे पहले आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत और महाभारत दोनों का एक ही वाक्य में अलग-अलग उल्लेख है। वास्तविक कुरुपांडवों का वीरगाथा ग्रन्थ भारत ही था, जिसमें चौबीस हजार श्लोक थे और इस कारण जिसका नाम 'चतुर्विंशतिसाहस्री भारत संहिता' प्रसिद्ध था। इसकी अन्त:साक्षी स्वयं महाभारत में मौजूद है—

चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् ।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥

(आदि १ । ६१)

व्यास का मूल भारत विना उपाख्यानों के था, पर वर्तमान ग्रन्थ में सैकड़ों उपाख्यान यथास्थान पिरो दिये गए हैं। व्यास ने तीन वर्ष के सतत परिश्रम (उत्थान) से २४००० श्लोकों में भरतवंश के इतिहास और युद्ध का मूल काव्य रचा। उसको रोमहर्षण सूत ने यथावत् पढ़ा। पुनः व्यास-शिष्य वैशम्पायन ने जनमेजय के यज्ञ में उसका पारायण किया। इस समय तक ग्रन्थ का रूप शुद्ध बना रहा। महाभारत का तीसरा संस्करण भार्ग-

---

१. नहि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ।

(आदि० ५६।३)

वंशी कुलपति शौनक के बारह वर्षों के यज्ञ में देखने में आता है। यहां वक्ता और श्रोता दोनों नैमिषारण्य की सघन छाया में शान्ति के साथ पर्याप्त अवकाश लेकर बैठे थे। इस समय भारत का उपबृंहण महाभारत के रूप में हो चुका था, चतुर्विंशतिसाहस्री संहिता बढ़कर शतसाहस्री बन गई थी। उसमें ययाति[1] और परशुराम जैसे बड़े-बड़े उपाख्यान स्वच्छन्दता से मिला लिए गए। बहुत सी कथाएं, जिन्हें हम बौद्ध जातकों तक में पाते हैं, लोक की चलती-फिरती संपत्ति थीं, वे भी महाभारत में मिला ली गईं। अनुशासन पर्व की पुष्करहरण की कथा (अ० ९३। ९४) और भिसजातक [सं० ४८८] एक ही हैं। अनागत विधाता आदि तीन मछलियों की कहानी या राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़िया की बाल कहानियां भी महाभारत के भीतर आ गईं। इसके अतिरिक्त शिव, विष्णु, सूर्य, देवी ओर गणपति की बढ़ती हुई भक्ति के आवेश में सम्प्रदायविदों ने महाभारत को अपनी कृपा का लक्ष्य बनाया। परन्तु इन सबसे बढ़कर अध्यातम, धर्म और नीति के अनेक संवाद महाभारत में समय-समय पर मिलते गए। इन सब सम्मिश्रणों के कारण मूल ग्रन्थ का कायापलट हो गया। कुछ समय तक तो भारत और महाभारत का अस्तित्व अलग-अलग पहचानने में आता रहा, परन्तु जैसा स्वाभाविक था, आगे चलकर केवल महाभारत ही आर्य संस्कृति के सबसे महान् ज्ञान-विज्ञान कोष के रूप में रह गया।

पूना संस्करण

प्रश्न यह है कि क्या फिर मूल भारत ग्रन्थ को महाभारत में से अलग किया जा सकता है। क्या यह संभव है कि महाभारत के भीतर कालक्रम से जमी हुई विभिन्न साहित्यिक तहों को फिर से उलटकर हम कुछ उस पर्दे को हटा सकें जिसके पीछे नवीन ने प्राचीन भाग को छिपा रक्खा है। यह

---

१. व्याकरण साहित्य में इन उपाख्यानों का उल्लेख 'यायात' और 'आधिराम' नामों में किया गया है। (काशिका सूत्र ६।२।१०३)

प्रश्न हमारे राष्ट्रीय पांडित्य की कसौटी है। हर्ष की बात है कि यह भगीरथ कार्य पूना के 'भांडारकर प्राच्य विद्या संस्थान' की तरफ से आज लगभग बीस वर्षों से हो रहा है। महाभारत के इस संस्करण में जहां तक मानवी बुद्धि और परिश्रम के लिए सम्भव है, वहां तक महाभारत के उस मूल रूप का, यथासम्भव प्राचीनतम उद्धार करने का प्रयत्न किया गया है। डा० सुकथनकर इस कार्य के प्राण थे। इस दिशा में उनका 'भृगु और भारत'[1] शीर्षक बृहत् निवन्ध स्तुत्य है। उससे यह ज्ञात होता है कि भृगुवंशी ब्राह्मणों के द्वारा किये गए संपादन के फलस्वरूप शताब्दियों में भारत को महाभारत का स्वरूप प्राप्त हुआ होगा। कुलपति शौनक स्वयं भार्गव थे। भारतवंश से भी पहले उनकी जिज्ञासा भार्गववंश की कथा के लिए प्रकट होती है—

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।

भार्गव शौनक का यह पक्षपात समग्र ग्रन्थ पर पड़े हुए भार्गव प्रभाव का द्योतक है। और्वोपाख्यान (आदि०), कार्तवीर्योपाख्यान (वन०), अम्बोपाख्यान (उद्योग०), विपुलोपाख्यान (शान्ति०), उत्तंकोपाख्यान (अश्वमेध०) का संवंध भार्गवों से है। आदिपर्व के पहले ५३ अध्याय, जिनमें पौलोम और पौष्य पर्व हैं, भार्गव कथाओं से संवंध रखते हैं। भरतवंश की कथा उसके बाद चली है। शान्ति और अनुशासन पर्वों में जो धर्म और नीतिपरक अंश हैं, वे भी भृगुओं की प्रेरणा के फल हैं। यह सत्य है कि मूल भारतसंहिता के उस शुद्ध रूप का जिसमें उसका आविर्भाव हिमवत् पृष्ठ के बदरी वन में हुआ था, इस समय ठीक-ठीक उद्धार करने का दावा कोई नहीं कर सकता, फिर भी सहस्रों वर्षों की जमी हुई काई को हटाकर जितना भी परिष्कार किया जा सके श्रेयस्कर है। इस दृष्टि से पूना के भारत चिन्तकों का कार्य राष्ट्रीय महत्त्व का है। महामति पुराणज्ञ डा० सुकथनकर इस कार्य में हमारे अर्वाचीन उग्रश्रवा हुए।

---

१. भंडारकर इंस्टीटयूट की मुखपत्रिका भाग १८, पृ० १, ७६; 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका, भाग ४५ पृ० १०५-१६२।

साहित्यिक महत्त्व

महाभारत संस्कृत साहित्य का धुरंधर ग्रन्थ है। उसका साहित्यिक तेज सर्वातिशायी है, 'एड्डा' और 'सागाओं' के लिए प्रख्यात लेखक कारलाइल ने लिखा है कि वे इतनी महान् कृतियां है कि उन्हें किंचित् स्वल्प कर देने पर शेक्सपियर, दांते और गेटे बन सकते हैं, यही बात हम महाभारत के लिए कह सकते हैं। भास, कालिदास, माघ, भारवि और श्रीहर्ष की साहित्यिक कृतियां महाभारत के ही अल्प विषयात्मक रूप हैं। यों भी महाभारत साहित्यिक शैलियों की खान है। उपाख्यान शैली, गल्प शैली, दर्शन और अध्यात्मक निरूपण की संवादात्मक शैली, प्रश्नोत्तर शैली (युधिष्ठिर-अजगर और युधिष्ठिर-यक्ष प्रश्न, वनपर्व अ० १८०, ८१, अ० ३१३), केवल प्रश्नात्मक शैली (सभापर्व अ० ५, नारद प्रश्न से राजधर्मानुशासन), नीति ग्रन्थात्मक शैली (विदुरनीति, उद्योग० अ० ३३, ४०), स्तोत्र शैली,[1] सहस्रनाम शैली—इस प्रकार वर्तमान महाभारत में साहित्यिक पद्धति के अनेक बीज पाये जाते हैं।

व्यास और राष्ट्र

पर हमारे राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए महाभारत का विशेष महत्त्व यह है कि वह प्राचीन भूगोल, समाजशास्त्र, शासन सम्बन्धी संस्था, नीति और धर्म के आदर्शों की खान है। वेद व्यास जिस भारत राष्ट की उपासना करते थे, भविष्य का हिन्दू उसका स्वप्न देखेगा, उनका निम्नलिखित राष्ट्रगीत हमारे इतिहास का सनातन मंगलाचरण होगा—

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च

1. जैसे महापुरुषस्तव (शान्ति अ० ३३८), कृष्णनाम स्तुति (शा० अ० १६१), भगवान्नाम निरुक्ति (शा० अ० ३४१) और कृष्णस्तवराज (शा० अ० ४७)। स्तोत्र और सहस्रनामों का संग्रह इन्हीं दो पर्वों में अधिक है जो संदेहजनक है।

पृथोस्तु राजन्वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः ।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा ।
कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः ।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च ।
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम् ।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम् ।[1]

आओ, हे भारत, अब मैं तुम्हें भारत देश का कीर्तिगान सुनाता हूं। वह भारत, जो इन्द्रदेव को प्रिय है; जो मनु, वैवस्वत, आदिराज पृथु, वैन्य और महात्मा इक्ष्वाकु को प्यारा था; जो भारत ययाति, अम्बरीष, नहुष मुचुकुन्द और औशीनर शिवि को प्रिय था; ऋषभ, ऐल और नृग जिस भारत को प्यार करते थे; और जो भारत कुशिक, गाधि, सोमक, दिलीप और अनेकानेक वीर्यशाली क्षत्रियसम्राटों को प्यारा था; हे नरेंद्र, उस दिव्य देश की कीर्ति कथा मैं तुम्हें सुनाऊंगा।

व्यास ने राष्ट्रीय राजनीति का जो आदर्श रक्खा है, वह मनु और वाल्मीकि से मिलता है। वाल्मीकि के 'अराजक जनपद' गीत से मिलता-जुलता व्यास का 'यदि राजा न पालयेत्' (शान्ति० ६८।१–३०) गीत है। लोक में शान्ति की व्यवस्था राजा का सबसे प्रथम कर्त्तव्य है। धर्म की जड़ राजा की सुव्यवस्था के बल पर टिकी रहती है। यदि राजा न हो तो दुष्ट साधुओं को खा डालें, धर्म डूब जाय। वेद कहीं के न रहें। सारी प्रजा अन्धकार में विलीन हो जाय[2]। राष्ट्र के धर्मबन्ध शासन की सुव्यवस्था के अधीन हैं। व्यास के मत में बिना राजा का राष्ट्र मरा हुआ है।

---

१. भीष्मपर्व अ० ९ श्लो० ५, ९। संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं।

२. राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते ।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ।
न योनिदोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक् पथः ।
मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥ (शा० अ० ६८)

मृतं राष्ट्रमराजकम्। (वन० ३१३।८४)

अराजक राष्ट्र मात्स्य न्याय का शिकार हो जाता है (शा० १६।१७)। व्यास ने राजा और क्षत्रिय की परिभाषा दी है। जो लोकरंजन करता है वही राजा है (शा० ५६।११) जो क्षत्र से वचाता है वही क्षत्रिय (शा० २९।१३८) है। इन्हीं आदर्शों को हमारे इतिहास के स्वर्णयुग में कालिदास ने दोहराया था।[1] भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा—राजा काल को वनाता है, या काल राजा को वनाता है, इसमें तुम कभी संशय मत करना। राजा ही काल को वनाता है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्॥ (शा० ६९।६)

'जव राजा भली प्रकार दंडनीति का पालन करता है। तभी सत्युग आ जाता है। राजा का आसन राष्ट्र का ककुद् है। राजा की उस आदर्श आसन्दी की रक्षा में रह कर प्रजा जिस धर्म का पालन करती है उसका एक चतुर्थ अंश राजा को प्राप्त होता है। राजा को अपनी नीति में माली की तरह होना चाहिए, कोयला फूंकने वाले आंगारिक की तरह नहीं। एक फूलों की चाह में वृक्षों को पोसता है, दूसरा अंगारों के लिए पेड़ों को फूंक डालता है। राजा का शरीर प्रजाएं हैं। अपने आपको वचाने के लिए भी राजा को प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। प्रजा का भी सर्वोत्तम शरीर राजा ही है। राजा को पुष्ट करके वे अपने आपको वढ़ाती हैं। जो राष्ट्र की कामना करते हैं, उनको सवसे पहले लोक की रक्षा करनी चाहिए।' व्यास ने षोडषराजीय पर्व में प्राचीन आर्य राजाओं के आदर्श का स्मरण दिलाया है। राम के राज्य में समय पर मेघ वरसते थे और सदा सुभिक्ष

---

१. क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः। (रघुवंश २।५३)

तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृति रंजनात्। (रघु० ४।१२)
अर्थात् रघु प्रकृतिरंजन के कारण सच्चे अर्थों में राजा कहलाये।

रहता था। दिलीप के राज्य में स्वाध्याय घोष, टंकार घोष और दान-संकल्प घोष, ये तीन शब्द बराबर सुनाई पड़ते थे। संक्षेप में वेद व्यास के मत के अनुसार लोक का सारा जीवन राजधर्म के आश्रित है। राजधर्म बिगड़ गया तो वेद, धर्म, वर्ण, आश्रम, त्याग, तप, विद्या, सब कुछ नष्ट हुआ समझना चाहिए। (शान्ति पर्व ६३। २८, २९)—

मज्जेत् त्रयी दंडनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वाः दीक्षा राजधर्मेषु युक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु चोक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥

व्यास जी उस राजनीतिक नेता का अधिकार नहीं मानते, जो स्वयं किसान का जीवन व्यीत न करता हो—

न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत्कृषिम्।
(उद्योगपर्व ३६।३१)

'वह हमारी समिति का सदस्य नहीं बन सकता जो स्वयं कृषि नहीं करता।' जो खेतिहर किसान नहीं है, वह नेता धोखे की टट्टी है; जो स्वयं हल की मुठिया नहीं पकड़ता वह कैसा नेता, किसका नेता ? किसानों के देश के राजनीतिक जीवन की यही एक कसौटी हो सकती थी। उसे ही कई सहस्त्र वर्ष पूर्व व्यास जी ने लोक धर्म के निचोड़ की तरह पहचान लिया और इतने सरल शब्दों में कह डाला। यहां व्यास जी भारत के शाश्वत किसान की भाषा में बोल उठे हैं—'जो स्वयं धरती न जोते वह हमारी संसद् में बैठने योग्य नहीं।'

व्यास और धर्म

व्यास ने जो धर्म का स्वरूप रक्खा है वह उनका सबसे महान् ऋषित्व या दर्शन है। वे धर्म को स्वर्ग प्राप्ति कराने वाले थोथे कर्मों का जंजाल नहीं मानते। उन्होंने अपने ध्यान से धर्म की एक नई परिभाषा, एक नये स्वरूप का अनुभव किया—

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः (उद्योग० १३७।९)। व्यक्ति को, राष्ट्र को, जीवन को, संस्थाओं को, लोक और परलोक सबको धारण करने वाले जो शाश्वत सर्वोपरि नियम हैं, वे धर्म हैं।

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः ॥

धर्म स्वर्ग से भी महान् है। लोकस्थिति का सनातन वीज धर्म है। इस दृष्टि से देखने पर धर्म गंगा के ओजस्वी प्रवाह की तरह जीवन के सुविस्तृत क्षेत्र को सिंचित और पवित्र करने वाला अमृत वन जाता है। राजाओं की जय और पराजय आने-जाने वाली चीजें हैं। जीवन में सुख और दुःख भी सदा एक से नहीं रहते। पर सम्पत्ति और विपत्ति में भी जो वस्तु एकसी वनी रहती है, वह धर्म है। व्यास ने महाभारत संहिता लिखने के वाद उसके अन्त में अपने दृष्टि-कोण और उद्देश्य का निचोड़ चार श्लोकों में दिया है, जिसे भारतसावित्री कहते हैं। उसका अन्तिम श्लोक यह है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ॥
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये।
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

अर्थात् काम से, भय से, लोभ से, यहां तक कि प्राणों के लिए भी धर्म को छोड़ना ठीक नहीं, क्योंकि धर्म नित्य है, सुख और दुःख क्षणिक हैं। इसी तरह जीव भी नित्य है, जन्म और मृत्यु अनित्य हैं। मैं भुजा उठाकर कह रहा हूँ, पर कोई मेरी बात सुननेवाला ही नहीं है। 'धर्म से ही धन और काम मिलते हैं, उस धर्म का आश्रय क्यों नहीं लेते।' ये भारत सावित्री में व्यास के साक्षात् वचन हैं।

यदि धर्म जीवन को धारण करनेवाला है और धर्म अच्छी चीज है, तो जीवन भी मूल्यवान् होना चाहिए। व्यास के धर्म में जीवन रोने-धोने या माया समझकर खोने की चीज नहीं। उनकी दृष्टि में यह लोक कर्मभूमि

है, परलोक फलभूमि होगा। देवदूत ने मुद्गल से कहा—

कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमि रसौ मता।

(वन० २६१।३५)

वन में पांडवों के पास जाकर स्वयं व्यास ने यह मत रक्खा था। वे इस लोक में कर्मवाद को मानते हैं। उसके साथ देववाद को भी मानते हैं और दोनों के ऊपर अध्यात्म ब्रह्म या आत्मतत्त्व में विश्वास रखते हैं। उन्होंने जो दार्शनिक मत रक्खा है, उसमें मनुष्य सबके केन्द्र में है। व्यास का यह श्लोक स्वर्ण के अक्षरों में टांकने योग्य है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि
न हि मानुषात् श्रेष्टतरं हि किंचित्॥

(शान्ति० १८०।१२)

अर्थात् यह रहस्य ज्ञान तुमको बताता हूं—मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है। व्यास का यह मानव-केन्द्रिक (मैन ऐट दि सेन्टर आव यूनिवर्स) मत हमारे अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान और सामाजिक अध्ययन में भी सर्वत्र व्याप्त होता जा रहा है।

व्यास की परिभाषा के अनुसार कर्म मनुष्य की विशेषता है।

प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः।

(अश्व० ४३।२०)

कर्म करने से जो प्रकाश जीवन में आता है उसी से मनुष्य देव बन जाता है। आत्माभिमान के साथ मनुष्य शरीर रखने से ही सारे लाभ प्राप्त होते हैं।

पाणिवाद

व्यास ने मानवी पुरुषार्थ की श्रेष्ठता का उत्पादन करते हुए इन्द्र के मुख से पाणिवाद का व्याख्या कराया है। जिनके पास हाथ हैं, वे क्या नहीं कर सकते? जिनके हाथ हैं, वे ही सिद्धार्थ हैं। जिनके हाथ हैं, उनकी मैं सबसे अधिक सराहना करता हूं। जैसे तुम धन चाहा करते हो, वैसे मैं

तो पांच अंगुलियोंवाले हाथ चाहता हूं। पाणिलाभ से वढ़कर और कोई लाभ नहीं है।[1] जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही लाभ मिलता है, यही शास्त्रों का निचोड़ है—

यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्रनिदर्शनम्।

(शांति० २७९। २०)

किन्तु धनागम धर्म से होना चाहिए। व्यास जी के मन में धर्म का ऊंचा स्थान है, उसके अनुसार न केवल अर्थ वरन् काम और मोक्ष भी धर्म पर आश्रित हैं और यह राज्य भी धर्ममूलक हैं—

व्यास जी ने नगद धर्म पर वल दिया है। वे कहते हैं—मनुष्य लोक में ही जो कल्याण है उसे मैं अच्छा मानता हूं (मनुष्य लोकेयच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर, वनपर्व १८३। ८८)। व्यास जी की दृष्टि में वह व्यक्ति अधूरा है जो लोक से दूर रहता है। 'जो मनुष्य स्वयं अपनी आंखों से लोक का ज्ञान प्राप्त करता है, वही सव कुछ जान सकता है'—

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।

(उद्योगपर्व ४३।३६)

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलं नरेन्द्र राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति।

(वन० ४।४)

व्यास की दृष्टि में लोक संग्रह और लोक धर्म वहुत मूल्यवान् पदार्थ हैं। आजगर मुनि को 'लोक धर्म विधानवित्' अर्थात् लोक धर्म के सिद्धान्त और संगठन का वेत्ता (शा० १७९। ६) कहा गया है। जो व्यक्ति लोक-पक्ष का इतना समर्थक हो. उसे गृहस्थ धर्म का प्रशंसक होना ही चाहिए।

---

१. अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः॥
पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य वै।
न पाणिलाभदधिको लाभः कश्चन विद्यते॥

(शान्तिपर्व १८०।११, १२)

व्यास के अनुसार धर्म के द्वारा प्रवृत्त गृहस्थ आश्रम सब आश्रमों में तेजस्वी मार्ग है, वह पवित्र धर्म है जिसकी उपासना करनी चाहिए।[1]

व्यास और अध्यात्म

लोक, गार्हस्थ्य और मनुष्य के लिए जिस महापुरुष के मन में श्रद्धा है, जिसका दृष्टिकोण इन विषयों में इतना मंजा हुआ है, उसका अध्यात्मशास्त्र भी तदनुकूल ही मानव को साथ लेकर चलता है। मनुष्य पंचेन्द्रियों से युक्त प्राणी है। इंद्रियां ही मानव को देव या असुर बना देती हैं। व्यास के अध्यात्मशास्त्र का सार इन्द्रियों का निग्रह है—

आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रिय निग्रहात् ।

(उद्योग० ६९।१७)

इन्द्रियों को रोकने के सिवाय आत्मा की उन्नति का दूसरा उपाय नहीं है। विषयों की ओर जाती हुई इन्द्रियों को वश में रखने से अध्यात्माग्नि प्रकाशित हो उठती है। जिस प्रकार ईंधन के जलने से अग्नि चमक उठती है, उसी प्रकार इन्द्रियनिरोध से महानात्मा प्रकाशित होता है। डसने के भाव से सर्प जाने जाते हैं, दम्भभाव से असुर, दानभाव से देव और दमभाव से महर्षि पहचाने जाते हैं (आश्व० अ० २१)। वेदज्ञान का रहस्य सत्य भाषण में है। सत्य का उपनिषद् इन्द्रियदमन है, और दम का फल मोक्ष है—

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः ।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम् ॥

(शा० २९९।१३)

आत्मनिरोध के द्वारा जो व्यक्ति जीवन में अपना मार्ग विषयों से भरे हुए जंगल में स्वयं निश्चित करता है, वह अपना ज्ञान औरों पर नहीं बघारता, बल्कि अपने आचार से औरों को उपदेश देता है। बोध्य ऋषि की कही हुई पुरातन गाथाओं को उद्धृत करके व्यास ने यही कहा है—

---

१. सर्वाश्रमपदेप्याहुर्गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम् ।
पावनं पुरुषव्याघ्र यं धर्मं पर्युपासते ॥

(शा० ६६।३५)

उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कंचन। (शा० १७८।६)
मैं अपनी करनी से सिखाता हूं, कथनी से नहीं। वेदव्यास ऋजुभाव के मानने-वाले हैं। ऋजुभाव की उपासना ब्रह्मपद की प्राप्ति है, कुटिलता मृत्यु का पद है। इतना ही ज्ञान का सार है, और सब झूठी बकवाद है।[1]

कालधर्म

वेदव्यास के आध्यात्मिक दर्शन में कालधर्म का बड़ा स्थान है। उनकी आंखों ने समंत पंचक में हुए कुरु पांडवों के दारुण नाश को देखा। बड़े कुशाग्र बुद्धि और कल्याणाभिनिवेशी व्यक्ति इच्छा रहते हुए भी उस क्षय को नहीं रोक सके। यह कालचक्र की ही महिमा है। कर्म के साथ मिलकर काल ही संसार में बहुत तरह के उलटफेर करता है (शा० २१३।१३)। काल के पर्यायधर्म के सामने सब अनित्य ठहरता है, कभी एक की वारी, कभी दूसरे की। महाभारत के अन्त में जो व्यक्ति स्त्रीपर्व को देखे, वह इसके सिवाय और क्या कह सकता है—

न च दैव कृतो मार्गः शक्यो भूतेन केनचित्।
घटतापि चिरं कालं नियन्तुमिति मे मतिः ॥

कोई प्राणी कितनी भी कोशिश करे, दैव के रास्ते को नहीं रोक सकता। यह दैव या उत्कट काल विश्व का नित्य विधान है। इसी का नामान्तर सनातन ब्रह्म है। वेदव्यास मानव जीवन की घटनाओं की ऊहापोह करते हुए उनके अन्तिम कारण की खोज में यहीं विश्राम लेते हैं। यह सच है कि मनुष्य विधाता के द्वारा निश्चित संसार के विधान को बदल नहीं सकता, पर इतना अवश्य कर सकता है कि उस सर्वोपरि शक्ति के रहस्यों का साक्षात्कार करके जीवन में ऋजुभाव को अपना ले। पह यह भी कर सकता है कि इन्द्रियों के निरोध और आत्मचिंतन से आत्म-जोति को इसी

---

१. सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतवान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति॥
(आश्व० ११।४)

शरीर में प्राप्त कर ले। यह शरीर मूंज-घास है, आत्मा उसके भीतर की सींक है। जिस प्रकार मूंज से इषीका निकाली जाती है, वैसे ही योगवेत्ता शरीर में आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। (आश्वमेध० १९।२२, २३)

व्यास की आज्ञा है कि जय नामक इतिहास सबको सुनना चाहिए। यह धुरंधर ग्रन्थ भारतीय चरित और ज्ञान की पूर्णतम वर्णपट्टिका है। इसके निर्माता की प्रज्ञा सूर्यरश्मियों की तरह विराट् है। सारा भारत राष्ट्र महा-मुनि वेदव्यास के लिए अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। हम भी हिमालय के शिलाप्रस्थ पर विराजमान बदरिकाश्रम के पुराण मुनि को प्रणाम करते हैं, जिनके पृथु नेत्रों में हमारे ज्ञान का सारा आलोक समा गया था, जिनका शालस्कन्ध के समान उन्नत मेरुदंड राष्ट्रीय मेरुदंड का प्रतीक था, जिनके चन्दनोक्षित कृष्णशरीर में हमारे शुभ आदर्श मानों राशिभूत होकर मूर्तिवान् हो उठे थे।

व्यास का मानवीय दृष्टिकोण

भारत के सांस्कृतिक दृष्टिकोण में इहलोक और मानवीय जीवन का उसी प्रकार महत्त्व है जिस प्रकार परलोक और देवों का। वेदव्यास ने इस सम्वन्ध में भारतीय मत का निचोड़ इस प्रकार कहा है —

मनुष्यलोके यच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर। (वनपर्व १७३।१७७)

"इस मनुष्य लोक या जीवन में जो कल्याण है, उसे ही हम श्रेष्ठ या अच्छा समझते हैं।"

इससे भी बढ़कर व्यास की वह उक्ति है जिसमें उन्होंने मानव केन्द्रिक मत का प्रतिपादन किया है—

नहि शसः प्रतिशपामि किंचिद्, दमं द्वारं ह्यमृतस्येह वेद्मि।
गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, न ह मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चत्॥
(शांतिपर्व २७६।१२०)

"कोई मुझ पर रोष करे, मैं उस पर रोष नहीं करता। सब प्रकार अपने आप को वश में रखना यही अमृत जीवन का द्वार है। यह अत्यन्त रहस्यमय ज्ञान तुमसे कहता हूँ कि मनुष्य से बढ़कर और कुछ नहीं है।"

गांधी जी के शब्दों में—"मैन इज़ दी सुप्रीम कन्सीडरेशन।"

अर्थात् संसार में जितने प्रयत्न, योजनाएँ और आकांक्षाएं हैं, सब का मध्यवर्ती विन्दु मानव है, सब कुछ तभी सत्य है जब वह मानव के लिये हितकारी है। यही सबसे प्रमुख जीवन का सत्य है कि यहां देवों से भी बढ़कर मनुष्य हैं, मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।

मानवीय जीवन में ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वय है। उसकी पूर्णता के लिये इस लोक की समृद्धि उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार अध्यात्म-भावों की साधना और सिद्धि।

इस जीवन के दो वड़े खम्भे और हैं—एक वार्ता या अर्थशास्त्र और दूसरा राजशास्त्र या दण्डनीति। नीति में स्वीकार किया गया है—

सर्वारम्भाः तण्डुलप्रस्थमूलाः।

"जितने उद्योग हैं सब की जड़ में पाव भर चावल का वल है।" इससे वढ़कर स्पष्ट और मुंहफट आर्थिक जीवन की और स्वीकृति क्या हो सकती है? वेदव्यास ने अपनी उसी उदार वाणी से कहा—

वार्तामूलो ह्ययं लोकस्तया वै धार्यते सदा।
तत्सर्वं वर्तते सम्यग्, यदा रक्षति भूमिपः॥
(शान्तिपर्व ६७।३५)

इस लोक के जीवन का ठाठ अर्थशास्त्र की नींव पर खड़ा है और वही सदा इसे चालू रखता है। वह अर्थशास्त्र तभी ठीक चलता है जव राज्य-व्यवस्था ठीक हो।

जो राज्य की अभिलाषा करते हैं, उनका भी लोक की रक्षा के अतिरिक्त और कोई दूसरा धर्म नहीं है। जिस राष्ट्र में राज्य व्यवस्था नहीं, उसे मरा हुआ समझो।

पृथ्वी में दण्डधारी राजा न हो, तो जल में मछलियों की तरह वलवान् निर्वलों को खा डाले। ये प्रजाएं पार्थिव ब्रह्म का रूप हैं। प्रजाएं ही राजा की अप्रतिम देह हैं—

प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम्।

इन प्रजाओं की रक्षा करने की प्रतिज्ञा करके ही राजा राज्य की वागडोर संभालता। प्रजाओं ने राजाओं से प्रतिज्ञा कराई—

प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व, मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत॥
(शान्तिपर्व ५८।११५)

"मन, कर्म, वचन से प्रतिज्ञा करो कि मैं भौम ब्रह्म (पृथ्वी से सम्वन्धित प्रजारूपी ब्रह्म) का सर्वथा पालन करूंगा।" प्रजा और राष्ट्र

के लिये 'भौम ब्रह्म' यह अत्यन्त मौलिक विशेषण वेदव्यास की राजभाषा में प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः दण्डनीति का सम्यक् परिपालन ही सत-युग है—

दण्डनीत्या यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते।
तदा कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तते॥

(शान्तिपर्व ६९।७)

"धर्मनिष्ठ न्याययुक्त प्रजापालन ही कृतयुग है।" व्यास का यह वाक्य उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कालिदास की यह उक्ति कि धन-धान्य से भरा-पूरा राज्य स्वर्ग है—"ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः।" दोनों के मूल में स्पष्ट ही मानवीय दृष्टिकोण और ऐहलौकिक जीवन की हितकामना है। राजा ही समय को वनाता है—राजा कालस्य कारणम् (शान्तिपर्व ६९।७)। यह वाक्य राज्य शक्ति की दुर्धर्ष सत्ता की ओर हमारा ध्यान खींचता है। राजा के द्वारा जो जन-कल्याण सम्भव है वह अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं। जितने धर्म या जन-जीवन के सूत्र हैं, सवका अन्तर्यामी सूत्र राजधर्म है—

सर्वे धर्माः राजधर्मे निविष्टाः, सर्वे पदा हस्तिपदे निविष्टाः।

हाथी के पांच में सवका पांव है। ऐसे ही राजधर्म में सव धर्मों का अन्तर्भाव है। राजव्यवस्था ढीली पड़ती है तो धर्म-कर्म सव डूव जाते हैं, जाति के ज्ञान और सांस्कृतिक आदर्शों की मर्यादाएं सव अस्त-व्यस्त हो जाती हैं—

मज्जेत् त्रयी दंडनीतौ हतायां, सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धा।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः, क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥

(शान्तिपर्व ६३।२७)

त्याग और संन्यास के समस्त धर्म, सव प्रकार के जीवनव्रत, सेवा-दीक्षाएं, सव विद्याएं और समस्त लोक राजधर्म में पिरोए हुए हैं—

सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः, सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु युक्ताः।

सर्वा विद्या राजधर्मेषु चोक्ता, सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः ॥

(शान्तिपर्व ६३।२६)

इस प्रकार ऐहलौकिक राजधर्म का गौरव भारतीय संस्कृति के मानवीय दृष्टिकोण का आधार मूल अंग है। इस लोक के जीवन का अन्य आधार गृहस्थ आश्रम सब आश्रमों से श्रेष्ठ है और सबका प्रतिपालन करने वाला है—यह मानव धर्मशास्त्र का दृष्टिकोण है। वेद व्यास ने भी मनु के सुर में सुर मिलाते हुए गृहस्थ-आश्रमों की प्रशंसा की है—

सर्वाश्रमपदेऽप्याह गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम्।
पावन पुरुषव्याघ्र यं धर्मं पर्युपासते ॥

(शान्तिपर्व ६६।३५)

सब आश्रमों में गृहस्थ आश्रम का कर्म और संकल्प सबसे अधिक सशक्त और प्रकाशित है। सब लोग उसी पावन गृहस्थ धर्म की उपासना करते हैं। यहां गृहस्थ आश्रम को समाज के लिये पावन कहकर व्यास ने उसे जो महती श्रद्धांजलि अर्पित की है वह अभूतपूर्व है। इसी बुद्धि से वसिष्ठ सदृश ऋषियों ने गृहस्थ धर्म की साधना की थी, इसी प्रज्ञा से जनक सदृश राजर्षियों ने गृहस्थों के मार्ग का जीवन पर्यन्त निर्वाह किया और उसे अपने प्रातिभ ज्ञान एवं औपनिषद अनुभव से अधिक तेजस्वी बनाया। वस्तुतः इन्द्रियनिग्रह, क्या गृहस्थ और क्या विरक्त सभी का महान् कल्याण करनेवाला मार्ग है—

आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रिय निग्रहात्।

(उद्योग० ६६।१७)

इन्द्रिय निग्रह को छोड़ दें, तो आत्मा को ऊंचा उठाने के लिए अन्य कौन सा उपाय हमारे पास रह जाता है ?

भारत के मानवीय दृष्टिकोण में शारीरिक श्रम की महिमा भी सर्वोपरि है। कहा है—

उद्यच्छेदेव न ग्लायेद् उद्यमी ह्येव पौरुषम्।

(मातंग ऋषि का वाक्य)

सदा उद्यम करना चाहिए, कभी निराशा को मन में न आने देना चाहिए। उद्यम ही पुरुष का पुरुषत्व है। जो कर्म करते हैं, उन्हीं को जीवन में जय मिलती है—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते. जयो मे सव्य आहितः ॥

"मेरे दाहिने हाथ में कर्म है, तो बाएं हाथ में जय रक्खी हुई है।"

कर्म का ही दूसरा नाम पाणिवाद है। अर्थात् देव के दिए हुए दस अंगुलियोंवाले हाथों से रगड़कर श्रम करना। इस खेतिहर देश के निवासियों के लिये व्यास ने बहुत सोच-समझकर, पाणिवाद का संदेश दिया था। जिसके पास हाथ हैं, उन्हीं की मैं सराहना करता हूं। तुम भले ही धन की ओर ताका करो, मैं तो इन हाथों की ओर देखता हूं। क्या पाणि-लाभ से भी बढ़कर और कोई लाभ है?

देव के दिए हुए दस अंगुलियोंवाले हाथ ही अर्वाचीन मानव की गर्व-योग्य पूंजी हैं। श्रम से जीवन को प्रतिष्ठित बनाने वाले व्यक्ति का दृष्टि-कोण बदल जाता है। वह अपने किए हुए कर्म का ही फल चाहता है, कर्म की योग्यता द्वारा ही उपार्जित फल का भोग चाहता है, भिक्षा या दूसरे की कृपा को वह अपमान समझता है।

सत्यात्मक वेद का ज्ञान इतना ही है कि जो लाभ हमें हो वह स्वाभि-मान के साथ हो, अप्रतिष्ठा के मार्ग से हम किसी वस्तु की चाह न करें। भिखमंगों का मार्ग या लुटेरों का मार्ग स्वाभिमानी व्यक्ति कभी पसन्द नहीं करते, चाहे उससे कितना ही लाभ क्यों न हो।

"श्रम से अर्जित लाभ" यह दृष्टिकोण कितना अर्वाचीन और सीधा सच्चा है। ययाति जब स्वर्ग के द्वार पर पहुंचे तो देवों ने पूछा—"आपको किस लोक में ले चलें?" ययाति ने मानवीय संतुलन रखते हुए कहा—

अहं तु नाभिगृह्णामि, यत्कृतं न मया पुरा।

(मत्स्यपुराण ४२।२१)

"मैं किसी भी वस्तु को नहीं चाहता जिसके लिये मैंने पहले कर्म न किया हो"। "यथा कर्म तथा लाभ" का नितान्त मानवीय सिद्धान्त यही है।

महापुरुष श्रीकृष्ण

भारतवर्ष के जिन महापुरुषों का मानव जाति के विचारों पर स्थायी प्रभाव पड़ा है, उनमें श्रीकृष्ण का स्थान प्रमुख है। आज से लगभग पांच सहस्र वर्ष पूर्व एक ही समय में दो ऐसे व्यक्तियों का जन्म हुआ, जिनके उदात्त मस्तिष्क की छाप हमारे राष्ट्रीय जीवन पर वहुत गहरी पड़ी है। संयोग से उन दोनों का नाम 'कृष्ण' था। समकालीन इतिहास लेखक ने दोनों में भेद करने के लिए एक को 'द्वैपायन कृष्ण' कहा है, जिन्हें आज सारा देश महर्षि वेदव्यास के नाम से जानता है, और जिनके मस्तिष्क की अप्रतिहत प्रतिभा से आज तक हमारे धार्मिक जीवन और विश्वासों का प्रत्येक अंग प्रभावित है। दूसरे देवकी पुत्र वासुदेव कृष्ण थे, जिन्हें हम अव केवल 'कृष्ण' के नाम से पुकारते हैं। कृष्ण की बाल लीलाओं के मनोरम आख्यान, उनके गीताशास्त्र के महान् उपदेश तथा महाभारत के युद्ध में उनके विविध आर्योचित कर्मों की कथाएं आज घर-घर में प्रचलित हैं। असंख्य मनुष्यों का जीवन आज कृष्ण के आदर्श से प्रभावित होता है। वस्तुतः हमारे साहित्य का एक वड़ा भाग कृष्णचरित्र से अनुप्राणित हुआ है। कृष्ण के जीवन की घटनाएं केवल अतीत इतिहास के जिज्ञासुओं के कुतूहल का विषय नहीं है, वरन् वे धार्मिक जीवन की गतिविधि को नियंत्रित करने के लिए आज भी भारतीय आकाश में चमकते हुए आकाश दीप की तरह सुशोभित और जीवित हैं।

जन्म और बालजीवन

अष्टमी, बुधवार, रोहिणी, इस प्रकार के तिथि वार नक्षत्र योग में आधी रात के समय अपने मामा औग्रसेनि कंस के वन्दीगृह में कृष्ण का जन्म हुआ। इसी एक वात से उस काल के राजनीतिक चक्र का आभास मिल

जाता है। जिस व्यक्ति के जन्म के भय से ही उसके माता-पिता की स्वतंत्रता छीन ली गई थी, क्या आश्चर्य यदि उसके जीवन का अधिकांश समय देश के राजनीतिक कांटों को साफ करने और प्रजा को अत्याचार और उत्पीड़न से मुक्त करने में व्यतीत हुआ हो। उस काल के जो भी उच्छृंखल, लोकपीड़क सत्ताधारी थे, उन सबसे ही एक-एक करके कृष्ण की टक्कर हुई। जिस महापुरुष ने योग-समाधि के आदर्श को लेकर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने का उपदेश दिया हो, जिसका अपना जीवन अविचल ज्ञान-निष्ठा का सर्वोत्तम उदाहरण हो, उसके ही जीवन में कंसनिपात से लेकर यादवों के विनाश तक की कथा अत्यन्त करुण कहानी के रूप में पिरोयी हुई है।

कृष्ण का वालजीवन तो एक काव्य ही है। जन्म से लेकर, अथवा उससे पूर्व ही, उनके संबंध के अतिमानवी चरित्रों का क्रम आरम्भ हो गया था। उनके वृन्दावन छोड़कर मथुरा आने के समय तक ये वाल लीलाएं आकाश में एकत्र होने वाली सुन्दर सुखद मेघमालाओं की भांति नाना वर्ण और रूपों में संचित होती रहीं। विना कहे ही उन्हें हम जानते हैं। हमारे देश के वालवर्ग के लिए तो उन कथाओं की रसमय सामग्री अत्यंत प्रिय वस्तु है। यमुना नदी और उसके समीप के पीलु के विटपों पर लहलहाती हुई लताओं के कुंजों में कृष्ण के वाल चरित्रों की प्रतिध्वनि आज भी जीवित काव्य कथाएं है। यहीं पर उन्होंने उस मल्ल-विद्या का अभ्यास किया, जिसके कारण आगे चलकर मुष्टिक और चाणूर जैसे पहलवान पछाड़े गए। यमुना के कछारों में ही उस संगीत और नृत्य का जन्म हुआ, जो हमारी संस्कृति की एक प्रिय वस्तु है। यहीं गोवंश की वृद्धि और प्रति-पालन के वे प्रयत्न किए गए, जिनका पुनरुद्धार हमारे कृषिप्रधान देश के लिए आज भी प्राप्तव्य आदर्श के रूप में हमारे सामने है।

राजनितिक चरित्र

इन रमणीय वालचरित्रों की सुखदायी भूमिका तैयार करने के वाद

श्रीकृष्ण ने एक दूसरे ही प्रकार के जगत् में प्रवेश किया। उनका वृन्दावन छोड़कर मथुरा में आना उस जगत् का देहली द्वार है। यहां जीवन के कठोर सत्य उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके द्वारा सबसे पहला परिवर्तन शूरसेन जनपद की राजनीति में हुआ। उग्रसेन के पुत्र लोकपीड़क कंस को राज्यच्युत करके कृष्ण ने उग्रसेन को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। इस समय वे और उनके बड़े भाई बलराम दोनों किशोरावस्था में पदार्पण कर चुके थे। यमुना के तट पर प्रकृति के विश्वविद्यालय में स्वच्छन्द वायु और आकाश के साथ मिलकर ग्वाल-बालों के बीच में उन्होंने जीवन की बड़ी तैयारी कर ली थी, परन्तु मस्तिष्क की साधना का अवसर अभी तक उन्हें नहीं मिल सका था। इस कमी का पूरी करने के लिए वे सान्दीपिनि मुनि के गुरुकुल में प्रविष्ट हुए। कुल पुरोहित गर्गाचार्य और अवन्ती के विद्याचार्य सान्दीपिनि इन दो नामों का भगवान् कृष्ण के साथ बड़ा मधुर सम्बन्ध है। अवश्य ही गीता के प्रवक्ता को अपने ज्ञान का प्रथम बीज आर्ष ज्ञान परम्परा की रक्षा करने वाले तपस्वी ब्राह्मणों से प्राप्त हुआ था।

जैसे ही सान्दीपिनि मुनि ने विद्या समाप्त करके कृष्ण को 'सत्यं वद धर्मं चर' वाला अपना अन्तिम उपदेश देकर विदा किया, वैसे ही परिस्थिति ने उसका संबंध हस्तिनापुर की राजनीति से मिला दिया। वसुदेव और उग्रसेन कृष्ण-बलदेव को लेकर कुरुक्षेत्र स्नान के लिए गए हुए थे। वहीं कुन्ती भी पांडवों के साथ आई थीं। बस यहीं कृष्ण और पांडवों के बीच उस घनिष्ठ संबंध का सूत्रपात हुआ, जिसके कारण आज तक हम योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ का एक साथ स्मरण करते हैं। कंसवध के समय ही कृष्ण अपनी राजनीतिक प्रवृत्ति का परिचय दे चुके थे। हस्तिनापुर की राजनीति के साथ संपर्क होने के बाद उस प्रवृत्ति को और भी उत्तेजना मिली। उन्होंने यह अनुभव किया कि इस समय देश में एक बड़ा प्रबल संगठन उन राजाओं का है, जो भारतीय राजनीति की प्राचीन लोकपक्षीय परम्पराओं के विरुद्ध निरंकुश होकर राजशक्ति का प्रयोग करते हैं और जिनके कारण प्रजा में क्षोभ और कष्ट है। कृष्ण का बाल-

जीवन लोक की गोद में पला था। वे स्वयं यादव जाति की अन्धक वृष्णि शाखा के, जो एक गणराज्य (रिपब्लिक) था, सदस्य थे। इसी कारण उनकी सहानुभूति स्वभावतः लोक के साथ थी। जैसे-जैसे कारण उपस्थित होते गए, एक-एक अत्याचारी शासक से उनका संघर्ष हुआ। मगध की राजधानी गिरिव्रज में वली जरासंध का वध कराकर उन्होंने उसके पुत्र जरासंधि सहदेव का अभिषेक किया। महाभारतकार ने लिखा है कि उस समय पृथ्वी पर जरासंध का आतंक था, केवल अन्धक-वृष्णि और कुरुवंशी क्षत्रियों ने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी। इन्हीं दोनों घरानों ने मिलकर उसका अन्त किया। चेदि जनपद में शिशुपाल का एकछत्र शासन था। शिशुपाल दुर्योधन की राजनीति का समर्थक था। दुर्योधन की शक्ति को निर्वल वनाने के लिये जरासंध और शिशुपाल का वध करके माहिष्मती की गद्दी पर उसके पुत्र धृष्टकेतु को वैठाया। नग्नजित् के पुत्रों को हराकर गंधार देश को अनुकूल किया। वलिष्ठ पांड्यराज को मल्लयुद्ध में अपने वक्षःस्थल की टक्कर से चूर कर डाला। सौभ नगर में शाल्वराज को वशीभूत किया। सुदूर पूर्व के प्राग्ज्योतिप दुर्ग में भौम नरक का निरंकुश शासन था, जिसने एक सहस्र कन्याओं को अपने वन्दीगृह में डाल रखा था। उसकी निर्मोचन नामक राजधानी में सेना सहित मुर और नरक का वध करके कामरूप प्रदेश को स्वतंत्र किया। वाणासुर, कलिंगराज और काशिराज इन सवको कृष्ण से लोहा लेना पड़ा और सभी उनके बुद्धि कौशल के आगे परास्त हुए।

कृष्ण की राजनीतिक वुद्धि अद्भुत थी। अर्जुन ने कहा था कि युद्ध न करने पर भी कृष्ण मन से जिसका अभिनन्दन करें वह सब शत्रुओं पर विजयी होगा। 'यदि मुझे वज्रधारी इन्द्र और कृष्ण में से एक को चुनना पड़े, तो मैं कृष्ण को लूंगा।' आर्य विष्णुगुप्त चाणक्य को भी अपनी वुद्धि पर ऐसा ही विश्वास था। कृष्ण का मंत्र अमोघ था। जहाँ कोई युक्ति न हो, वहाँ कृष्ण की युक्ति काम आती थी। धृतराष्ट्र की धारणा थी कि जव तक रथ पर कृष्ण, अर्जुन और अजिज्य गांडीव धनुष, ये तीन तेज एक साथ

हैं, तब तक ग्यारह अक्षौहिणी भारती सेना होने पर भी कौरवों की विजय असम्भव है।

महाभारत का युद्ध भारतीय इतिहास की एक अति दारुण घटना है। इस प्रलयकारी युद्ध में दुर्योधन की ओर से गंधार, वाल्हीक, कम्बोज, केकय, सिन्धु, मद्र, त्रिगर्त (कांगड़ा), सारस्वतगण, मालव, और अंग आदि देशों के क्षत्रिय प्रवृत्त हुए। युधिष्ठिर की ओर से विराट, पंचाल, काशि, चेदि, सृंजय, वृष्णि आदि वंशों के क्षत्रिय युद्ध के लिए आये। ऐसे भयंकर विनाश को रोकने के लिए कृष्ण से जो प्रयत्न हो सकता था, उन्होंने किया। वे पांडवों की ओर से समस्त अधिकार लेकर संधि के लिए हस्तिनापुर गए[1]। वहाँ उन्होंने धृतराष्ट्र की सभा में जो तेजस्वी भाषण दिया, उसकी प्रतिध्वनि आज भी इतिहास में गुंजायमान है—

कुरूणां पांडवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणामेतद्याचितुमागतः॥

अर्थात् कौरवों और पांडवों में वीरों का नाश हुए विना ही शान्ति हो जाय, मैं यही प्रार्थना करने आया हूँ।

धृतराष्ट्र ने कहा—'हे कृष्ण, मैं सब समझता हूँ, पर तुम दुर्योधन को समझा सको तो प्रयत्न करो'।

कृष्ण ने दुर्योधन से कहा—'हे तात, शान्ति से ही तुम्हारा और जगत् का कल्याण होगा' 'शमे शर्म भवत्तात' (उद्योगपर्व १२४, १९)।

---

१ 'भारतीय राजनीति की परिभाषा के अनुसार दूत तीन तरह के होते हैं, एक 'विसृष्टार्थ' जो देशकाल की आवश्यकता के अनुसार अपने उत्तरदायित्व पर राजकार्य को बनाने का सब अधिकार रखते हैं; दूसरे 'संदिष्टार्थ' जो संदेश या उक्त वचन को ले जाकर कहते हैं; और तीसरे 'शासनहर' जो लिखित पत्र या 'शासन' ले जाते हैं। पांडवों ने कृष्ण को प्रथम कोटि का अर्थात् विसृष्टार्थ दूत बना कर भेजा था, जिन्हें उनकी तरफ से अपने ही उत्तरदायित्व पर चाहे जिस प्रकार की संधि या निर्णय करने के सब अधिकार प्राप्त थे।

दुर्योधन ने सब कुछ सुनकर कहा—

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विद्धयेदग्रेण केशव,
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पांडवान् प्रति।

(उद्योग० १२७, २५)

अर्थात् 'हे कृष्ण, सुई की नोक के बराबर भी भूमि पांडवों से लिए मैं नहीं छोड़ सकता।' बस यही युद्ध का अपरिहार्य आह्वान था। दैव की इच्छा के सामने भीष्म और द्रोण जैसे नररत्नों की भी रक्षा न हो सकी।

अन्धक वृष्णि गणराज्य के प्रधान

महाभारत में हमें कृष्ण का परिचय एक विशिष्ट रूप में मिलता है। यादव क्षत्रियों की दो प्रधान शाखाएँ अन्धक और वृष्णिसंज्ञक थीं। कृष्ण वृष्णि वंश के थे। अक्रूर अन्धक थे। वृष्णि गणराज्य की ऐतिहासिक सत्ता का प्रमाण एक प्राचीन सिक्के से प्राप्त होता है, जिस पर 'वृष्णि राजन्यगणस्य त्रातारस्य' इस प्रकार का लेख है। इससे ज्ञात होता है कि विक्रम संवत् के प्रारम्भ तक वृष्णि लोगों का शासन एक गण या संघ के रूप में था। पाणिनि की अष्टाध्यायी और बौद्ध साहित्य में भी अन्धक वृष्णियों का उल्लेख है। महाभारत सभापर्व (अ० ८१) से मालूम होता है कि अन्धक और वृष्णियों का एक सम्मिलित संघराज्य था। इसे श्रीयुत जायसवाल ने उनकी 'फेडरल पार्लमेंट' के नाम से पुकारा है। इस सम्मिलित संघ में वृष्णियों की ओर से कृष्ण और अन्धकों की ओर से बभ्रु उग्रसेन संघ प्रधान चुने गए थे। इसीलिए महाभारत की राजनितिक परिभाषा में कृष्ण को ऐश्वर्य का अर्धभोक्ता राजन्य कहा गया है। संघसभा में राजनीति के चक्र भी चलते रहते थे। वृष्णियों की ओर से संघसभा में आहुक और अन्धकों की ओर से अक्रूर सदस्यों का नेतृत्व करते थे। कभी-कभी दोनों पक्षों से बहुत उग्र भाषण दिए जाते थे। पारस्परिक कलह से खिन्न होकर एक बार कृष्ण भीष्म से परामर्श करने हस्तिनापुर पधारे थे। तब भीष्म ने उनसे यही कहा—'हे कृष्ण, मधुर वचन रूपी एक 'अनायस' शस्त्र है, तुम उसीके प्रयोग से जातियों को वश में करो।

समभूमि पर सब चल सकते हैं, पर विषम भूमि पर बोझा ढोना आसान नहीं। हे कृष्ण, तुम्हारे जैसे प्रधान को पाकर यह गणराज्य नष्ट न होना चाहिए।' हम जानते हैं कि कृष्ण के प्रयत्न करने पर भी अन्त में तीक्ष्ण भाषण के कारण ही यादवों का आपस में लड़कर विनाश हो गया।

सोलह कला का अवतार

कृष्ण को हमारे देश के जीवन-चरित्र-लेखकों ने 'सोलह कला का अवतार' कहा है। इसका तात्पर्य क्या है? यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को नापने के लिए भिन्न-भिन्न परिमाणों का प्रयोग किया जाता है। दूरी के नापने के लिए और नाप है, काल के लिए और है, तथा बोझे के लिए और है। इसी प्रकार मानवी पूर्णता को प्रकट करने के लिए कला की नाप है। सोलह कलाओं से चन्द्रमा का स्वरूप संपूर्ण होता है। मानवी आत्मा का पूर्णतम विकास भी सोलहों कलाओं के द्वारा प्रकट किया जाता है। कृष्ण में सोलह कला की अभिव्यक्ति थी, अर्थात् मनुष्य का मस्तिष्क मानवी विकास का जो पूर्णतम आदर्श बना सकता है, वह हमें कृष्ण में मिलता है। नृत्य, गीत, वादित्र, सौन्दर्य वाग्मिता राजनीति, योग अध्यात्म, ज्ञान, सबका एकत्र समवाय कृष्ण में पाया जाता है। गोदोहन से लेकर राजसूय यज्ञ में ब्राह्मणों के चरण धोने तक तथा सुदामा की मैत्री से लेकर युद्धभूमि में गीता के उपदेश तक उनकी ऊँचाई का एक पैमाना है, जिस पर सूर्य की किरणों को रंग-बिरंगी पेटी (स्पैक्ट्रम) की तरह हमें आत्मिक विकास के हर एक स्वरूप का दर्शन होता है।

कृष्ण के उच्च स्वरूप की पराकाष्ठा हमारे लिए गीता में है। सब उपनिषद् यदि गौएं हैं, तो गीता उनका दूध है। इस देश के विद्वान् किसी ग्रंथ की प्रशंसा में इससे अधिक और क्या कह सकते थे? गीता विश्व का शास्त्र है, उसका प्रभाव मानवजाति के मस्तिष्क पर हमेशा तक रहेगा। संसार में जन्म लेकर हममें से हरएक के सामने कर्म का गम्भीर प्रश्न बना ही रहता है। जीवन कर्ममय है, संसार कर्मभूमि है। गीता उसी कर्मयोग का प्रतिपादक शास्त्र है। कर्म का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है और

किस प्रकार उस सम्वन्ध का निपटारा करने से मनुष्य अपने अन्तिम ध्येय और शान्ति को प्राप्त कर सकता है, इन प्रश्नों की सर्वोत्तम मीमांसा काव्य के ढंग से गीताकार ने की है। अतएव यह ग्रंथ न केवल भारतवर्ष बल्कि विश्व साहित्य की वस्तु है।

कृष्ण भारतवर्ष के लिए एक अमूल्य निधि हैं। उनका हर एक स्वरूप यहाँ के जीवन को अनुप्राणित करता है। जिस युग में इन्द्रप्रस्थ और द्वारका के बीच उनका किंकिणीक रथ वलाहक, मेघपुष्प, शैव्य और सुग्रीव नामक अश्वों के साथ झनझनाता रहता था, न केवल उस समय कृष्ण भारतवर्ष के शिरोमणि महापुरुष थे, बल्कि आज तक वे हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि बने हुए हैं। जिस प्रकार पूर्व और पश्चिमी समुद्रों के बीच के प्रदेश को व्याप्त करके गिरिराज हिमालय पृथ्वी के मानदंड की तरह स्थित है, उसी प्रकार ब्राह्मधर्म और क्षात्रधर्म इन दो मर्यादाओं के बीच की उच्चता को व्याप्त करके श्रीकृष्ण चरित्र पूर्ण मानवी विकास के मानदंड की तरह स्थिर है।

महाभारत में साहित्यिक शैलियां

महाभारत संस्कृत वाङ्मय का एक धुरन्धर ग्रंथ है। प्राचीन इतिहास, धर्म, अध्यात्म, दर्शन, नीति, राजशास्त्र, पुराणोपाख्यान, जीवन-चरित आदि समस्त विषयों के सांगोपांग वर्णन के लिए महाभारत एक अद्भुत खान है। जिन्होंने आद्यंत महाभारत का सावधान-मन से पारायण किया है, वे जानते हैं कि इसके सम्बन्ध में इस प्रकार की प्रतिज्ञा कि जो कुछ महाभारत के अन्तंगत आ गया है, वही बाहर है, और जो विषय इसमें नहीं है वह बाहर भी नहीं मिलता कुछ मिथ्या कल्पना नहीं है। आर्य-जाति के पुरावृत्त-विषयक अनुसंधान के सभी राजमार्ग महाभारत में ही पर्यवसान को प्राप्त होते हुए पाए जायेंगे।

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य एक विशेष दृष्टिकोण को लेकर—अर्थात् महाभारत की साहित्यिक शैलियों की ओर—आपका ध्यान आकर्षित करना है।

महाभारत एक बहुत ही विशाल ग्रंथ है। उस में अठारह पर्व और लगभग एक लक्ष श्लोक हैं। इन पर्वों में से कुछ तो कथा-भाग के विकास के लिए ही प्रधानतया रचे गये हैं, जिनमें विशेष कर युद्ध-सम्बन्धी भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्यपर्व हैं, परन्तु कुछ एक की रचना का सम्बन्ध जय-इतिहास की कथा के सूत्र को अग्रसर करने के साथ नहीं के बराबर है। उनकी रचना का उद्देश्य पुराकालीन भारतीय दर्शन, अध्यात्म, और धर्म के गहनतम तत्त्वों के विवेचन को प्रस्तुत करना था। उद्देश्य-भेद से साहित्यिक शैलियों में भेद होना भी स्वाभाविक है। इसीलिए शांति और अनुशासन पर्वों में जो निरूपण-शैली है वह भीष्म और द्रोण पर्वों की केवल वर्णनात्मक शैली से नितान्त भिन्न है।

महाभारतकार की साहित्यिक प्रतिभा एक शब्द में 'विराट्' कही जा

सकती है। विराट् पुरुष सहस्रशीर्षा और सहस्राक्ष कहा गया है। इस रमणीय वैदिक कल्पना का उपयोग महाभारतकार की प्रतिभा के दिग्दर्शन के लिए भी किया जा सकता है। मनुष्य की विचार-शक्ति महाभारत के गूढ़ प्रस्तरों को चीरती हुई जितनी अधिक उसके भीतर पैठती है, उतना ही अधिक उस पर भारतकार की विश्वतोमुखी प्रतिभा का प्रभाव पड़ता है। कितने अधिक उपायों से भारतकार ने अपने वर्णनों की रोचकता और उपादेयता को बढ़ाया है, इसका अध्ययन साहित्यिक दृष्टि से मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद भी होगा।

पहले तो यह जान लेना चाहिए कि महाभारत के वर्तमान रूप को देखते हुए उस पर पुराण के सब लक्षण घटित होते हैं। यद्यपि महाभारत को प्रारम्भिक किंवदन्ती के अनुसार अद्यावधि इतिहास ही कहा जाता है, तथापि—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च
वंशानुचरितं च पुराणं पंचलक्षणम्।

इस श्लोक में कहे गए पुराण के सब प्रसिद्ध लक्षण वर्तमान महाभारत पर पूर्णतया घटित होते हैं। ज्ञात होता है कि मूल इतिहास-परायण ग्रंथ को पुराण की परिभाषा के अनुसार सुसंस्कृत और परिवर्द्धित किया गया। इसका श्रेय भारतवर्ष की विशेष दार्शनिक प्रतिभा को है जिसके कारण यहाँ सभी प्राचीन ग्रंथों में किसी न किसी अंश तक पुराण का पुट देने का आयोजन किया गया। पुराण बन जाने के कारण ही मानों महाभारत ने प्राचीन काल के समस्त आख्यान, उपाख्यान, गाथा, नाराशंसी और अनुव्याख्यानादिक को आत्मसात् करने के लिए अपना विशाल तोरण-द्वार उन्मुक्त रूप से खोल दिया। यही कारण है कि महाभारत में वैदिक काल के प्रायः सभी प्रधान अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत-परक उपाख्यानों का समावेश हो गया है। उदाहरण के लिए कर्णपर्व (अ० ३३,३४) की त्रिपुरासुर कथा, द्रोणपर्व (अ० २०२) का त्रिपुरवधाख्यान, वनपर्व की (अ० १००-१०१) त्रिपुरवधकथा, वनपर्व की (अ० १२२-१२५) की

च्यवनमुनि कथा, शल्यपर्व का (अ० ३६) त्रित-उपाख्यान इसी कोटि के हैं। विशेष कर आदिपर्व का गरुड़ोपाख्यान जिसमें गरुड़ के स्वर्ग से अपनी माता विनता या सुपर्णी की मुक्ति के लिए अमृत के घट लाने का वर्णन है, एक अत्यन्त प्राचीन वैदिक उपाख्यान का नवीन प्रकार से उपबृंहण है। संहिताओं में तथा ऐतरेय और शतपथादि ब्राह्मणों में महासुपर्ण गायत्री के स्वर्ग से या द्युलोक से अमृत अथवा सोम लाने का बहुत ही तत्त्वगर्भित वर्णन पाया जाता है। 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' की आज्ञा का अनुसरण कर के ही मानों महाभारत के प्रणेता ने उस कथा का अत्यन्त पल्लवित संस्करण आदिपर्व की पक्षिराजगरुड़ की कथा में हमारे सामने रक्खा है। यही महाभारतकार की प्रथम शैली है जिसे हम उपाख्यानशैली के विशिष्ट नाम से पुकार सकते हैं।

(१) उपाख्यान-शैली—इस शैली के अवलम्बन से व्यास जी ने समस्त प्राचीन उपाख्यानों का अपने ग्रंथ में सन्निवेश करके मानव-जाति को सदा के लिए ऋणी बना दिया है। प्राचीन गाथाशास्त्र के प्रेमी सदा इस के लिए उनके कृतज्ञ रहेंगे। नारवे, आइसलैंड आदि उत्तराखण्ड-वर्ती देशों की प्राचीन गाथाओं के विद्वान् आज मुक्तकंठ से सीमंड और उसके पौत्र स्नोरी की प्रतिभा का गुणगान करते हैं जिन्होंने आर्यों के वंशज ट्यूटन कहलाने वाले लोगों की प्राचीन कथाओं का संग्रह ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के लगभग किया। सीमंड ने 'पोएटिक एड्डा' के नाम से सब उपाख्यानों को एकत्र किया, तदनन्तर उसके पौत्र स्नोरी स्टर्लेसान ने जिसका जन्म सन् ११७९-११८१ के बीच हुआ और जो पीछे से आइसलैंड का प्रेसीडेंट भी बन गया था, उन सब कथाओं का गद्य-रूप में एक अत्ययंत उत्कृष्ट संस्करण तैयार किया। आज यही बात हम व्यास-शुक-रोमहर्षणि के लिए भी कह सकते हैं जिन्होंने सीमंड और स्नोरी से सहस्रों वर्ष पहले आर्यों के विराट् गाथा-वाङ्मय को अपने काव्य के साथ गूँथ कर उसे सदा के लिए अमर कर दिया। इसी कारण महाभारत वेद और पुराणों के उपाख्यानों का अक्षय भंडार बना हुआ है। 'एड्डा' और 'सागाओं' के लिए प्रख्यात

लेखक कारलाइल ने लिखा है कि यह इतनी महान् कृतियाँ हैं कि उन्हें किंचित् स्वल्प कर देने पर शेक्सपियर, दांते, गेटे वन वन जायेंगे।

शेक्सपियर, दांते और गेटे के स्थान पर भास, कालिदास, माघ, भारवि और हर्ष का नाम रख देने से ये ही उद्गार ठीक वेद-व्यास जी के लिए घटित होते हैं। महाभारत के शाकुंतलोपाख्यान, पुरूरवाख्यान, इसके उदाहरण हैं। उपाख्यान शैली के ही अवांतर भेद-रूप से हम उन उपाख्यानों को ले सकते हैं जिनका सम्बन्ध वैदिक साहित्य से तो न था, पर जिनकी परम्परा प्राचीन जनश्रुति में वहुत पुरानी थी। जैसे सावित्री-सत्यवान्, नलदमयन्ती, कच-देवयानी और विदुला की (उद्योग० १३३ अ०) कथाएँ जिनके सौंदर्य से मुग्ध होकर महाभारतकार ने हर्षपूर्वक उनका स्वागत किया। वनपर्व का रामचरित (अ० २७४–२९१) और सगर-चरित (१०६–१०९ अ०) भी इसी कोटि के हैं।

(२) गल्प-शैली—महाभारतकार की गल्प-शैली का अध्ययन भी विशेष उपादेय है। हमारी सम्मति में महाभारतकार संसार के सव से उत्कृष्ट गल्पकार हैं। वेद-व्यास की लिखी हुई गल्पों में जितनी प्राणशक्ति और अमरता है उतनी सम्भवतः अन्य किसी गल्प-लेखक की कृतियों में नहीं मिल सकती। 'अत्राप्युदाहरंतीममितिहासं पुरानतम्' का उपक्रम करके सैकड़ों की संख्या में अत्यन्त ओजस्वी गल्पों की सृष्टि की गई है। यह निस्संदेह कहा जा सकता है, कि विश्व के गल्प-साहित्य में नकुलोपाख्यान जैसी उदात्त या प्रथम श्रेणी की गल्पें विरले ही मिल सकती हैं। हम कह सकते हैं संभवतः नहीं हैं। प्रथम तो मानव-हृदय की धर्मिष्ठ और न्याय अभिलाषाओं द्वारा वैभव और ऐश्वर्य की अर्चना की गई, फिर उससे भी ऊपर उठकर सर्वस्वदक्षिण यज्ञ द्वारा युधिष्ठिर ने बची-खुची मानवता ने छोड़कर दिव्यभाव की प्राप्ति अश्वमेध के अवभृथ स्नान में की। परन्तु वेद-व्यास की प्रतिभा आदर्श की खोज में उसका भी मर्षण नहीं कर सकी। युधिष्ठिर के दान की स्तुति करते हुए ऋषियों और ब्राह्मणों की बुद्धि पर

पड़े हुए मोह-पाश को पानी की काई की तरह नकुलोपाख्यान द्वारा उन्होंने ध्वस्त कर दिया। जिस आदर्श की उपासना में सहस्रों ऋषियों ने अपनी हड्डियां गला दी थीं, उसी की रक्षा करके वेद-व्यास जी ने अपनी लेखनी को कृतकृत्य समझा। उन्होंने सोचा कि यदि ब्राह्मण भी धर्म की गरिमा को सुवर्ण के बट्टों से तोलने की भूल करने लगेंगे तो फिर धर्म-प्रतिष्ठा के युगमंडित स्तम्भ चलायमान हो उठेंगे। परन्तु जब तक ब्राह्म-तेज अक्षुण्ण है तब तक ऐसा नहीं हो सकता। इस वित्त-मोह वाली कीचड़ से पार उतरने का सेतु ही नकुलोपाख्यान का उपदेश है। महाभारत की अनेकानेक उत्तम गल्पों का रसास्वादन तो उनका पृथक् संग्रह करने से ही प्राप्त हो सकता है। शांतिपर्व के १३७ वें अध्याय में अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्न-मति और दीर्घ-सूत्री इन तीन मछलियों की कहानी और अध्याय १३८ में वर्णित बिडील-मूषिक-संवाद की कहानियां उस श्रेणी की हैं जिससे भारत-वर्ष के विशाल कहानी-साहित्य का विकास हुआ है। पाली जातक, पंच-तंत्रादि कथा-ग्रंथों के प्रारम्भिक रूप यहीं देखने को मिलते हैं। शान्तिपर्व अध्याय १३९ में पूजनी चिड़िया और ब्रह्मदत्त राजा की कहानी राजनीति-शास्त्र के स्थायी दृष्टांतों में से है। शान्तिपर्व अध्याय १७७ में वर्णित मंकि मुनि और उनके दो बैलों की कथा जितनी छोटी है उतनी ही अधिक मर्मस्पर्शी है। विपरीत भाग्य को बहोरने के लिए अपना सर्वस्व बेच कर मंकि ऋषि ने दो बैल मोल लिए, उनको लेकर जब वे खेती करने चले तब सड़क पर बैठे हुए ऊंट को देखकर बैल बिदक कर भागे। ऊंट भी उनसे भड़क कर रस्से में बंधे हुए उन दोनों को अपनी गर्दन में टांग कर उछालता हुआ भागा, तब दुखित और कातर होकर मंकि ने पुकारा—

मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।

इस उक्ति की करुणा केवल अनुभवगम्य है। यह कहानी एक असाधारण साहित्यिक की असाधारण कृति है। स्वल्पाक्षरों में ही दैव और पौरुष के बलाबल का मर्मवेधी चित्र खींच दिया गया है। मंकि रोकर पुकार उठते हैं—

शुद्धं हि दैवमेवेदं हठे नैवास्ति पौरुषम् । शांति० १७७।२८

अर्थात् यह दैव का खेल है, हठवश किया हुआ पौरुष कुछ काम नहीं देता ।

(३) दर्शन और अध्यात्म के निरूपण की संवादात्मक शैली—इस का प्रसिद्ध उदाहरण भगवद्गीता (भीष्मपर्व) है । अश्वमेधपर्व का गुरु-शिष्य-संवाद या अनुगीतापर्व (अश्वमेध० अ० १६ से ५१ तक) भी इसका उत्तम उदाहरण है । भगवद्गीता का संग्राम-भूमि में उपदेश हुआ । अनुगीता इंद्रप्रस्थ में विहार करते हुए कृष्णार्जुन के संवाद का संग्रह है। पहली का निश्चित लक्ष्य है, वह सुसंग्रथित है । दूसरी का उद्देश्य कालयापन है, इसीलिए उसकी शैली शिथिल है । अर्जुन ने स्वयं कहा कि पहले आपने मुझसे जो सब कहा था वे सब विषय चित्तभ्रंश होने के कारण मुझे भूल गए, उन्हें फिर सुनाइए । पर फिर वह बात कहां ! कृष्ण ने अत्यंत शोक प्रकट करते हुए कहा, "तुमने अज्ञान से जो मेरे कहे हुए वचनों को ग्रहण नहीं किया, वह मुझे बहुत अप्रिय लगा है, क्योंकि आज मेरी वह स्मृति फिर प्रकट न हो सकेगी। आज तो पुरातन इतिहास मैं तुमको सुनाता हूं ।" वह इतिहास ही अनुगीता है । परन्तु अध्यात्म-ज्ञान की दृष्टि से यह अनुगीता भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । इसमें ब्राह्मण अर्थात् मन और ब्राह्मणी-अर्थात् बुद्धि के संवाद-रूप में वाक् और मन का संवाद, पंच-प्राणों का संवाद, दश-प्राणों या इंद्रियों का संवाद, सप्त-प्राणों का संवाद आदि अत्यन्त रोचक रीति से वैदिक प्राणविद्या का उपबृंहण और अध्यात्म-शास्त्र के अन्य अनेक तत्त्वों का विवेचन है । इन वर्णनों में बहुत ही सरस साहित्यिक पुट पाया जाता है ।

दार्शनिक विवेचन के विशेष रूप में लिखा हुआ एक प्रकरण सनत्सुजातीय है जो सनत्सुजात ऋषि और धृतराष्ट्र के संवाद-रूप में है (उद्योग० अ० ४२ से ४६ तक)। इस प्रकरण की महिमा इसी से जानी जा सकती है कि इस पर भगवद्गीता की तरह ही शंकराचार्य ने भाष्य लिखा है, और महाभारत के टीकाकार नीलकंठ ने भी इस पर स्वतन्त्र ग्रंथ की तरह बहुत

विस्तृत टीका लिखी है। इसमें संदेह नहीं कि सनत्सुजायीय के १९२ श्लोक महाभारतकार ने अत्युच्च अध्यात्म-भूमिका में पहुँच कर लिखे होंगे। उनको समझने के लिए जिनकी तैयारी है, उन्हें उनमें अद्भुत रस की प्रतीति होगी। इस शैली के अन्तर्गत तत्त्ववेत्ताओं के विवाद द्वारा तत्वनिरूपण की शैली हैं। यह प्रथा प्राचीन भारतवर्ष में बहुत प्रचलित थी कि दो या कई ज्ञानी एक दूसरे के साथ ब्रह्मचर्चा करते हुए अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। जनक के बहुदक्षिण यज्ञ में याज्ञवल्क्य और आठ विद्वानों का—जिनमें गार्गी भी सम्मिलित थी—प्रश्नोत्तर इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। महाभारत में जनक और ब्रह्मवादिनी सुलभा का जोरदार विवाद इसका बहुत अच्छा उदाहरण है (शांतिपर्व अ० ३२०)। जनक और सुलभा जैसे ऊर्जित मस्तिष्क जब टकराते हैं तब जो चमक होनी चाहिए, वही इस प्रसंग में पाई जाती है।

यह भी स्मरण रखने योग्य है कि कुल शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व की रचना ही भीष्म और युधिष्ठिर के संवाद का फल है। ज्ञात होता है कि महाभारतकार को संवादपरक शैली सबसे अधिक प्रिय थी।

(४) प्रश्नोत्तर की शैली—यह भी संवादात्मक शैली का ही एक भेद है पर इसके महत्त्व के कारण इसकी सत्ता स्वतन्त्र मानी जा सकती है। संवाद में व्याख्यान की भाँति कथनोपकथन रहते हैं। पर प्रश्न और उत्तर की रीति में संक्षेप से ही प्रश्नोत्तर का क्रम चलता है। महाभारत में इसके सर्वोत्तम उदाहरण दो हैं—एक युधिष्ठिर और अजगर का संवाद (वनपर्व, अ० १८०–१८१), और दूसरा युधिष्ठिर और यक्ष के प्रश्नोत्तर (वनपर्व, अ० ३१३)।

(५) केवल प्रश्नात्मक शैली—पहली शैली और इसमें यह भेद है कि उसमें प्रश्न उत्तर-सापेक्ष रहता है, और इसमें प्रश्न उत्तर की अनपेक्षा करके अपने शुद्ध रूप में रहता है। महाभारत के अतिरिक्त अन्यत्र बहुत ही कम इसके उदाहरण मिलते हैं। महाभारत के सभापर्व में नारद ने युधिष्ठिर से राजनीति का निचोड़ लेकर उनके राज्य की सर्वांगीण कुशल

जानने के लिए जो प्रश्न किए हैं वे इसके उदाहरण हैं। उस अध्याय का नाम 'नारदप्रश्नमुखेन राजधर्मानुशासन' है (सभापर्व, अ० ५)। इस शैली का साहित्यिक विकास अत्यन्त आवश्यक है।

(६) नीतिग्रंथ कथन—संस्कृत साहित्य में चाणक्य-नीति, कामंदकीय-नीति, शुक्रनीति, आदि ग्रंथों द्वारा नीति कहने की एक विशेष परिपाटी रही है। इन सबका प्रारंभ महाभारतांतर्गत उद्योगपर्व के विदुरनीति ग्रंथ (अ० ३३–४०) से माना जा सकता है। वस्तुतः भर्तृहरि आदि के नीतिशतक भी इसी परिपाटी के अन्तर्गत हैं। शतक-रचना का भाव भी इसी प्रकार से उत्पन्न हुआ। शतकों में नीति का संग्रह ही रहता था; हाँ नीतिविषयक श्लोकों के स्थान पर शृंगारात्मक श्लोकों के शतक भी प्रचलित हुए।

(७) स्तोत्र या स्तुति द्वारा अभिधेय अर्थ को प्रकट करना–कालांतर के संस्कृत और भाषा साहित्य में भी स्तोत्रों का यथेष्ट प्रचार पाया जाता है। भागवत तथा रामचरितमानस दोनों में ही स्तुतियों के पारायण की शैली पाई जाती है, पर इस का सबसे से अधिक साहित्यिक और परिष्कृत रूप महाभारत में ही देखा जाता है। कुछ उदाहरण ये हैं—नारदकृत महापुरुषस्तव (शांतिपर्व, अ० ३३८); युधिष्ठिरकृत कृष्ण-नामस्तुति (शांति०, अ० ४३); भीष्म-प्रोक्त भगवन्माहात्म्य (अनुशासन० अ० १५८) : व्यासोक्त शतरुद्रिय (अनुशासन० अ० १६१); भगवन्नामनिरुक्ति (शान्ति० अ० ३४१)। पर साहित्यिक दृष्टि से इन सबसे विशिष्ट स्तोत्र भीष्मकृत कृष्णस्तवराज है (शान्तिपर्व, अ० ४७)। यह भीष्म जी का अन्त समय का भगवत्स्मरण है, और इसमें निस्संदेह व्यास जी की लेखनी की पूरी चमक देख पड़ती है। इसके कुछ असामान्य श्लोक ये हैं—

महतस्तमसः पारे पुरुषं हतितेजसम्।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः॥
यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे।
यं विप्रसंघाः गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः॥

यः सुपर्णो यजुर्नाम छन्दो गात्रस्त्रिवृच्छिराः ।
रथन्तरं बृहत्साम तस्मै स्तोत्रात्मने नमः ॥
यः सहस्रसमं सत्रे जज्ञे विश्वसृजामृषिः ।
हिरण्यपक्षः शकुनिस्तस्मै हंसात्मने नमः ॥

इसी शैली पर उसमें लगभग पचास श्लोक हैं। ऊपर दिया हुआ सुवर्णपक्ष हंसात्मा वाला श्लोक तो बहुत ही चमत्कार से भरा है। यह प्रसंग शुद्ध वैदिक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण और तांड्य महाब्राह्मण के अन्त में विराट् सृष्टि-यज्ञ का वर्णन है जिसे विश्वसृज-यज्ञ भी कहा है। यह यज्ञ सहस्रसंवत्सर अर्थात् अनन्त अपरिमित काल तक होता रहता है। उसीका अत्यन्त हृदयग्राही सार वेदव्यास जी के श्लोक में दिया हुआ है।

महाभारत के शिवसहस्रनाम (शान्ति० अ० २८४) तथा सूर्यसहस्रनाम आदि प्रसंगों को भी हम स्तोत्र-शैली के ही अन्तर्गत समझते हैं। संस्कृत साहित्य के विकास के साथ सहस्रनामों का भी खूब प्रचार हुआ। इन सहस्रनामों को ध्यान से देखने पर मालूम होता है कि इनमें आधे नाम प्रायः वैदिक-कालीन मिलते हैं। दूसरे इनमें परस्पर के नामों में समानता भी बहुत है। शिव, विष्णु, गोपाल, सूर्य इनके सहस्र नामों के अनेक नाम एक से ही हैं। इससे यह प्रगट होता है कि ये सहस्त्रनामस्तोत्र वैदिक समय के 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदंति' (ऋग्वेद अस्यवामीयसूक्त १।१६४) के ही विकास मात्र हैं। अर्थात् 'बहुधावदंति' के व्याख्यान-स्वरूप हैं।

ऊपर हमने संक्षेप से ही महाभारत की प्रमुख साहित्यिक शैलियों का निर्देश किया है। जैसा हम कह चुके हैं महाभारत एक विशाल महासमुद्र है। उसमें अनन्त विचित्रताएं हैं। उसका पारायण करते हुए पद-पद पर विलक्षण साहित्यिक प्रतिभा का परिचय मिलता है। उस सब के विस्तृत ज्ञान के लिए महाभारत से साक्षात् परिचय बढ़ाना चाहिए। पर ऊपर गिनाई हुई साहित्य की परिपाटियां ऐसी हैं जिनको लेकर अब भी किसी साहित्य में बहुत कुछ वैचित्र्य-युक्त तथा रोचक और सरस साहित्य-रचना की जा सकती है। आशा है इस पर और अधिक विचार किया जा सकेगा।

